

BAPA(N)- 202

राज्य एवं जिला प्रशासन

STATE AND DISTRICT ADMINISTRATION



उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय-हल्द्वानी

फोन नं. 05946 – 261122, 261123

टॉल फ्री नं.18001804025

ई – मेल info@uou.ac.in

<http://uou.ac.in>

अध्ययन मंडल

प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्याशाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रोफेसर अल्का धमेजा, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रोफेसर उमा मैदुरी, लोक प्रशासन विभाग इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली	प्रोफेसर बी० अरूण कुमार, लोक प्रशासन विभाग वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान
डॉ० घनश्याम जोशी, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री सुमित सिंह, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
श्री शुभांकर शुक्ला, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	श्री प्रमोद चन्याल, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन डॉ० घनश्याम जोशी(असिस्टेंट प्रोफेसर) कार्यक्रम समन्वयक, लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	

इकाई लेखक	इकाई संख्या
डा० जाकिर हुसैन 181, चैसवानी टोला, ओल्ड सिटी, बरेली, यू० पी०	1, 2, 3, 4
डा० भुवन, सहायक अध्यापक राजकीय महाविद्यालय कोटाबाग, नैनीताल	5
डॉ० सूर्यभान सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	6
डॉ० संतोष सिंह, राजनीति विज्ञान विभाग राजकीय महिला महाविद्यालय, खानपुर, हरिद्वार	7
डॉ० संतोष सिंह, राजनीति विज्ञान विभाग चौरी बेलहा महाविद्यालय, तरवा, आजमगढ़, उत्तर प्रदेश	8, 9, 10, 11, 15, 16, 17
डॉ० घनश्याम जोशी, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	12, 14
डॉ० शशि सौरभ, राजनीति विज्ञान विभाग, डॉ० शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय, लखनऊ	13

प्रकाशन वर्ष- 2025

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन- निदेशालय अध्ययन एवं प्रकाशन, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

अनुक्रम

खण्ड- 1 राज्य प्रशासन		
1	राज्यपाल, मुख्यमंत्री	1 – 10
2	राज्य सचिवालय, मुख्य सचिव	11 – 20
3	राज्य योजना आयोग	21 – 28
4	राज्य लोक सेवा आयोग	29 – 35
खण्ड- 2 राज्य के विभाग एवं जिला प्रशासन		
5	गृह विभाग, वित्त विभाग, आपदा विभाग उत्तराखण्ड राज्य के सन्दर्भ में	36 – 45
6	स्वतंत्रता पश्चात जिला प्रशासन, जिला अधिकारी	46 – 52
खण्ड- 3 स्थानीय शासन-पंचायत		
7	स्थानीय शासन- परिचय, भूमिका, महत्व	53 – 60
8	बलवंत राय मेहता समिति, प्रतिवेदन एवं त्रिस्तरीय व्यवस्था	61 – 71
9	ग्राम पंचायत	72 – 84
10	क्षेत्र पंचायत	85 – 98
11	जिला पंचायत	99 – 112
12	पंचायतती राज तथा 73वां संविधान संशोधन	113- 123
खण्ड- 4 नगरीय शासन		
13	नगरीय शासन का विकास	124 – 135
14	74वां संविधान संशोधन एवं नगरीय शासन का आधुनिक परिप्रेक्ष्य	136 – 143
15	नगर निगम	144 – 154
16	नगर पालिका	155 – 165
17	छावनी परिषद और औद्योगिक नगर	166 – 174

इकाई-1 राज्यपाल और मुख्यमंत्री

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 राज्यपाल

1.2.1 राज्यपाल का कार्यकाल

1.2.2 राज्यपाल की शक्तियाँ और कार्य

1.2.2.1 कार्यकारिणी शक्तियाँ

1.2.2.2 विधायनी शक्तियाँ

1.2.2.3 अध्यादेश जारी करने की शक्तियाँ

1.2.2.4 न्यायिक शक्तियाँ

1.2.2.5 आपातकालीन शक्तियाँ

1.2.2.6 विवेकाधीन शक्तियाँ

1.2.3 राज्यपाल और मुख्यमंत्री के सम्बन्ध

1.2.4 राज्यपाल की वास्तविक स्थिति

1.2.5 राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति

1.3 मुख्यमंत्री

1.3.1 मुख्यमंत्री की शक्तियाँ

1.3.2 मुख्यमंत्री के कार्य

1.3.3 मंत्रीपरिषद और व्यवस्थापिका

1.3.4 मुख्यमंत्री का अपना व्यक्तित्व

1.4 राज्यपाल और मुख्यमंत्री

1.5 सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

भारत में जम्मू और कश्मीर राज्य को छोड़कर सभी राज्यों में शासन की वही पद्धति है, जो केन्द्रीय स्तर पर मान्य है। दूसरे शब्दों में सभी राज्यों में संसदीय व्यवस्था है। प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका का एक प्रमुख है, जिसे राज्यपाल कहा जाता है। साथ में एक मन्त्रिपरिषद है, जिसका प्रमुख मुख्यमंत्री है जो राज्यपाल की सहायता करता है तथा परामर्श देता है। मन्त्रिपरिषद राज्य की विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है।

राज्य का प्रशासन राज्यपाल के नाम से चलता है। राज्य की कार्यकारिणी शक्तियाँ राज्यपाल में निहित हैं। आमतौर पर एक राज्य का एक राज्यपाल होता है, लेकिन कभी-कभी दो राज्यों का भी एक राज्यपाल होता है। यह व्यवस्था सन् 1956 में की गयी थी।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति को समझ पायेंगे।
- राज्यपाल की शक्तियों और कार्यों की जानकारी ले सकेंगे।
- राज्यपाल और मुख्यमंत्री के सम्बन्धों को जान सकेंगे।
- मुख्यमंत्री के कार्य एवं शक्तियों को समझ सकेंगे।
- राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच के सम्बन्धों को समझ सकेंगे।

1.2 राज्यपाल

संविधान के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है। केवल भारत का ऐसा नागरिक जो 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, राज्यपाल के पद पर नियुक्त हो सकता है। संविधान राज्यपाल की नियुक्ति के लिए कोई निश्चित योग्यता तय नहीं करता है। लेकिन साधारणतया विशिष्ट लोग इस पर नियुक्त किये जाते हैं। इसमें अवकाश प्राप्त राजनीतिक, सेना के पदाधिकारी, सेवी वर्ग के अधिकारी, प्रसिद्ध शिक्षाविद् इत्यादि होते हैं।

1.2.1 राज्यपाल का कार्यकाल

साधारणतया एक राज्यपाल पांच वर्ष के लिए नियुक्त होता है। वह राष्ट्रपति की मर्जी तक बना रहता है। अतः एक राज्यपाल पांच वर्ष से पूर्व राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है। राज्यपाल यदि स्वयं चाहे तो राष्ट्रपति को अपना त्यागपत्र दे सकता है।

महाभियोग के द्वारा राज्यपाल को हटाने का कोई प्रावधान नहीं है और न ही उसको हटाने में व्यवस्थापिका या न्यायपालिका की कोई भूमिका है।

राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल को उसके पद से हटाने की कोई संवैधानिक व्यवस्था नहीं है। लेकिन पद के दुरुपयोग, भ्रष्टाचार, पक्षपात पूर्ण व्यवहार, संविधान के उल्लंघन, नैतिक पतन आदि के आधार पर राज्यपाल को हटाया जा सकता है। व्यवहार में यह देखा गया है कि केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के साथ राज्यों के राज्यपाल भी बदल दिये जाते हैं।

एक राज्यपाल अनेक बार राज्यपाल हो सकता है।

1.2.2 राज्यपाल की शक्तियाँ और कार्य

संवैधानिक रूप से राज्यपाल की अनेक शक्तियाँ हैं, जिनमें कार्यकारिणी विधायनी तथा न्यायिक प्रमुख हैं। परन्तु यहाँ याद रखना होगा कि व्यवहार में राज्यपाल की यह शक्तियाँ नाम मात्र की हैं। संक्षेप में इनका वर्णन इस प्रकार है-

1.2.2.1 कार्यकारिणी शक्तियाँ

राज्यपाल की निम्नलिखित कार्यकारिणी शक्तियाँ हैं-

1. राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है और उसके परामर्श से मन्त्रिपरिषद के अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है।
2. महाधिवक्ता तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा होती है।
3. राज्यपाल की मर्जी तक महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) अपने पद पर बना रह सकता है। वह राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों को बर्खास्त कर सकता है, लेकिन पदच्युत नहीं कर सकता।

4. यद्यपि राज्यपाल को उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त करने का अधिकार नहीं है, लेकिन राष्ट्रपति इन न्यायाधीशों को राज्यपाल के परामर्श से नियुक्त करता है।
5. यदि राज्यपाल सन्तुष्ट हो कि एंग्लो इण्डियन सम्प्रदाय का कोई सदस्य यथावत् निर्वाचित नहीं हो सकता, तो विधानसभा के लिए एक एंग्लो इण्डियन को मनोनीत कर सकता है।
6. यदि राज्य में विधान परिषद है तो राज्यपाल को विधान परिषद के 1/6 सदस्यों को नामित करने का अधिकार है। परन्तु ऐसे सदस्य साहित्य, कला, विज्ञान, समाजसेवा और सहकारिता आन्दोलन के क्षेत्र में ख्यातिप्राप्त व्यक्ति हो।

1.2.2.2 विधायनी शक्तियाँ

राज्यपाल की विधायनी शक्तियाँ निम्नांकित हैं-

1. राज्यपाल राज्य व्यवस्थापिका का एक अंग है। वह सदन का सत्र बुलाता है अथवा व्यवस्थापिका के किसी भी सदन के सत्र को स्थगित कर सकता है। वह सम्पूर्ण विधानसभा को भी भंग कर सकता है।
2. राज्यपाल को विधानसभा और विधानपरिषद के सत्रों को अलग अथवा संयुक्त रूप से सम्बोधित करने का अधिकार है। वह दोनों सदनों को संदेश भी भेज सकता है।
3. राज्यपाल राज्य व्यवस्था के सामने वार्षिक वित्त लेखा-जोखा (बजट) प्रस्तुत करने की संस्तुति देता है। राज्यपाल की संस्तुति के बिना वित्त विधेयक विधानसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।
4. राज्य व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत विधेयक तब तक कानून नहीं बन सकते, जब तक कि राज्यपाल की अनुमति न मिले। जब एक विधेयक राज्यपाल के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो वह-
 - विधेयक को अपनी संस्तुति प्रदान कर सकता है और विधेयक कानून बन जाता है।
 - या वह विधेयक पर अपनी संस्तुति रोक सकता है और विधेयक कानून नहीं बनता।
 - या वित्त विधेयक को छोड़कर साधारण विधेयक को राज्य व्यवस्थापिका के पास पुनर्विचार के लिए वापस भेज देता है। यदि पुनर्विचार के बाद व्यवस्थापिका विधेयक को राज्यपाल के पास भेजती है तो वे विधेयक पर संस्तुति देने के लिए बाध्य हैं।
 - वह विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर लेता है। ऐसा विधेयक तब ही कानून होगा, जब राष्ट्रपति अपनी संस्तुति प्रदान करेंगे।

1.2.2.3 अध्यादेश जारी करने की शक्तियाँ

यदि व्यवस्थापिका के सदन सत्र में नहीं है और किसी विषय पर कानून बनाने की तुरन्त आवश्यकता है, इस सन्दर्भ में राज्यपाल एक अध्यादेश जारी कर सकता है। इस अध्यादेश का वही प्रभाव और दर्जा होगा जो व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कानून का होता है। राज्यपाल उन्हीं विषयों पर अध्यादेश जारी करता है जो राज्य सूची या समवर्ती सूची में निहित हैं।

अध्यादेश जारी करने की शक्ति राज्यपाल के औचित्य या स्वतंत्र निर्णय लेने की शक्ति नहीं है। वह मन्त्रिपरिषद की सलाह पर ही अध्यादेश जारी करता है।

निम्न मामलों पर राज्यपाल तब तक अध्यादेश जारी नहीं कर सकता जब तक पहले से उस पर राष्ट्रपति की अनुमति न हो-

- ऐसा विषय जिससे सम्बन्धित विधेयक को राज्य व्यवस्थापिका में प्रस्तुतिकरण से पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता हो: या

- राज्यपाल ऐसे विषय से सम्बन्धित विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता महसूस करता हो।
- राज्यपाल द्वारा जारी अध्यादेश राज्य व्यवस्थापिका के सम्मुख तब रखना अनिवार्य होता है, जब उसका सत्र आरम्भ होता है और यदि 6 सप्ताह के भीतर वह अध्यादेश व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत नहीं किया जाता है, तो वह समाप्त हो जाता है। यदि ऐसा अध्यादेश व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत हो जाता है तो कानून बन जाता है।

1.2.2.4 न्यायिक शक्तियाँ

राज्यपाल की न्यायिक शक्तियों का सम्बन्ध ऐसे कानून से है, जिनका उल्लंघन कार्यपालिका अर्थात् मंत्रीमंडल करता है। वह कानूनों का रखवाला है। राज्यपाल कठोर दण्ड को हल्के दण्ड में (कम्यूटेशन) बदल सकता है, सजा को माफ (रेमीशन) कर सकता है, वह सजा पाये व्यक्ति को राहत (रेस्पाइट) दे सकता है। लेकिन राज्यपाल का क्षमादान का अधिकार मृत्युदण्ड से सम्बन्धित नहीं है।

1.2.2.5 आपातकालीन शक्तियाँ

यदि राज्यपाल सन्तुष्ट है कि राज्य का शासन संविधान के प्रावधानों के अनुसार नहीं चल रहा है तो संविधान के अनुच्छेद- 356 के तहत राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर सकता है। जैसे ही राष्ट्रपति शासन राज्य में लागू होता है, राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल राज्य का प्रशासन संभाल लेता है। परन्तु राज्यपाल की यह शक्ति बड़ी विवादास्पद रही है। उस पर आरोप लगता रहता है कि वह अक्सर अपने औचित्य का गलत प्रयोग करता है।

1.2.2.6 विवेकाधीन शक्तियाँ

राज्यपाल को विवेकाधीन शक्तियाँ प्रयोग करने का अधिकार है। ऐसी शक्तियाँ न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर हैं। इस सम्बन्ध में राज्यपाल को यह भी स्वतन्त्रता है कि वह तय करे कि उसे किस मामले पर विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग करना है और इस बारे में उसका निर्णय अंतिम है।

कुछ ऐसी शक्तियाँ जिनके प्रयोग के लिए राज्यपाल मन्त्रिपरिषद से परामर्श के लिए बाध्य नहीं है। सम्भव है उसका ऐसा कदम मन्त्रिपरिषद की इच्छा के विरुद्ध हो। उदाहरण के लिए-

- जब राज्यपाल अनुच्छेद- 356 के तहत राष्ट्रपति को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सलाह दे।
- राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल को अपनी विवेकाधीन शक्तियों के प्रयोग का अवसर मिलता है।
- राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करके यह तय करता है कि राज्य व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत किस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए आरक्षित रखा जाये।

कुछ राज्यपालों के पास अपने राज्यों से सम्बन्धित विशिष्ट उत्तरदायित्व भी हैं। इन राज्यों में नागालैण्ड, मणिपुर, आसाम, गुजरात और सिक्किम के राज्यपाल आते हैं।

1.2.3 राज्यपाल और मुख्यमंत्री के सम्बन्ध

विधानसभा में बहुसंख्यक दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल अन्य मंत्रियों को नियुक्त करता है। यदि मन्त्रिपरिषद विधान का विश्वास खो देती है तो राज्यपाल मन्त्रिपरिषद को बर्खास्त कर सकता है।

राज्यपाल द्वारा मुख्यमन्त्री को नियुक्त करने की तथा मन्त्रिपरिषद को बर्खास्त की शक्ति समय-समय पर विवादास्पद रही है। ऐसी स्थिति तब आती है जब विधानसभा में चुनाव के बाद बहुमत स्पष्ट न हो अथवा किसी समय विधानसभा में शासक दल में टूट-फूट हो और बहुमत स्पष्ट न हो, तब राज्यपाल अपने विवेक से काम लेता है। परन्तु उसका यह विवेक परिस्थितियों के अनुसार होता है, क्योंकि वह केन्द्र के प्रति वफादार होता है। इसलिए ऐसी स्थिति में जब राज्य और केन्द्र में दो विपरीत दलों की सरकारें हों, तब वह केन्द्र के हितों को ध्यान में रखकर विवेक का प्रयोग करता है, जो किसी भी स्थिति में विवेकपूर्ण नहीं होता। ऐसी स्थिति में पीड़ित दल न्यायालय की शरण लेता है और कई बार राज्यपाल के पक्षपातपूर्ण रवैये की कड़ी आलोचना भी हुई है।

राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के मध्य टकराव का एक बड़ा कारण संविधान का अनुच्छेद- 356 है। केन्द्र में सत्ताधारी दल सदा ही राज्यों की ऐसी सरकारों को गिराने का प्रयास करता है, जहाँ राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार के विपरीत होती हैं। यह काम केन्द्रीय सरकार अपने प्रतिनिधि राज्यपाल से लेता है। वह केन्द्र के इशारे पर दुविधापूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर अनुच्छेद- 356 के तहत राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर देता है, इससे राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के बीच टकराव बढ़ता है और संघात्मक संरचना पर आंच आती है। यद्यपि इस व्यक्तिगत पसन्द को अक्सर न्यायपालिका ने नापसन्द किया है।

1.2.4 राज्यपाल की वास्तविक स्थिति

भारत में एक ओर संघात्मक व्यवस्था है तो दूसरी ओर संसदात्मक, जो केन्द्र में भी है और राज्यों में भी। केन्द्र के समान राज्यपाल राज्य कार्यपालिका का संवैधानिक प्रधान (हैड) है। कार्यपालिका की वास्तविक शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद करती है, जिसका मुखिया मुख्यमंत्री होता है। मन्त्रिपरिषद अपने सभी कृत्यों के लिये व्यवस्थापिका के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी है। यह स्थिति बिल्कुल केन्द्र के समान है।

इन समानताओं के बावजूद, जो केन्द्र और राज्यों में पाई जाती है, राज्यपाल की स्थिति और भूमिका राष्ट्रपति की स्थिति के समान नहीं है। कारण है राज्यपाल की दोहरी भूमिका। एक ओर राज्यपाल राज्य शासन का मुखिया है तो दूसरी ओर वह राज्य में केन्द्र का प्रतिनिधि है। यह एक विषम स्थिति है, क्योंकि संविधान में राज्यपाल की शक्तियाँ स्पष्ट नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि राज्यपाल को हटाने या उसको नियन्त्रित करने की शक्ति राज्य में निहित नहीं है। इस स्थिति ने राज्यपाल की कुर्सी को मजबूत किया है और वह केन्द्र में सत्ताधारी दल से सरलता से प्रभावित होता है। परिणामस्वरूप राज्य के सत्ताधारी दलों से उसका टकराव बढ़ जाता है। सक्रिय अथवा अवकाश प्राप्त राजनीतिज्ञों ने इस पद पर पहुँचकर स्थिति को और गंभीर बनाया है।

वास्तव में अनुच्छेद- 356 का अक्सर दुरुपयोग करके राज्यपाल ने स्वयं को राज्य का एक संवैधानिक मुखिया कम और एक कुशल राजनीतिज्ञ अधिक सिद्ध किया है। इससे राज्य में अस्थिरता, दल-बदल और जोड़-तोड़ की राजनीति को बढ़ावा मिलता है। उदाहरण के लिये सन् 1960 से 1967 तक राज्यों में विरोधी दलों की ग्यारह बार सरकारें बर्खास्त की गईं, जबकि सन् 1967 से 1977 तक 8 बार ऐसी सरकारें बर्खास्त की गईं। 1977 के आम चुनावों के बाद केन्द्र में जनता दल की सरकार ने राज्यों में कांग्रेस की 9 राज्यों की सरकारों को बर्खास्त किया। सन् 1980 में कांग्रेस ने बदले में विरोधी दलों की ग्यारह राज्य सरकारों को अपदस्थ किया और यह सब कुछ केन्द्र ने राज्यपालों के माध्यम से कराया।

1.2.5 राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति

राज्य के शासनतंत्र में राज्यपाल की एक महत्वपूर्ण हैसियत है। यथार्थ में उससे राज्य में शासन के मुखिया की हैसियत से कार्य करने की अपेक्षा की जाती है और इसलिये वह मन्त्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करता है, परन्तु उसे मात्र रबर की मोहर नहीं कहा जा सकता। राज्यपाल की स्थिति के बारे में संविधान में दो प्रावधान हैं। पहला- अनुच्छेद-159 के तहत राज्यपाल को जो शपथ लेनी होती है, उसके अनुसार यह स्पष्ट है कि वह पूरी निष्ठा से

अपने पद का निर्वाह करेगा, अपनी पूरी योग्यता से संविधान और कानून की रक्षा करेगा और राज्य के लोगों की सेवा में स्वयं को समर्पित करेगा। इस शपथ से यह स्पष्ट होता है कि लोगों की सेवा से सम्बन्धित उसकी सोच और मन्त्रिपरिषद की सोच में अन्तर हो सकता है, जो टकराव का कारण बन सकता है। दूसरा- अनुच्छेद- 163(1) स्पष्ट करता है कि अपने कार्यों के निष्पादन के लिये राज्यपाल को परामर्श और सहायता प्रदान करने के लिये एक मन्त्रिपरिषद होगी, लेकिन वहीं तक जहाँ राज्यपाल की स्वतन्त्र शक्तियों के निष्पादन का प्रश्न न हो। स्वतंत्र शक्तियों के प्रयोग में राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा। अनुच्छेद- 163(2) पुनः व्यवस्था करता है कि राज्यपाल का कौन सा कार्य उसके क्षेत्राधिकार में आता है और कौन सा नहीं, यह राज्यपाल ही तय करेगा और वह जो भी करेगा उस पर जबाब तलब नहीं किया जायेगा।

प्रत्येक राज्यपाल परिस्थितियों के अनुसार अपने औचित्य की शक्ति का प्रयोग करता है, समान परम्पराएँ नहीं हैं। यद्यपि इस व्यवहार की आलोचना की गई है, लेकिन संवैधानिक दृष्टि से यह उचित है। राज्यपाल की हैसियत राजनीतिक है इसलिये पूरी निष्पक्षता के साथ उसका व्यवहार करना असम्भव है। वास्तव में अक्सर विधायक स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करते हैं, जहाँ राज्यपाल को बड़े कदम उठाने पड़ते हैं।

1.3 मुख्यमंत्री

प्रत्येक राज्य में एक मन्त्रिपरिषद होती है, जिसका मुखिया मुख्यमंत्री होता है। मन्त्रिपरिषद का कार्य राज्यपाल को उसके कार्यों के निष्पादन के लिये सहायता करना और परामर्श देना है, लेकिन राज्यपाल के स्वविवेकी कार्य मन्त्रिपरिषद के क्षेत्राधिकार से बाहर है।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल के द्वारा होती है और उसके परामर्श से राज्यपाल अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। आम या मध्यावधि चुनावों के बाद यदि विधानसभा में दल के नेता को बहुमत प्राप्त होता है तो राज्यपाल का कार्य सरल हो जाता है। वह बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त कर देता है। अगर किसी भी दल का बहुमत नहीं होता तो स्थिति जटिल हो जाती है और राज्यपाल को अपने विवेक का प्रयोग करना होता है। यही वह स्थिति है जो अक्सर विवादास्पद बन जाती है।

1.3.1 मुख्यमंत्री की शक्तियाँ

मुख्यमंत्री की हैसियत मन्त्रिपरिषद में महत्वपूर्ण और विशिष्ट है। वास्तव में मन्त्रियों की नियुक्ति वही करता है और उन्हें बर्खास्त करने का अधिकार भी उसी के पास है। वह अपने मंत्रियों में विभाग आवंटित करता है। वह कैबिनेट की मीटिंगों की अध्यक्षता करता है। आमतौर पर मुख्यमंत्री स्वयं अनेक विभाग अपने पास रखता है। इसके अतिरिक्त शासन के सभी विभागों का निरीक्षण करना भी मुख्यमंत्री का उत्तरदायित्व है।

भारतीय संविधान में मुख्यमंत्री की शक्तियों का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु व्यवहार में राज्य में उसकी वही स्थिति है जो केन्द्र में प्रधानमंत्री की है। दूसरी ओर राज्यपाल के सन्दर्भ में संविधान की यह व्यवस्था है कि मुख्यमंत्री के कुछ उत्तरदायित्व हैं-

1. मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्य से सम्बन्धित प्रशासन तथा विधि प्रस्तावों से राज्यपाल को अपने निर्णयों के बारे में अवगत कराये।
2. मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि राज्य के मामलों से सम्बन्धित प्रशासन के बारे में तथा विधि प्रस्तावों के बारे में यदि राज्यपाल कोई सूचना मांगे तो वह उसे उपलब्ध कराये तथा
3. राज्यपाल मुख्यमंत्री से ऐसे मामलों पर सूचना मांग सकता है, जिसका निर्णय मंत्री ने तो लिया है पर जिसे मन्त्रिपरिषद के सम्मुख न रखा गया हो।

4. मुख्यमंत्री की एक महत्वपूर्ण शक्ति यह है कि वह विधानसभा को भंग करने की सिफारिश राज्यपाल से कर सकता है।

1.3.2 मुख्यमंत्री के कार्य

शक्तियों और कार्यों की दृष्टि से मुख्यमंत्री की अपनी हैसियत उसके व्यक्तित्व में निहित है। यदि उसका व्यक्तित्व मजबूत है तो वह प्रभावशाली मुख्यमंत्री होता है। परन्तु सच यह है कि मुख्यमंत्री की सारी शक्तियाँ और कार्य मंत्री परिषद में निहित हैं, जिसका व्यक्तित्व सामूहिक है।

मन्त्रिपरिषद वास्तव में राज्य की मुख्य कार्यपालिका है। यह प्रशासन की नीतियों का निर्माण करती है। विधि निर्माण के कार्य को तैयार और प्रक्रिया आगे बढ़ाती है और कानून पास हो जाते हैं तो उनके कार्यान्वयन का निरीक्षण करती है। कैबिनेट द्वारा वार्षिक बजट तैयार किया जाता है और विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है। लगभग सभी वित्तीय शक्तियाँ परिषद में निहित हैं, यद्यपि यह राज्यपाल के नाम से पहचानी जाती है।

संविधान ने राज्यपाल को व्यवस्थापिका के सत्र की अनुपस्थिति में अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया है। परन्तु यथार्थ में यह शक्ति भी कैबिनेट के पास है। राज्यपाल व्यवस्थापिका को संबोधित करता है तथा संदेश भेजता है, परन्तु उसका अभिभाषण कैबिनेट द्वारा तैयार किया जाता है। राज्यपाल को विधानसभा को बर्खास्त करने का अधिकार है, लेकिन इस अधिकार का प्रयोग भी मन्त्रिपरिषद करती है। ऐसा राज्य जिसमें विधान परिषद होती है, उसमें कुछ सदस्य नामित करने का अधिकार राज्यपाल को है, परन्तु व्यवहार में यह कार्य भी राज्यपाल कैबिनेट की सिफारिश पर करता है। इसी तरह राज्य की क्षमादान या क्षमा को कम करने की शक्ति भी मन्त्रि परिषद की सिफारिश पर आधारित है।

1.3.3 मन्त्रिपरिषद और व्यवस्थापिका

मन्त्रिपरिषद के मंत्री व्यवस्थापिका के सदस्यों से लिये जाते हैं और वे सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यदि एक मंत्री विधानसभा में पराजित हो जाता है तो सब को त्यागपत्र देना चाहिए। यह सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुसार है। इसलिए सभी मंत्री व्यवस्थापिका के सदन पर एक-दूसरे का बचाव करते हैं।

व्यवस्थापिका सदस्य प्रश्नों और पूरक प्रश्नों के माध्यम से मंत्रियों को नियंत्रित करते हैं। इस तरह वे सरकार की कमियों और गलतियों को उजागर करते हैं। वे मंत्रालय के विरुद्ध स्थगन और निन्दा प्रस्ताव लाते हैं। अन्त में विधानसभा के सदस्य सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव लाते हैं। यदि यह प्रस्ताव पारित हो गया, तो सरकार को त्यागपत्र देना होता है। इसी तरह यदि सरकार द्वारा पारित और समर्थित विधेयक विधानसभा में पराजित हो गया तो इसको अविश्वास का मत समझा जायेगा और सरकार को त्यागपत्र देना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मन्त्रिपरिषद का अस्तित्व पूरी तरह सदन के विश्वास पर टिका होता है।

मन्त्रिपरिषद भी व्यवस्थापिका पर नियंत्रण रखती है। वास्तव में व्यवस्थापिका में पूरी कार्यवाही को नियंत्रित करते हैं। अधिकांश विधेयक मंत्रालयों द्वारा लाये जाते हैं, क्योंकि उनको बहुमत दल का विश्वास प्राप्त होता है, यह विधेयक सफलता से पास हो जाते हैं। कोई भी ऐसा विधेयक जिसे सरकार का समर्थन प्राप्त नहीं होता, पास नहीं हो सकता। संविधान के 52वें संशोधन ने जिस दल-बदल विरोध कानून कहा जाता है, मन्त्रिपरिषद की स्थिति को मजबूत किया है।

जब दल-बदल आम बात थी, राज्य के मंत्रियों के सिर पर तलवार लटकी रहती थी। यह अस्थायित्व का काल था लेकिन अब यदि कोई सदस्य दल बदलता है तो वह अपने सदन की सीट खो देता है। इससे दल-बदल की परम्परा समाप्त हुई है।

मन्त्रिपरिषद के हाथों में एक और ऐसा शक्तिशाली हथियार है जो व्यवस्थापिका को उसके नियंत्रण में रखता है। विधानसभा को भंग कराने का अधिकार मुख्यमंत्री के पास है। यदि उसके दल के सदस्य अनुशासनहीन होते हैं और सरकार के विरुद्ध मतदान करते हैं, तो मुख्यमंत्री विधानसभा को भंग करने की सिफारिश कर सकता है। सीट खोने का भय सदस्यों को अनुशासित रखता है। फिर भी मिला-जुला मन्त्रिमण्डल सदा अस्थिर होता है और ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री की स्थिति कमजोर होती है। यहाँ तक कि दल-बदल विरोधी कानून भी मिली-जुली सरकार को स्थिरता की गारण्टी नहीं दे सकता।

1.3.4 मुख्यमंत्री का अपना व्यक्तित्व

मुख्यमंत्री की स्थिति बहुत कुछ हद तक उसके अपने व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया (सीपीएम) के पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु एक लम्बे समय तक अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण अपने बहुमत दल का विश्वास प्राप्त करके अपने पद पर बने रहे। उनका अपना दल, सीपीएम कभी केन्द्र में सत्ताधारी दल नहीं रहा।

कोई भी मुख्यमंत्री जिसका प्रभावशाली व्यक्तित्व है, शक्तिशाली समझा जाता है। उसके सहयोगी उसके लिए वफादार होते हैं। ऐसी सरकार जनहित के कार्य करती है। वह केन्द्र के दबावों से मुक्त रहता और खुलकर काम करता है।

1.4 मुख्यमंत्री और राज्यपाल

मुख्यमंत्री और राज्यपाल के रिस्तों में अक्सर कड़वाहट रहती है। इस कड़वाहट का कारण हैं, दलीय द्वन्द। राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधित्व करता है। जब केन्द्र में और राज्य में एक ही दल की सरकारें होती हैं, तब राज्यपाल और मुख्यमंत्री में सामंजस्य बना रहता है। लेकिन जब केन्द्र और राज्य में विरोधी दलों की सरकारें होती हैं तो टकराव की स्थिति आ जाती है। विशेष रूप से जहाँ राज्य में मिली-जुली सरकारें हैं, वहाँ राज्यपाल स्थिति का लाभ उठाकर राज्य सरकार को बर्खास्त करने का प्रयास करता है। ताजा उदाहरण उड़ीसा का जहाँ, भारतीय जनता पार्टी की येदुरप्पा की सरकार को राज्यपाल ने बर्खास्त करने का प्रयास किया।

सन् 1992 में भारतीय जनता पार्टी की तीन सरकारों को केन्द्र के इशारे पर राज्यपाल ने बर्खास्त कर दिया। कारण था 6 दिसम्बर 1992 को अयोध्या के विवादित ढाँचे को कार सेवकों द्वारा ध्वस्त किया जाना। सरकारों को बर्खास्त करना एक राजनीतिक फैसला था। मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय का दृष्टिकोण था कि मध्य प्रदेश में बीजेपी सरकार की बर्खास्तगी गैर-कानूनी थी, क्योंकि राज्यपाल ने केन्द्र को जो रिपोर्ट भेजी थी, वह पर्याप्त रूप में यह सिद्ध नहीं करती थी कि राज्य में सरकार संविधान के अनुसार चलने में असफल हो गयी है। लेकिन जब यह विवाद सर्वोच्च न्यायालय पहुँचा तो उसने यह फैसला दिया कि राज्यपालों का फैसला, जो वास्तव में कांग्रेस सरकार का फैसला था वह औचित्यपूर्ण था, क्योंकि बर्खास्तगी का आधार “धर्म निरपेक्षता” था। जो भारतीय संविधान की मूल आत्मा है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले में कहा कि तीनों राज्यों की बीजेपी सरकारें अपना धर्मनिरपेक्ष आचार खो चुकी थी, इसलिए उनका बना रहना संविधान की आत्मा के विपरीत था। सर्वोच्च न्यायालय के इस फैसले से राज्यपाल को अपने औचित्य की शक्ति को सशक्त करने का और अवसर मिला और इसका एक नतीजा यह निकला कि मुख्यमंत्री, राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व अपनी पसंद और नापसंद की बात करने लगे।

मुख्यमन्त्रियों ने भी सरकारी आयोग का हवाला दिया। सरकारी आयोग ने अपनी सिफारिशों में कहा कि राज्यपाल अपने पद से सेवानिवृत्त होने के बाद किसी प्रकार की राजनीति में भाग नहीं लेगा। इस सिफारिश को

अंतर्राज्यपरिषद ने दिसम्बर 1991 में स्वीकार कर लिया। दूसरी सिफारिश यह थी कि राज्यपाल की नियुक्ति से पहले उस राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह ली जाये।

अक्सर यह देखा गया है कि राज्यपाल के पद से सेवानिवृत्त होने के बाद राज्यपाल सक्रिय राजनीति में दाखिल हो गये, मुख्यमंत्री बनाये गये, चुनाव लड़ा और संसद सदस्य बने तथा अन्य लाभ के पदों पर नियुक्त किये गये। इसका नतीजा यह निकलता है कि राज्यपाल एक निष्पक्ष भूमिका अदा नहीं करते और परिणाम स्वरूप राज्यपाल और मुख्यमंत्री के मध्य खटास उत्पन्न होती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राज्यपाल की नियुक्ति कौन करता है?
2. राज्यपाल की नियुक्ति हेतु न्यूनतम आयु क्या हो?
3. राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता किस अनुच्छेद के तहत होती है?
4. भारत में एकात्मक शासन है या संघात्मक?
5. राज्य में मंत्रिपरिषद का मुखिया कौन होता है?
6. राज्य में संवैधानिक प्रधान कौन होता है?
7. दलबदल विरोधी कानून सर्वप्रथम किस संवैधानिक संशोधन द्वारा बनाया गया?
8. अयोध्या का विवादित ढांचा कब गिराया गया?

1.5 सारांश

भारत में संसदीय व्यवस्था है, केन्द्र में भी और राज्यों में भी। राज्यों में कार्यपालिका दो भागों में विभक्त है- राज्यपाल, जो नियुक्त है और मुख्यमंत्री, जो निर्वाचित है। राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधि है और राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है। लेकिन मुख्यमंत्री जनता का प्रतिनिधि है और विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। इसलिए मुख्यमंत्री राज्यपाल से अधिक महत्वपूर्ण है।

राज्यपाल की जो शक्तियाँ हैं, वह संवैधानिक है। लेकिन इन शक्तियों का प्रयोग राज्यपाल के नाम से मन्त्रिपरिषद करती है। इसलिए मुख्यमंत्री, मन्त्रिपरिषद का मुखिया होता है, इसलिए वह अधिक सशक्त है।

मन्त्रिपरिषद जो एक सामूहिक उत्तरदायित्व वाली संस्था है। मुख्यमंत्री इस संस्था को नेतृत्व करता है।

राज्यपाल अपने विवेकाधीन शक्तियों के कारण शक्तिशाली भी है और विवादास्पद भी। अनुच्छेद-356 का प्रयोग करके अक्सर राज्यपाल को बदनामी मिली है।

सशक्त मुख्यमंत्री वह है, जिसका व्यक्तित्व प्रभावशाली है। उत्तर प्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्री पं० गोविन्द वल्लभ पंत अदम्य साहस और अद्वितीय प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति थे। वह एक कुशल वक्ता और कुशाग्र बुद्धि के धनी थे।

राज्यपाल बड़ी गरिमा का पद है। उदाहरण उत्तर प्रदेश की पहली राज्यपाल श्रीमती सरोजनी नायडू ने इस पद को गौरवान्वित किया है।

राज्य में मुख्यमंत्री के कार्य वही हैं, जो केन्द्र में प्रधानमंत्री के। यद्यपि राज्य सरकार की वास्तविक शक्ति मंत्री परिषद में निहित है, लेकिन मुख्यमंत्री कार्यपालिका की केन्द्रीय धुरी है। वह समानों में प्रथम ही नहीं है, वरन् राज्य शासन का मुख्य संचालक है।

1.6 शब्दावली

कन्वेंशन- परम्परा, रेमीशन- सजा को कम करना या उसका स्वरूप बदलना, रेपरीव- सजा माफ करना या टालना, डिसक्रीशन- छूट की स्वतंत्रता, रेस्पाइट- सजा में राहत देना

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. राष्ट्रपति, 2. 35 वर्ष, 3. अनुच्छेद- 356, 4. संघात्मक, 5. मुख्यमंत्री, 6. राज्यपाल, 7. 42वें संवैधानिक संशोधन, 8. 6 दिसम्बर 1919

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दुबे, एस0एन0- भारतीय संविधान और राजनीति।
 2. माहेश्वरी, श्रीराम- स्टेट गवर्नमेंट्स इन इण्डिया।
 3. पाण्डे, लल्लन बिहारी- दि स्टेट एक्जीक्यूटिव।
 4. पायली, एम0वी0- इण्डियाज कान्सटीट्यूशन।
-

1.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
 2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
 3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।
 4. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
 5. भारतीय लोक प्रशासन- बी0 एल0 फड़िया।
-

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल और मुख्यमंत्री के सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।
2. राज्य में वास्तविक कार्यपालिका कौन है और उसका स्वरूप क्या है?
3. मंत्री परिषद क्या है? मुख्यमंत्री से उसके सम्बन्ध क्या है?
4. मुख्यमंत्री और व्यवस्थापिका के सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 2 राज्य सचिवालय, मंत्रीमण्डलीय सचिवालय और मुख्य सचिव

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 सचिवालय का अर्थ

2.2.1 सचिवालय की स्थिति और भूमिका

2.2.2 सचिवालय की संरचना

2.2.3 राज्य सचिवालय के विभाग

2.2.4 सचिवालय विभाग तथा कार्यकारिणी विभाग में अंतर

2.2.5 नीति और प्रशासन

2.2.6 नीति निर्माण और विधायन में प्रशासकों की भूमिका

2.2.7 सचिवालय एक समालोचना

2.3 मंत्रीमण्डलीय सचिवालय

2.4 मुख्य सचिव

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

सरकार के दो घटक होते हैं। राजनीति और प्रशासकीय दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वह राजनीतिक घटक नीतियाँ बनाता है। नीतियों से सम्बन्धित कानून बनाता है और निर्णय लेता है। प्रशासकीय घटक इन नीतियों, निर्णयों और कानूनों को क्रियान्वित करता है। राजनीतिक घटक प्रशासकीय घटक की सहायता के बिना नीतियों और कानूनों का निर्माण नहीं कर सकता। जहाँ प्रशासकीय प्रक्रिया चलती है, उसे सचिवालय कहा जाता है। इस इकाई में इसी राज्य सचिवालय की संरचना और कार्यों पर बहस की गयी है। यह समझाया गया है कि सचिवालय विभागीय पद्धति क्या है? तथा सचिवालय विभाग तथा कार्यकारिणी विभाग में अंतर क्या है? इसके अतिरिक्त राज्य प्रशासन में मुख्य सचिव की भूमिका स्थिति और कार्यों को भी समझाया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्य सचिवालय का अर्थ, महत्व और उसकी भूमिका समझ सकेंगे।
- सचिवालय की सीधी संरचना को और राज्य सचिवालय में विभागीयकरण की पद्धति समझ पायेंगे।
- सचिवालय विभाग, मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय तथा कार्यकारिणी विभाग के प्रमुख का अंतर समझ सकेंगे।

- आपको शब्द 'नीति' और 'प्रशासन' के अर्थ समझ में आयेंगे और यह जान सकेंगे कि नीति और प्रशासन एक विवेकशील प्रक्रिया है या सत्ता प्रक्रिया है।
- राज्य सचिवालय व्यवस्था में मुख्य सचिव के महत्व को और उसकी भूमिका को समझ पायेंगे।

2.2 सचिवालय का अर्थ

राज्य स्तर पर शासन के तीन घटक होते हैं- मंत्री, सचिव तथा कार्यपालिका प्रमुख, अंतिम को अक्सर निर्देशक कहा जाता है। मंत्री और सचिव मिलकर सचिवालय का निर्माण करते हैं, जबकि कार्यपालिका प्रमुख के कार्यालय को निदेशालय कहा जाता है।

शाब्दिक तौर पर सचिवालय का अर्थ है, सचिव का कार्यालय। यह तब अस्तित्व में आया जब भारत में शासन सचिवों द्वारा चलाया जाता था। स्वतंत्रता के बाद शासन करने की शक्ति जनप्रतिनिधि मंत्रियों के हाथ में चली गयी और इस तरह मंत्रालय सत्ता का केन्द्र बन गया। नई परिस्थितियों में शब्द 'सचिवालय' मंत्री के कार्यालय का पर्यायवाची बन गया है, क्योंकि मंत्री को सलाह देने का कार्य सचिव करता है। इसलिए मंत्रालय में मंत्री के बाद सचिव प्रमुख होता है और अपने स्थाई चरित्र के कारण वह अधिक महत्वपूर्ण होता है। सरल शब्दों में सचिवालय वह भवन है जिसमें मंत्री और सचिव के कार्यालय होते हैं। मंत्री राजनीतिक प्रमुख होता है और सचिव प्रशासकीय प्रमुख।

2.2.1 सचिवालय की स्थिति और भूमिका

राज्य प्रशासन की सर्वोच्च स्तर की हैसियत से सचिवालय का कार्य नीति-निर्माण में राज्य सरकार की सहायता करना तथा विधायनी कार्यों में उसे सहयोग करना है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने राज्य प्रशासन पर अपनी जो रिपोर्ट दी है वह इस प्रकार है-

- नीति-निर्माण, समय-समय पर नीतियों के संशोधन तथा विधायनी उत्तरदायित्वों के निर्वाह में सचिवालय सहायता प्रदान करे।
- विधायन, नियमों और अधिनियमों का प्रारूप तैयार करे।
- नीतियों और योजनाओं में समन्वय स्थापित करे, उनके क्रियान्वन पर नजर रखें तथा परिणामों की समीक्षा करे।
- बजट तैयार करे और व्यय को नियन्त्रित करे।
- भारत सरकार तथा अन्य राज्य सरकारों से सम्पर्क बनाये रखे।
- प्रशासकीय तंत्र के संचालन पर पैनी नजर रखे तथा कार्यकर्ता वर्ग की योग्यता तथा दक्षता को विकसित करे।

नीति-निर्माण तथा नीति क्रियान्वन दो अलग पहलू हैं। इनको एक-दूसरे से पृथक रहना चाहिए। यह प्रशासकीय दर्शन का मूल मंत्र है। यदि ऐसा होता है तो उसके अनेक लाभ हैं-

- यदि नीति-निर्माण उपकरण, नीति क्रियान्वयन से पृथक रहता है, तो नीति-निर्माण की प्रक्रिया शासन के वृहत लक्ष्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होती है न कि संकुचित, वर्गीय हितों की ओर।
- नीति-निर्माण के लिए समय चाहिए। यदि नीति-निर्माण और उसका क्रियान्वयन एक ही हाथ में होगा तो नीति-निर्माण प्रक्रिया में विलम्ब होगा। नीति-निर्माण का सम्बन्ध भावी योजनाओं से है। लेकिन इस पर ध्यान न देकर दिन-प्रतिदिन के कामों पर ध्यान अधिक लगाना राज्य के लिए हानिकारक होता है।

- सचिवालय, मंत्री का एक निष्पक्ष परामर्शदाता है। सचिव, शासन का सचिव है न कि मंत्री का। वह मंत्री के हितों को ध्यान में न रखकर, राज्य के हितों को ध्यान में रखता है। सचिवालय से जो प्रस्ताव आये वे दूरगामी परिणामों के होते हैं। इसलिए प्रस्तावों को संतुलित होना चाहिए।
- नीति-निर्माण तत्कालीन प्रशासन से पृथक् होना चाहिए तथा दिन-प्रतिदिन का कार्य अन्य निकायों पर छोड़ना चाहिए। इससे सत्ता हस्तान्तरण निश्चित होता है।

यहाँ सचिवालय की वृहत भूमिका को समझना अनिवार्य है-

- सचिवालय की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका नीति-निर्माण में है। यह मन्त्रियों को सरकारी नीतियों के निर्माण में सहायता प्रदान करता है। ऐसा वह दो तरीके से करता है, प्रथम- सचिव नीति-निर्माण के लिए अनिवार्य आंकड़ों और सूचना उपलब्ध कराता है। दूसरे- सचिव मन्त्रियों के सामने उन योजनाओं को रखता है, जिनके वायदे मन्त्रियों ने जनता से किये थे। वह इन योजनाओं का पूरा प्रारूप तैयार करता है।
- सचिवालय मन्त्रियों को उनके विधायनी कार्यों में सहायता प्रदान करता है। विधायन के प्रारूप जो मंत्री व्यवस्थापिका के पटल पर रखते हैं, सचिवों के द्वारा तैयार किये जाते हैं।
- व्यवस्थापिका में प्रश्नों का उत्तर देने के लिए मन्त्रियों को जो सूचना चाहिए, सचिव ऐसी तार्किक सूचनाओं से मन्त्रियों को अवगत कराता है। सचिव उन सूचनाओं को भी उपलब्ध कराता है जो व्यवस्थापिका की समितियाँ चाहती हैं।
- सचिवालय एक संस्थागत स्मरण शक्ति (मेमोरी) के रूप में काम करता है। इसका अर्थ है कि पैदा होने वाली समस्याओं का परीक्षण साक्ष्यों की रौशनी में करना। सचिवालय में जो दस्तावेज और फाइलें सुरक्षित होती हैं, वे संस्थागत स्मरण शक्ति का काम करती हैं और किसी मामले के निबटारे में सहायता प्रदान करती हैं।
- सचिवालय एक सरकार तथा दूसरी सरकार के मध्य सूचना एवं संचार का माध्यम है। यह एक सरकार तथा योजना आयोग और वित्त आयोग के मध्य भी ऐसा ही माध्यम है।
- अंत में सचिवालय नीति-निर्माण के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करता है और क्रियान्वयन को क्षेत्रीय निकायों के माध्यम से संचालित करता है।

2.2.2 सचिवालय की संरचना

सीधे रूप में (लम्बात्मक) किसी सचिवालय विभाग की दो प्रकार की पद सोपानीय बनावट होती है। एक पदाधिकारी तथा दूसरा कार्यालय।

सचिवालय की संरचना में पदाधिकारी पारम्परिक रूप में अधिकारियों की पदसोपानीय व्यवस्था के तीन स्तर होते हैं। इसके अन्तर्गत, विशिष्ट रूप से एक प्रशासकीय प्रमुख के अन्तर्गत होता है, जिसे सचिव कहते हैं। सचिव की सहायता के लिए उप-सचिव तथा सहायक सचिव होते हैं, क्योंकि विभिन्न सचिवालय विभागों का काम बढ़ गया है, इसलिए सचिव और उपसचिव के मध्य, कुछ राज्यों में अतिरिक्त सचिव और संयुक्त सचिव भी होते हैं।

भारत में सचिवालय पद्धति की एक विशेषता यह है कि कार्यालय के दो भाग होते हैं। पहला, उच्चतर अधिकारियों का एक संक्रमण (आने-जाने वाला) संवर्ग (पदाधिकारियों का समूह) तथा दूसरा, स्थायी कार्यालय। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक विभाग में उच्च प्रशिक्षित पदाधिकारी आते-जाते रहते हैं, लेकिन कार्यालय स्थायी कर्मचारियों से सम्पन्न होता है। यह कार्यालय सचिवालय विभाग की निरन्तरता को बनाये रखता है। कार्यालय में अधीक्षक या अनुभाग अधिकारी, सहायक, उच्चतर और निम्नतर खण्ड लिपिक, स्टेनो टाइपिस्ट (सम्पूर्ण कम्प्यूटर नेटवर्क में

प्रशिक्षित सेवी वर्ग) इत्यादि आते हैं। कार्यालय, अधिकारियों को वह सामग्री जुटाता है जो नीति-निर्माण के लिए आवश्यक होती हैं। वह क्रियान्वयन का कार्य दिन-प्रतिदिन के हिसाब से निबटाता है।

सचिवालय के एक विभाग की संगठनात्मक संरचना निम्न प्रकार की होती है- विभाग- सचिव, खण्ड- अतिरिक्त/संयुक्त सचिव, मुख्य विभाग- उप सचिव/निदेशक, कार्यालय- सह सचिव और अनुभाग- अनुभाग अधिकारी। (अंग्रेजी में डिपार्टमेंट, विंग, डिवीजन, ब्रांच सेक्शन)

अनुभाग सबसे निचली संगठनात्मक इकाई है जो अनुभाग अधिकारी के अन्तर्गत रहती है। अनुभाग में सहायक, लिपिक, टाइपिस्ट, कम्प्यूटर संचालक आते हैं। वास्तव में अनुभाग ही कार्यालय है। दो अनुभागों से ब्रांच बनती है, यह एक सह सचिव के अन्तर्गत होती है। दो ब्रांचों से एक डिवीजन या मुख्य विभाग बनता है जो उप-सचिव के अन्तर्गत आता है। जब एक विभाग का काम बढ़ जाता है तब कई खण्ड या विंग बनाये जाते हैं जो अतिरिक्त सचिव या संयुक्त सचिव के अन्तर्गत होते हैं। संगठनात्मक पदसोपान पर सचिव होता है जो विभाग का कार्यभार संभालता है।

2.2.3 राज्य सचिवालय के विभाग

राज्य सचिवालय के संगठनात्मकता की प्रकृति को बनाए रखने के लिए अनेक विभाग सम्मिलित रहते हैं, जिसमें- सामान्य प्रशासन विभाग, गृह विभाग, राजस्व विभाग, खाद्य एवं कृषि विभाग, वित्त और योजना विभाग (योजना खण्ड), वित्त और योजना विभाग (वित्त खण्ड), विधि विभाग, सिंचाई और विद्युत विभाग, चिकित्सा और स्वास्थ्य विभाग, शिक्षा विभाग, उद्योग विभाग, व्यवस्थापिका विभाग, पंचायत राज्य विभाग, नियंत्रक क्षेत्र विकास विभाग, परिवहन, सड़क और भवन विभाग, आवास और नगरपालिका प्रशासन तथा शहरी विकास विभाग, श्रम, रोजगार और तकनीकी शिक्षा विभाग, सामाजिक कल्याण विभाग और वन एवं ग्रामीण विकास विभाग।

2.2.4 सचिवालय विभाग तथा कार्यकारिणी विभाग में अंतर

सचिवालय विभागों को कार्यकारिणी विभागों से अलग करके देखा जाना चाहिए। सचिवालय का कार्य राजनीतिक कार्यकारिणी को उसके कार्यों में सहायता करना तथा परामर्श देना है। कार्यकारिणी विभागों के अध्यक्ष जिनको निदेशक कहा जाता है, राजनीतिक कार्यकारिणी द्वारा निर्मित नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। दूसरे शब्दों में सचिव नीति-निर्माण में सहायता करता है और निदेशक नीति क्रियान्वयन में।

प्रत्येक सचिवालय विभाग के अन्तर्गत अनेक कार्यकारिणी विभाग आते हैं। लेकिन यहाँ यह याद रखना होगा कि सभी सचिवालय विभागों में कार्यकारिणी विभाग नहीं आते हैं। कुछ सचिवालय विभागों का सम्बन्ध केवल परामर्शदाता तथा नियन्त्रक के रूप में होता है। उदाहरण के लिए कानून और वित्त विभाग ऐसे ही हैं।

सचिवालय विभाग तथा कार्यकारिणी विभाग जिनका उद्देश्य नीति-निर्माण तथा नीति क्रियान्वयन से होता है, वास्तव में मन्त्रिपरिषद के व्यक्तित्व का विस्तार है। दूसरे अर्थों में ये दोनों मन्त्रियों का मस्तिष्क और हाथ है। मन्त्रिपरिषद इनके माध्यम से सोचता है और निर्णय लेता है तथा इनके माध्यम से अपनी नीतियों को क्रियान्वित कराता है।

सचिवालय विभाग के मुखिया सेवीवर्ग (आई0ए0एस0) के होते हैं, जबकि कार्यकारिणी विभाग के प्रमुख विशिष्ट होते हैं। अर्थात् विशिष्ट प्रमुख सामान्य प्रमुखों के निरीक्षण में काम करते हैं। दूसरे शब्दों में निदेशक सचिव के निरीक्षण में कार्य करता है। उदाहरण के लिए उत्तराखण्ड में शिक्षा निदेशक जो शिक्षा में विशिष्ट होता है, सचिव के निरीक्षण में काम करता है जो आई0ए0एस0 होता है।

2.2.5 नीति और प्रशासन

हम सचिवालय तथा निदेशालय की स्पष्ट भूमिका के बारे में बता चुके हैं। दोनों एक-दूसरे से पृथक हैं। अब सवाल यह उठता है कि वास्तव में क्या दोनों एक-दूसरे से पृथक हैं। उत्तर यह है कि अवधारणात्मक स्तर पर वे एक-दूसरे से पृथक हैं। दोनों को स्पष्ट घटनाक्रम के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। लेकिन व्यावहारिक स्तर पर नीति और प्रशासन एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। वास्तव में यह कहना कठिन है कि कहाँ नीति का अन्त होता है और कहाँ से प्रशासन का आरम्भ?

नीति का सम्बन्ध राजनीतिक चुनावों से होता है और वह वृहत मूल्यों के इर्द-गिर्द घूमती है, जबकि प्रशासन का सम्बन्ध कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से है। अतः प्रशासन क्रियान्वयन की समीक्षा, संगठनात्मक संरचनाओं के निर्माण, संगठन में भर्ती, क्रियाओं में समन्वय, निदेशन, नियन्त्रण और प्रोत्साहन से सम्बन्धित है।

प्रशासन, प्रशासकों का दायरा है जो उन नीतियों को क्रियान्वित करते हैं जो कानून में निहित हैं। एक अवधारणा यह है कि राजनीति, प्रशासन से परे होनी चाहिए। मेक्स वेबर ने नीति और प्रशासन के पृथकता के औचित्य को स्वीकार किया है। उसका तर्क है कि राजनीतिज्ञों के उत्तरदायित्व सेवीवर्ग के उत्तरदायित्वों से पृथक होते हैं। राजनीति का सार है एक बात पर जमे रहना, नीतियों की वैयक्तिक जिम्मेदारी लेना और राजनीतिक भूमिका अदा करना। प्रशासन का सार है राजनीतिक सत्ता के आदेश का विवेकपूर्ण क्रियान्वयन, भले ही वह प्रशासक को गलत लगे। प्रशासक राजनीतिक तौर पर तटस्थ रहता है। वह, उन कार्यों को करता है जो उससे करने को कहा जाता है। फिर भी शासकीय विषमताओं के कारण प्रशासकों को नीति-निर्माण या राजनीतिक निर्णयों में सम्मिलित होना पड़ता है। इसलिए व्यावहारिक रूप से नीति और प्रशासन में स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना कठिन है। इसके मुख्य कारण हैं-

1. प्रशासक अपने कार्य में दक्ष होते हैं, जिसका प्रयोग नीति-निर्माण में राजनीतिज्ञ करते हैं, क्योंकि प्रशासक स्थायी होते हैं इसलिए वह समस्याओं को अच्छी तरह समझते हैं। राजनीतिज्ञ आते-जाते रहते हैं, इसलिए प्रशासकों पर निर्भर रहते हैं। अतः प्रशासकों का अपना महत्व है।
2. इसके अतिरिक्त प्रशासक तथ्यों, आंकड़ों और सूचनाओं से सम्पन्न होते हैं। एक विशेष क्षेत्र में उनकी बुद्धि कुशाग्र और पैनी होती है। राजनीतिज्ञों को नीति-निर्माण के लिए आंकड़े और तथ्य चाहिए होते हैं।
3. सरकारें डाक्टरों, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों तथा अर्थशास्त्रियों को भी प्रशासक नियुक्त करती हैं जो सरकारों को अपना ज्ञान और दक्षता प्रदान करते हैं। वे तकनीकी ज्ञान प्रदान करते हैं।
4. प्रशासक योग्यता के आधार पर चुनकर आते हैं। इसलिए उनका महत्व राजनीतिज्ञों से अधिक होता है और वे नीति-निर्माण का एक अभिन्न अंग बन जाते हैं।

2.2.6 नीति निर्माण और विधायन में प्रशासकों की भूमिका

सेवीवर्ग की दक्षता में वृद्धि, सरकारी कार्यों में बढोत्तरी तथा प्रशासकीय जटिलता ने राजनीतिज्ञों को पूरी तरह प्रशासकों पर निर्भर कर दिया है। वे नीति-निर्माण में बिना प्रशासकों की सहायता के एक कदम भी आगे नहीं चल सकते। इसके अनेक कारण हैं -

नीति-निर्माण तथ्यों, आंकड़ों, सूचनाओं इत्यादि के आधार पर होता है। यह नौकरशाही द्वारा उपलब्ध कराये जाते हैं। इसके लिए राजनीतिज्ञ प्रशासकों पर निर्भर रहते हैं।

सेवीवर्ग अपने प्रशासकीय अनुभव के आधार पर अनुभवहीन राजनीतिज्ञों को प्रशासकीय, तकनीकी और वित्तीय सम्बन्धी परामर्श देता है जो नीति-निर्माण के व्यावहारिक पहलू हैं।

सेवीवर्ग विधायन (विधेयक) का प्रारूप तैयार करते हैं। मन्त्रालय की स्वीकृति के बाद यह विधेयक व्यवस्थापिका के पटल पर उसकी स्वीकृति के लिए रखे जाते हैं। अर्थात् नीति-निर्माण या विधायन की पहल प्रशासक ही करते हैं।

प्रशासकों के पास विवेक के प्रयोग की स्वतंत्रता होती है। कहाँ किस रूप में और किसे किसी बात को चुनने का अधिकार प्रशासक को है। इस तरह प्रशासक अतिरिक्त विधि निर्माता होते हैं। राजनीतिज्ञों को तथा व्यवस्थापिका को प्रशासकों के फैसले को मानना पड़ता है। विधायन का कार्य बड़ा तकनीकी होता है और यह तकनीकी ज्ञान केवल दक्ष प्रशासकों को ही होता है। अतः राजनीतिज्ञों का प्रशासकों पर निर्भर रहना एक मजबूरी है। दूसरे कब, कहाँ और किस स्थिति में कानूनों को लागू करना होता है, यह भी प्रशासक की विवेक की शक्ति पर निर्भर है। अतः यहाँ यह कहना उचित होगा कि राजनीतिज्ञ तो नीतियों की मात्र रूप-रेखा तैयार करते हैं, वास्तविक नीति-निर्माता और विधि निर्माता प्रशासक ही है।

2.2.7 सचिवालय एक समालोचना

वर्तमान समय में सचिवालय की अनेक बिन्दुओं पर आलोचना होती है। विचारात्मक दृष्टि से सचिवालय का औचित्य है। यह श्रम विभाजन को प्रोत्साहित करता है। श्रम का विशिष्टीकरण होता है। यह नीति-निर्माण और नीति क्रियान्वयन को पृथक करता है, जिससे केन्द्रीयकरण हतोत्साहित होता है।

लेकिन व्यवहार में कहानी कुछ और है। सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर है। सचिवालय के आचरण से सचिवालय और निदेशालय में तनाव पैदा होता है। तनाव के कारण अनेक हैं -

- सचिवालय का रूख विस्तारवादी है। अर्थात् यह उन कार्यों को करता है जो इसके नहीं हैं। यह मात्र नीति-निर्माण तक सीमित नहीं रहता है। यह क्रियान्वयन में भी हस्तक्षेप करता है। इससे क्रियान्वयन अभिकरणों की सत्ता कमजोर होती है।
- सचिवालय सत्ता का हस्तान्तरण करने से हिचकिचाता है। परिणाम स्वरूप नीति क्रियान्वयन में विलम्ब होता है। सारा समय सचिवालय से परामर्श करने और स्वीकृति प्राप्त करने में लग जाता है।
- कार्यकारिणी विभागों द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों की जाँच सचिवालय में लिपिक स्तर पर होती है, जो विलम्ब का कारण होता है। यह अनावश्यक है, क्योंकि जाँच निदेशालय स्तर पर अच्छी तरह होती है।
- सामान्यज्ञों (जेनरलिस्ट) द्वारा, विशेषज्ञों (स्पेशलिस्ट) पर नजर रखना, उनके प्रस्तावों का निरीक्षण करना इस दौर में अतार्किक है।

इस स्थिति ने सचिवालय को शासकीय सत्ता का केन्द्र बना दिया है। जिसकी वजह से सचिवालय तथा निदेशालय में तनाव बना रहता है। लेकिन सचिवालय को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। उसके पक्ष में भी अनेक तर्क दिये जा सकते हैं-

- लोक प्रशासकीय व्यवस्था में सचिवालय एक अनिवार्य संस्था है। अपनी दुर्बलताओं के बावजूद सचिवालय ने प्रशासन को सन्तुलन, स्थायित्व और निरन्तरता प्रदान की है। वह मन्त्रालय तन्त्र का केन्द्रीय बिन्दु है। उसके माध्यम से अन्तःमन्त्रालय समन्वय पैदा होता है, जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व के लिए अनिवार्य है।
- सचिवालय व्यवस्था नीति-निर्माण को, नीति क्रियान्वयन से पृथक करने में सहायता करती है। इसने श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण और सत्ता के हस्तान्तरण को सुलभ किया है।

- सचिवालय ने स्वयं को नीति क्रियान्वयन से मुक्त रखा है, उसके पास राज्य के बृहत हितों की पूर्ति के लिए दूरदर्शी कार्यक्रम तैयार करने का पर्याप्त समय होता है।
- मन्त्री नीति-निर्माण के तकनीकी पहलुओं से अनभिज्ञ होता है। पूरी तरह सचिवों पर निर्भर रहता है जो उसको तार्किक वस्तुगत परामर्श देते हैं। इस तरह मन्त्री विशेषज्ञ के चंगुल से बच जाता है।
- सचिवालय उन कार्यक्रमों का वस्तुगत मूल्यांकन करता है, जो क्षेत्रों में क्रियान्वित होते हैं। यह कार्यकारिणी संस्थाओं पर नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि जो कार्य वे करती है, उनका समीक्षक उन्हें नहीं बनाया जा सकता।

कुल मिलाकर सचिवालय एक उपयोगी संस्था है। इसने समय की मांग को पूरा किया है। सचिवालय का स्थान कोई संस्था नहीं ले सकती। सचिवों की सेवा अवधि के स्थायित्व ने इस संस्था को शक्ति, तेजस्विता और गतिशीलता प्रदान की है।

2.3 मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय

सचिवालय और मन्त्रिमण्डल के मध्य के कार्यालय को मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय कहा जाता है। यह एक कर्मचारी (स्टाफ) समूह है, जिसकी नीति-निर्माण की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण समन्वयक की भूमिका होती है। यह मुख्यमन्त्री के निर्देशन में कार्य करता है। मुख्यमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों के निजी सचिव और उनके कार्यालय इसका निर्माण करते हैं। मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय की परम्परा सर्वप्रथम सन् 1948 में पड़ी, जब केन्द्रीय कैबिनेट ने आर्थिक और सांख्यिकी समन्वय इकाई को केन्द्रीय कैबिनेट का एक अंग बना दिया है। इसका उद्देश्य विभिन्न मन्त्रालयों, विभागों से तत्कालीन सांख्यिकी इकाइयों से सम्बन्धित सूचना एकत्रित करके समय-समय पर कैबिनेट के सामने रखना था। इसका कार्य विभिन्न मन्त्रालयों के कार्यालयों को समन्वित करके परामर्श देना भी था।

मन्त्रिमण्डल की सक्षमता बहुत कुछ हद तक मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय की कार्यकुशलता पर निर्भर करती है। इसका मुख्य कार्य कैबिनेट की नीतियों के लिए एक अर्थपूर्ण कार्यक्रम (एजेन्डा) तैयार करना होता है तथा तार्किक कार्यवाही के लिए अनिवार्य सूचना तथा सामग्री प्रदान करना होता है। इसके साथ ही इसका कार्य कैबिनेट और समितियों की बहसों और निर्णयों का लेखा-जोखा रखना भी होता है।

मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय, मन्त्रिमण्डल और राज्यपाल के मध्य एक संवाद माध्यम है। वह सभी मन्त्रालयों से सम्बन्धित कार्यक्रम तय करता है तथा उन्हें मन्त्रालयों को आवंटित करता है। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय कैबिनेट समितियों को कार्यालयी सहायता प्रदान करता है।

संसदीय व्यवस्था में समितियों (कमेटीज) का बड़ा महत्व है। यह समितियाँ अन्तः मन्त्रालयों के मामलों की समीक्षा करती हैं और उसके नतीजों से शासन को अवगत कराती हैं। मन्त्रिमण्डलीय सचिव इन समितियों की अध्यक्षता करता है तथा लिये गये निर्णयों की सिफारिश सरकार से करता है।

2.4 मुख्य सचिव

प्रत्येक राज्य में एक मुख्य सचिव होता है। यह अधिकारी राज्य सचिवालय का केन्द्रीय बिन्दु होता है। यह सचिवालय के सभी विभागों को नियन्त्रित करता है। यह मात्र समानों में प्रथम ही नहीं है, यह सचिवों के प्रमुख है। राज्य प्रशासन में उसकी विभिन्न भूमिकाएं हैं और यही उसकी सर्वोच्च स्थिति निश्चित करती है।

मुख्य सचिव, मुख्यमन्त्री और राज्य कैबिनेट सचिव का परामर्शदाता होता है। वह सामान्य प्रशासन विभाग का मुखिया होता है। जिसका राजनैतिक मुखिया मुख्यमन्त्री होता है। राज्य प्रशासन में इसकी स्थिति अद्वितीय है। राज्य में जो कार्य वह करता है, केन्द्र में वही काम समान स्तर के तीन प्रमुख करते हैं अर्थात् कैबिनेट सचिव, गृह सचिव

तथा वित्त सचिव। मुख्य सचिव राज्य में सेवीवर्ग का भी प्रमुख है। वह राज्य सरकार, केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारों के मध्य संचार माध्यम है। वह सरकार का प्रमुख प्रवक्ता है। वह राज्य प्रशासकीय व्यवस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। पूरी प्रशासकीय व्यवस्था में उसके स्तर का कोई अधिकारी नहीं होता है।

यहाँ एक विशेष बात यह है कि मुख्य सचिव, कार्यकाल की अवधि से मुक्त है। वह या तो मुख्य सचिव की हैसियत से सेवा निवृत्त होगा या फिर यहाँ से केन्द्रीय शासन में अधिक महत्वपूर्ण पद पर जायेगा।

एक और बात को भी याद रखना होगा। यह आवश्यक नहीं है कि इस पद पर सर्वाधिक वरिष्ठ सेवीवर्ग का अधिकारी ही तैनात किया जाये। सन् 1973 तक यही स्थिति थी। राजनीतिक पसंद इस पद का मापदण्ड था। अब स्थिति यह है कि केन्द्रीय स्तर का अधिकारी ही इस पर पहुँचता है और उसको वेतन भी भारत सरकार के सचिव के बराबर मिलता है।

यहाँ यह सवाल भी उठता है कि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो जाने के बाद मुख्य सचिव की हैसियत क्या होती है? जहाँ राष्ट्रपति शासन के दौरान केन्द्र सलाहकार नियुक्त नहीं करता है, वहाँ मुख्य सचिव के पास वे सारी शक्तियाँ होती हैं जो मुख्यमंत्री की होती हैं। लेकिन सलाहकार नियुक्त हो जाते हैं तो मुख्य सचिव अपनी प्रशासकीय हैसियत में काम करता है, क्योंकि सलाहकार वरिष्ठ सेवीवर्ग के अधिकारी होते हैं।

2.4.1 मुख्य सचिव के कार्य

मुख्य सचिव के प्रमुख कार्य निम्न हैं-

1. मुख्य सचिव मुख्यमंत्री का मुख्य सलाहकार है। इस स्थिति में वह मंत्रियों द्वारा तय किये गये प्रस्तावों को संयोजित करके उनके प्रशासकीय नतीजों पर काम करता है।
2. मुख्य सचिव, कैबिनेट का सचिव है और इस हैसियत से वह कैबिनेट की मीटिंग का एजेन्डा तैयार करता है, उनकी व्यवस्था करता है, इन मीटिंगों के रिकार्ड सुरक्षित रखता है, यह निश्चित करता है कि मीटिंग के फैसलों पर अमल हो और वह कैबिनेट समितियों की सहायता करता है।
3. मुख्य सचिव सिविल सेवा का राज्य में मुखिया है। इस हैसियत से वह सिविल सेवा के अधिकारी को तैनाती तथा स्थानान्तरण सुनिश्चित करता है।
4. मुख्य सचिव अपनी शक्तिशाली स्थिति के कारण सचिवालय विभागों का मुख्य समन्वयक बन जाता है। वह अंतर-विभागों में सहयोग और समन्वय स्थापित करता है। इस उद्देश्य के लिए वह सचिवालय तथा अन्य स्तरों पर बैठके बुलाता है और उनकी अध्यक्षता करता है। बैठकों के माध्यम से वह विभिन्न अभिकरण के मध्य सहयोग और समन्वय स्थापित करता है।
5. सचिवों के प्रमुख की हैसियत से मुख्य सचिव अधिकांश समितियों की अध्यक्षता करता है और उनकी सदस्यता ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त वह उन सभी मामलों पर जो अन्य सचिवों के क्षेत्राधिकार में नहीं आते हैं, उनकी देख-रेख भी करता है। इस अर्थ में मुख्य सचिव अवशेष वारिस है।
6. मुख्य सचिव बारी बारी से जोनल परिषद का सदस्य होता है, यदि राज्य उस परिषद का सदस्य हो।
7. वह सचिवालय भवनों पर पूरा नियन्त्रण रखता है और कौन सा स्थान किसको आवंटित करना है, यह तय करता है। वह केन्द्रीय अभिलेख खण्ड, सचिवालय, पुस्तकालय तथा आरक्षित स्थानों पर नजर रखता है। मन्त्रियों से सम्बन्धित सेवीवर्ग पर भी नियन्त्रण रखता है।
8. संकट के समय मुख्य सचिव राज्य के स्नायू केन्द्र का काम करता है। वह संकट से सम्बन्धित अभिकरणों को नेतृत्व और मार्गदर्शन देता है, ताकि वह संकटों का सामना करके समाधान खोज सके। यह स्वीकार करना होगा सूखा, बाढ़ या साम्प्रदायिक दंगों के समय वह वास्तव में सरकार का प्रतिनिधित्व करता है और सम्बन्धित अभिकरणों के माध्यम से राहत पहुँचाता है।

संक्षेप में मुख्य सचिव राज्य का व्यस्ततम अधिकारी है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने मुख्य सचिव की इस प्रकार की व्यस्त शैली को आनावश्यक बताया है। उसने लिखा, “यह दुर्भाग्य की बात है कि राज्य का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्तियों के गजेट नोटिफिकेशन पर हस्ताक्षर करता है, पदोन्नतियों, स्थानान्तरणों अवकाश पर गौर करता है।” अतः मुख्य सचिव को इन कार्यों से मुक्ति मिलनी चाहिए।

अभ्यास प्रश्न-

1. मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय की परम्परा सर्वप्रथम सन् 1948 में पड़ी। सत्य/असत्य
2. मैक्स बेबर ने नीति और प्रशासन के पृथकता के औचित्य को स्वीकार किया है। सत्य/असत्य
3. सचिवालय वह भवन है, जिसमें मंत्री और सचिव के कार्यालय होते हैं। सत्य/असत्य
4. मंत्री राजनीतिक प्रमुख होता है और सचिव प्रशासनिक प्रमुख। सत्य/असत्य
5. सचिव शासन का सचिव है न की मंत्री का। सत्य/असत्य
6. अनुभाग सबसे निचली संगठनात्मक इकाई है जो अनुभाग अधिकारी के अन्तर्गत रहती है। सत्य/असत्य

2.5 सारांश

शब्द सचिवालय का अर्थ है, ऐसे विभागों का भवन, जो राजनीतिक स्तर पर मंत्रियों और प्रशासन के स्तर पर सचिवों के अधीनस्थ होते हैं। सचिव मंत्रियों को उनकी नीति-निर्माण तथा विधायनी कार्यों में सहायता करते हैं। संगठनात्मक तौर पर कार्यकारिणी विभागों के अध्यक्ष या प्रभारी पृथक एवं विशिष्ट प्रशासकीय इकाईयों का निर्माण करते हैं, जो पदसोपानीय दृष्टि से सचिवालय विभागों के अधीन होते हैं। अधिकांशतः कार्यकारिणी विभागों को निदेशालय कहा जाता है और उनके प्रमुखों को निदेशक कहा जाता है। निदेशालय नीति को क्रयान्वित करते हैं। प्रत्येक सचिवालय अनेक निदेशालय के प्रभारी होते हैं। मुख्य सचिव राज्य के प्रशासकीय ढाँचे के प्रमुख की हैसियत से प्रशासन को नेतृत्व प्रदान करता है तथा कार्यों में समन्वय लाता है। यह अधिकारी राज्य सचिवालय का स्नायू केन्द्र है।

2.6 शब्दावली

उत्तरदायित्व- जिम्मेदारी, क्रियान्वयन- कार्य करना, दूरगामी- बहुत आगे की सोचना या करना, परामर्शदाता- सलाह देना, सेवीवर्ग- प्रशासक या अधिकारी वर्ग

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य, 5. सत्य, 6. सत्य

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अवस्थी ए0- केन्द्रीय प्रशासन।
2. महेश्वरी, एस0 आर0- भारतीय प्रशासन।
3. महेश्वरी, एस0 आर0- स्टेट गवर्नमेन्ट इन इण्डिया।

2.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय शासन एवं राजनीति- डॉ0 रूपा मंगलानी।
2. भारतीय सरकार एवं राजनीति- त्रिवेदी एवं राय।
3. भारतीय शासन एवं राजनीति- महेन्द्र प्रताप सिंह।

-
4. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा
 5. भारतीय लोक प्रशासन- बी0 एल0 फड़िया
-

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सचिवालय को संरचना को स्पष्ट करते हुए सचिवालय की स्थिति और भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
2. सचिवालय विभाग तथा कार्यकारिणी विभाग का अन्तर को स्पष्ट करते हुए नीति और प्रशासन में सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
3. नीति निर्माण और विधायन में प्रशासकों की भूमिका की चर्चा कीजिए।
4. सचिवालय और मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय की विस्तार से व्याख्या कीजिए।

इकाई- 3 राज्य योजना आयोग

इकाई की संरचना

- 3.0 प्रस्तावना
- 3.1 उद्देश्य
- 3.2 राज्य योजना आयोग की संरचना
 - 3.2.1 राज्य योजना आयोग के उद्देश्य
 - 3.2.2 राज्य योजना आयोग द्वारा किये गये कार्य
- 3.3 उत्तराखण्ड की वर्तमान आर्थिक-सामाजिक स्थिति
- 3.4 योजना आयोग की उपलब्धियां और लक्ष्य
- 3.5 योजना और आर्थिक विकास पर सुझाव
- 3.6 सारांश
- 3.7 शब्दावली
- 3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

भारत में नियोजित आर्थिक विकास सन् 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना से आरम्भ होता है। नियोजित आर्थिक विकास का दृष्टिकोण एम0 विश्वेश्वरय्या ने अपनी पुस्तक 'प्लान्ड एकोनामी फार इण्डिया' में सन् 1934 में रखा था। बाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् 1938 में 'नेशनल प्लानिंग कमेटी' की स्थापना की। योजना आयोग की स्थापना 15 मार्च, 1950 में की गयी। यहाँ यह याद रखना होगा कि योजना आयोग का कोई उपबन्ध संविधान में नहीं है। अर्थात् योजना आयोग एक संवैधानिक संस्था नहीं है। यह एक सलाहकारी संगठन है। इसके प्रारम्भिक कार्य देश के आर्थिक विकास से सम्बन्धित तार्किक परामर्श देना तथा आर्थिक तत्वों का निष्पक्ष विश्लेषण करना है। यह सब कुछ देश के संसाधनों को ध्यान में रखकर किया जाता है।

राज्यों में भी केन्द्र के आधार पर राज्य योजना आयोग बनाये गये हैं। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय योजना आयोग की सिफारिश पर उत्तर प्रदेश राज्य में सन् 1972 में राज्य आयोग की, मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में स्थापना की गयी। पृथक राज्य का दर्जा पाने के बाद उत्तराखण्ड में भी राज्य योजना आयोग अस्तित्व में आया है। इस आयोग का एक उपाध्यक्ष भी होता है। इसके सदस्य विभिन्न विषयों के सरकारी और गैर-सरकारी नामचीन व्यक्ति होते हैं।

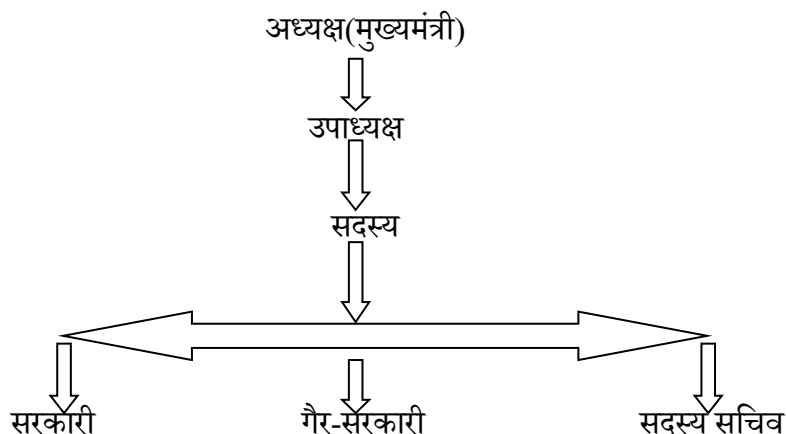
3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्य योजना आयोग की संरचना को समझ पायेंगे।
- राज्य योजना आयोग के उद्देश्यों को जान सकेंगे।
- राज्य योजना आयोग ने जो कार्य किये हैं, वह समझ पायेंगे।
- विभिन्न योजनाओं की समीक्षा की जायेगी, जिसे आप जान सकेंगे।

3.2 राज्य योजना आयोग की संरचना

राज्य योजना आयोग में एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष सहित सरकारी और गैर-सरकारी विभागों के लोग सदस्य के तौर पर होते हैं। योजना आयोग का अध्यक्ष राज्य का मुख्यमंत्री होता है जो आयोग का पदेन अध्यक्ष होता है।



3.2.1 राज्य योजना आयोग का उद्देश्य

राज्य योजना आयोग के उद्देश्यों को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं-

1. राज्य के भौतिक, वित्तीय और मानवीय संसाधनों का अनुमान लगाना तथा उनसे सम्बन्धित उचित निर्णय लेना।
2. राष्ट्रीय योजना के उद्देश्यों और वरीयताओं के अनुसार राज्य योजनाएं तैयार करना।
3. दोनों अल्प अवधि और दीर्घ अवधि के क्षेत्रीय और अचलीय योजनाओं को स्वीकृति देना और राज्य के संसाधनों का संतुलित और प्रभावशाली उपयोग सुनिश्चित करना।
4. उन तत्वों की पहचान करना जो आर्थिक और सामाजिक विकास को रोकते हैं और उन उपायों पर विचार करना जो योजनाओं को सफलतापूर्वक पूरा कर सके।
5. राज्य के भीतर क्षेत्रीय असंतुलन के निराकरण के लिये नीतियाँ तैयार करना।
6. वार्षिक योजना की रूपरेखा तैयार करने के लिये आवश्यक निर्देश देना।
7. पंचवर्षीय योजनाओं की तैयारी के लिये आवश्यक रूप रेखा प्रदान करना।
8. अन्य कार्य जो राज्य सरकार सौंपे।
9. संसाधनों के प्रभावकारी और संतुलित उपयोग के लिये योजनाएं तैयार करना।
10. योजनाओं के प्रभावकारी और सफल क्रियान्वयन के लिये उचित कार्यतन्त्र को प्रस्तावित करना।
11. प्रत्येक चरण पर योजनाओं की सफलता को आंकना और उनको अधिक सफलता के लिये सुधारात्मक उपाय सुझाना।
12. आयोग को सौंपे गये मामलों पर परामर्श देना तथा/अथवा उन समस्याओं से सरकार को अवगत कराना जिनका सामना आयोग करता है।

3.2.2 राज्य योजना आयोग द्वारा किये जाने वाले कार्य

राज्य योजना आयोग द्वारा निम्नांकित कार्यों का सम्पादन किया जाता है-

1. पंचवर्षीय और वार्षिक योजनाएं बनाना।

2. राष्ट्रीय विकास योजना के अनुरूप राज्य की पंचवर्षीय योजना का खाका तैयार करना और यह ध्यान रखना कि यह राज्य सरकार के दृष्टिकोण के अनुसार हो।
3. राज्य सरकार के दृष्टिकोण को राष्ट्रीय विकास परिषद (एनडीसी) के सामने रखना।
4. राज्य की पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य और रणनीति को सुनिश्चित करना।
5. योजना आयोग के अध्यक्ष (मुख्यमन्त्री) तथा उपाध्यक्ष से परामर्श करके राज्य की पंचवर्षीय योजनाओं तथा वार्षिक योजना की लागत (व्यय) को अन्तिम रूप देना।
6. राज्य की पंचवर्षीय योजना तथा वार्षिक योजना का प्रारूप तैयार करना।
7. विकास विभागों को प्रारम्भिक लागत आवंटित करना।
8. विभागीय प्रस्तावों की जाँच-पड़ताल करना।
9. विभागीय प्रस्तावों को अन्तिम रूप देकर योजना आयोग की स्वीकृति प्राप्त करना।
10. प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अन्त में लागत के संशोधन के लिये समायोजन प्रस्ताव प्रस्तुत करना।
11. वार्षिक योजना की वित्तीय व भौतिक प्रगति के मूल्यांकन के लिये विकास विभागों की मासिक बैठकें बुलाना।
12. केन्द्रीय प्रतिभूत (स्पान्सर्स) योजनाओं का लेखा-जोखा विकास विभागों/केन्द्रीय योजना आयोग/केन्द्रीय मंत्रियों को देना और समन्वयन लाना।
13. वे कार्य करना जिसका सम्बन्ध वित्त आयोग से है।
14. जिला योजनाओं के लिये रूपरेखा तैयार करना और जिलों को लागत आवंटित करना।
15. जिला योजनाओं की जाँच-पड़ताल करना और उन्हें अन्तिम रूप देना।

3.3 उत्तराखण्ड की वर्तमान आर्थिक-सामाजिक स्थिति

उत्तराखण्ड एक नया राज्य है जो सन् 2000 में अस्तित्व में आया। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इसकी कुल आबादी 1,01,16,752 है। साक्षरता में इसने 9.2 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की है। विकास के अन्य मुद्दों पर यद्यपि अभी जानकारी उपलब्ध नहीं कराई गयी है, लेकिन संक्षेप में सन् 2002 में प्राप्त विभिन्न आंकड़ों के आधार पर उत्तराखण्ड के आर्थिक और सामाजिक विकास पर एक नजर डाली जा सकती है। यहाँ यह भी याद रखना होगा कि केन्द्र ने उत्तराखण्ड को विशेष राज्य का दर्जा दिया है, जिस कारण अपनी योजनाओं के लिये 90 प्रतिशत से अधिक राशि सहायता के रूप में केन्द्र से प्राप्त होती है। विभिन्न मुद्दों की संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है-

1. **निर्धनता और मानव विकास-** उत्तराखण्ड राज्य आयोग की रिपोर्ट के अनुसार 4,16,018 लोग राज्य में गरीबी की रेखा से नीचे रहते थे (सन् 2002)। लेकिन सन् 2001 की जनगणना के अनुसार 29-28 लाख लोग सन् 2001 में गरीबी की रेखा से नीचे रहते थे। योजना आयोग ने इसकी पुष्टि की है। इस तरह राष्ट्रीय पैमाने पर यह आंकड़े अधिक थे। यह स्थिति तब थी, जब 320 करोड़ रुपये वार्षिक, उत्तराखण्ड के प्रवासियों द्वारा भेजा जाता था। आज भी पहाड़ के लोगों के अस्तित्व का यही सबसे बड़ा आधार है।
2. **कैलोरी की दृष्टि से गरीबी रेखा-** योजना आयोग ने निम्नतम प्रति व्यक्ति, प्रति दिन कैलोरी (भोजन द्वारा प्राप्त ऊर्जा की इकाई) लेने की सीमा भारत में 2400 आंकी है। पहाड़ में भौगोलिक दृष्टि से कैलोरी लेने की सीमा 2875 प्रति दिन होनी चाहिए, लेकिन वास्तविकता यह है कि लोगों को 2400 कैलोरी भी नहीं मिल पाती जो गरीबी रेखा को अंकित करती है।
3. **पेयजल की उपलब्धता-** उत्तराखण्ड में पेयजल का मुख्य स्रोत प्राकृतिक संसाधन है। गावों में पेयजल का सदियों से यही आधार है। योजना आयोग का इस ओर ध्यान भ्रामक है। जो योजनाएँ इस दिशा में

बनी हैं वे त्रुटिपूर्ण है। पेयजल के मौजूद स्रोत प्रायः सूख रहे हैं। कारण जंगल कटान है। पहाड़ी नगरों में पेयजल की स्थिति और भी चुनौतीपूर्ण है।

4. **विद्युत की उपलब्धता-** अनेक बार उत्तराखण्ड को विद्युत प्रदेश कहा गया है, लेकिन विद्युत प्रणाली इतनी त्रुटिपूर्ण है कि राज्य में विद्युत का संकट सदा बना रहता है। मुख्य विद्युत लाइन प्रत्येक क्षेत्र तक जाती है परन्तु अपर्याप्त विद्युत होने के कारण उसका कोई लाभ नहीं हो पाता। स्थिति यह है कि जो सन् 1985 से 88 में खम्बे लगाये गये थे उनको विद्युत सप्लाई सन् 2000 में दी गयी। दूसरे पहाड़ के गावों में विद्युत एक अनिवार्यता नहीं है, क्योंकि उसका व्यय वहन करने की लोगों में क्षमता नहीं है। स्थिति यह है कि, यद्यपि प्रत्येक गाँव तक विद्युत लाइनें पहुँची हैं, लेकिन सन् 2010 तक 50 प्रतिशत लोगों ने कनेक्शन नहीं लिये थे।
5. **उत्तराखण्ड में स्वास्थ्य की स्थिति-** स्वास्थ्य से सम्बन्धित आंकड़ें पूरी तरह उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि स्थिति अन्य राज्यों से बेहतर है। कारण है साक्षरता में वृद्धि, ठन्डी जलवायु तथा रहने के परम्परागत तरीके। लेकिन कुपोषण की समस्या बनी हुई है। पुरुषों की अपेक्षा, स्त्रियाँ और बच्चे अधिक बीमार हैं।
6. **विकलांग लोगों की समस्या-** सरकारी आंकड़ों के अनुसार उत्तराखण्ड में कुल आबादी का 10 प्रतिशत, लगभग 9 लाख से अधिक लोग विकलांग हैं, परन्तु गैर-सरकारी संगठनों के अनुसार यह संख्या 15,000 है। सरकारी पहुँच विकलांगों तक नहीं है, परन्तु विकलांगों को स्वयं जिला मुख्यालय आकर पंजीकृत कराना होता है। इस दिशा में सरकार का कोई नियोजित कार्यक्रम नहीं है।
7. **बच्चों के श्रम की स्थिति-** उत्तराखण्ड में न तो ऐसी फैक्ट्रीयां हैं और न ही ऐसे कुटीर उद्योग-धन्धे, जहाँ बच्चों से काम लिया जाता हो। अधिकांश लोग छोटे पैमाने पर कृषि पेशे से जुड़े हैं। वे ही भू-स्वामी हैं और वे ही मजदूर। ऐसी स्थिति में बच्चों से काम लेने का न तो अवसर है और न औचित्य। इसलिए इस दिशा में सरकार की न तो कोई सोच है और न कोई योजना।
यह एक कटु सत्य है कि पहाड़ के बच्चे, जिनके माता-पिता बहुत निर्धन हैं, वे बच्चे काम करने के लिए नगरों में जाते हैं और वहाँ अक्सर होटलों में काम करते हैं। सरकार को इस ओर कोई ध्यान देना होगा। एक रिपोर्ट के अनुसार ऐसे बच्चों की संख्या लगभग 3.5 लाख है।
8. **भौतिक पर्यावरण का मुद्दा-** भौतिक पर्यावरण का सम्बन्ध वैसे तो पूरे देश से है, लेकिन पहाड़ों से विशेष रूप से है। बाहरी लोग जो छोटे व्यापारियों या मजदूरों के रूप में पहाड़ों में आते हैं, पर्यावरण के प्रति गम्भीर नहीं होते। तराई तथा भाबर के क्षेत्र जो जंगलों से भरे थे बाहरी लोगों के आने के बाद कृषि भूमि में बदल गये। इससे पर्यावरण को गहरा आघात लगा। पहाड़ के जंगलों में आग लगना एक गंभीर समस्या है। पहाड़ी क्षेत्रों में खनन ने भी पर्यावरण को चुनौती दी है। झरनें, तालाब और नदियां सूखने लगे हैं। बड़े पैमाने पर भवन निर्माण ने इस स्थिति को और गंभीर किया है। सरकार की इस दिशा में योजनाएँ हैं, परन्तु वे प्रभावी नहीं हैं। जंगलों की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है। लोगों के आचरण को बदलना और पर्यावरण संरक्षण में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना अनिवार्य है।
9. **कानून और व्यवस्था-** उत्तराखण्ड राज्य बनने के बाद अचानक राज्य में अपराधों में वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश की सीमाओं से सटे नगरों में छोटे अपराधियों का इतिहास पहले से रहा है। नये विकास कार्यों ने भू-जंगल, बजरी, शराब माफिया की पकड़ को मजबूत किया है। वे प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार जमा कर राजनीति पर कब्जा करना चाहते हैं। यह स्थिति भावी उत्तराखण्ड के लिये चुनौतियों से भरी है। इस स्थिति से निपटने के लिये एक प्रभावकारी राजनीति की आवश्यकता है।

10. बेरोजगारी और निर्धनता- उत्तराखण्ड राज्य सरकार के आंकड़ों के अनुसार सन् 2002 तक 348675 युवा रोजगार कार्यालय में पंजीकृत थे। इनमें से सरकार ने 194 लोगों को रोजगार दिया जबकि सन् 2002 तक अन्य निजी निकायों के माध्यम से 2865 लोगों को रोजगार दिया गया। बेरोजगारी दर पूरे भारत में 2.2 से लेकर 7 प्रतिशत तक बढ़ रही है। उत्तराखण्ड में भी स्थिति लगभग यही है। सरकार की योजना मानव संसाधनों का विकास करके रोजगार के अवसर बढ़ाना है। लोगों को प्राकृतिक संसाधनों से जोड़कर जिनमें भूमि, खनिज पदार्थ और पानी भी सम्मिलित है, निर्धनता का समाधान ढूँढा जा सकता है। बेरोजगारों को प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में लगाकर समस्या का हल निकल सकता है।

3.4 योजना आयोग की उपलब्धियाँ और लक्ष्य

उत्तराखण्ड राज्य की उपलब्धियों को संक्षेप में बताया जा सकता है-

वृहत स्तर पर (मेकरो लेवल) विकास वृद्धि दो अंकों में हुई है, जबकि लक्ष्य 6.8 प्रतिशत वृद्धि का था। आशा यह की जाती है कि 11वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान यह वृद्धि 9.9 प्रतिशत होगी। जबकि राष्ट्रीय लक्ष्य 9 प्रतिशत है। इसका कारण है कि इसने जमीन से विकास कार्यक्रम को आरम्भ किया है।

भौगोलिक-भौतिक परिस्थितियों के कारण राज्य में विशेष रूप से कृषि, उद्योग तथा संरचना के सन्दर्भ में क्षेत्रीय असमानता को स्वीकार किया गया है। सरकार की ओर से असमानता और विभाजन को सबसे बड़ी चुनौती माना गया है। यह असमानता न केवल क्षेत्रीय है, बल्कि जातीय, वर्गीय, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक भी है। योजना आयोग ने योजनाएँ बनाते समय इस असमानता को ध्यान में रखा है।

पर्यावरण संरक्षण एक दूसरी चुनौती है। यहाँ योजना आयोग ने जन भागीदारी को सुनिश्चित किया है, इसलिये सूचना के अधिकार अधिनियम- 2005 को राज्य में कठोरता से लागू किया गया है।

योजना आयोग ने उत्तराखण्ड में सन् 2004-05 तक निर्धनता अनुपात 38.8 प्रतिशत आंका था और लक्ष्य यह था कि इस अनुपात को सन् 2011-12 तक 23.6 तक लाया जाये।

आवश्यकता इस बात की है कि कृषि वृद्धि की दर को बढ़ाया जाय। सन् 2010 तक कृषि वृद्धि की दर 2.62 प्रतिशत आंकी गई। इसको 4 प्रतिशत तक लाने का लक्ष्य है। योजना आयोग ने उत्तराखण्ड में क्रान्तिकारी औद्योगिक कदम उठाये है। सन् 2010 से 2013 तक लिये एक औद्योगिक प्रस्ताव (पैकेज) देने का वायदा किया, जिसके तहत एक विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) बनाने की बात कही गई है। औद्योगिक गति को तेज करने के लिये 11वीं योजना के तहत रूड़की तक रेलवे लाइन बिछाने तथा देहली और देहरादून के बीच '6 लेन' सड़क निर्माण की बात कही गई है। विकास के लिये एक मजबूत संरचना अनिवार्य है। यहाँ सबसे बड़ी भूमिका विद्युत (पावर) की है। औद्योगीकरण की यह एक अनिवार्य शर्त है। इसके लिये सरकार ने ऋण एशियन डब्लुपेन्ट बैंक (ए0डी0बी0) से लेने की बात की है।

सन् 2002 में सिडकुल (उत्तराखण्ड सरकार उद्यम) की एक लिमिटेड कम्पनी के रूप में स्थापना की गई। इसमें सरकार ने पहली बार 50 करोड़ और दोबारा 20 करोड़ का पूँजी निवेश किया। उद्देश्य था राज्य में उद्योगों का विकास। परिणाम स्वरूप देहरादून से लेकर सितारगंज तक उद्योगों का एक सिलसिला स्थापित हो गया।

अन्त में सरकार के प्रयासों से राज्य में साक्षरता दर 82 प्रतिशत हुई है। जंगलों का आकार 68 प्रतिशत से बढ़कर 70 प्रतिशत हुआ है। जी0डी0पी0 126593 मिलियन है। एन0डी0पी0 (आई0एन0आर0) 113420 मिलियन हुआ है।

3.5 योजना और आर्थिक विकास: सुझाव

मेजर डी0 एस0 बिष्ट द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार उत्तराखण्ड सरकार को नियोजन और विकास की ओर बड़ा सर्तक होकर आगे बढ़ना होगा। उन्होंने अपने अध्ययन “पावरटी प्लानिंग एण्ड डेवलपमेन्ट” में नियोजन से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।

उत्तराखण्ड जैसे पहाड़ी राज्यों के लिये योजना आयोग द्वारा बनाये गये मापदण्ड पहाड़ के लोगों के लिये सामयिक नहीं हैं। वन और कृषि यहाँ के जीवन का अस्तित्व है। सदियों से यहाँ के निवासी वन और कृषि से जीवन यापन करते आये हैं। आधुनिकीकरण ने आत्म निर्भरता को चोट पहुँचायी है। राज्य योजना आयोग को यथार्थता को ध्यान में रखकर पहाड़ के लिये योजनाएँ बनानी चाहिए।

राज्य के हितों को दृष्टि में रखकर यह स्वीकार करना होगा कि केन्द्र द्वारा बनाई गयी अनेक विकास योजनाएँ आवश्यक नहीं हैं कि उत्तराखण्ड के लिए लाभकारी हों। नतीजा यह होता कि जब सरकार उन योजनाओं के कार्यान्वयन में असफल होती है तो केन्द्रीय सहायता स्वतः समाप्त हो जाती है। अतः राज्य को केन्द्रीय योजनाओं को परिस्थितियों के अनुसार संशोधित करने का अधिकार होना चाहिए।

पंजाब और हरियाणा में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई है। कारण है हरित क्रान्ति जो केन्द्र के उदार अनुदान से सम्भव हुई है। उत्तराखण्ड को भी ऐसी सहायता मिलनी चाहिए।

विद्युत और जल संसाधनों पर, जिनका बंटवारा अन्य राज्यों को होता है, उत्तराखण्ड को इसका हिस्सा (रायल्टी) मिलनी चाहिए।

उत्तराखण्ड राज्य का 60 प्रतिशत भू-भाग जंगलों से ढका हुआ है। केन्द्र द्वारा इसका हरजाना दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य के युवकों को कृषि और जंगलों से जोड़ने के लिए विशेष योजनाएँ होनी चाहिए।

उत्तराखण्ड तथा हिमाचल की परिस्थितियाँ लगभग एक जैसी ही हैं। मात्र इसके की हिमाचल की ग्रामीण अर्थव्यवस्था उत्तराखण्ड से बेहतर है। उत्तराखण्ड में 1.50 लाख सरकारी कर्मचारी हैं। जबकि हिमाचल में यह संख्या 2.50 लाख है। हिमाचल ने सन् 2002 से लेकर 2010 तक 12 लाख लोगों को रोजगार देने का वायदा किया है। जबकि उत्तराखण्ड में 2 लाख लोगों को रोजगार देने की योजना है। यदि नियोजन सही हो तो अधिक लोगो को रोजगार मिल सकता है।

केन्द्र नियोजन का आधार बड़ा तार्किक है और समनवित होता है। ऐसा उत्तराखण्ड में नहीं है। राज्य योजना आयोग को चाहिए कि वो वरीयताओं को निश्चित करें, जिसके तरह राज्य की वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाएं योजना आयोग द्वारा स्वीकृत होती है। उसी तरह जिला योजना को योजना आयोग की स्वीकृति मिलना चाहिए। ऐसा इसलिए जरूरी है कि यहाँ जिलों में प्राकृतिक संसाधनों और मानव संसाधनों की दृष्टि से गहरा अंतर है।

सरकार या गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा बनाई योजनाओं में जैव विवधता (Bio-diversity) के सिद्धान्त की अनदेखी की गयी है। इसका नतीजा यह निकला है कि भूमि उत्पादकता घटी, जल स्रोत सूख गये तथा वन-सम्पदा का हास हुआ। पहाड़ का जीवन और संस्कृति जीव विवधता पर टिकी हुई है। योजनाएँ स्थानीय लोगों को प्राकृतिक संसाधनों से जोड़ने के लिए बननी चाहिए।

अध्ययन से यह भी पता चलता है कि शासन की ओर से विभिन्न अभिकारगों, विभागों तथा शोध संस्थाओं को पहाड़ की योजनाएँ बनाने के लिए बिना योजना आयोग से तालमेल की पूर्ण स्वतंत्रता मिली हुई है। इन संस्थाओं को विभिन्न आंतरिक और बाहरी स्रोतों से भरपूर पैसा मिल रहा है। जो प्रबन्धकों की जेबों में अधिक और योजनाओं में कम लग रहा है। न तो इससे युवकों को नौकरी मिलती है और न गरीबों की आय बढ़ती है। सरकार को इन संस्थाओं की जवाबदेही सुनिश्चित करनी चाहिए।

उत्तराखण्ड में गैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) की बाढ़ सी आयी हुई है। एक अनुमान के अनुसार ऐसे लगभग 450 संगठन यहां कार्यरत हैं। उनका दावा है कि उन्होंने कम पैसे में उत्तराखण्ड का बड़ा विकास किया है। ऐसे दावे सरकार को भ्रमांक करते हैं। अक्सर यह संगठन जाली और उनके दावे झूठे होते हैं। सरकार को चाहिए कि या तो वे इनसे विकास कार्यों में सामंजस्य बनाए या इनकी गतिविधियों को सीमित रखे।

उत्तराखण्ड अथवा अन्य पहाड़ी राज्यों पर समाजशास्त्र के द्वारा किये जाने वाले शोधों का योजना आयोग को सदुपयोग करना चाहिए।

पहाड़ों में ईंट, लोहा, बजरी के भवन नहीं बनाना चाहिए। आरसीसी की छतों के निर्माण को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। भवन भूकम्प निराधी होने चाहिए, जिसके लिए स्थानीय परम्परागत तकनीक का प्रयोग हो।

उत्तराखण्ड में 15793 गांव तथा 86 छोटे नगर हैं। प्रत्येक स्थान को पर्यटन स्थल में बदला जा सकता है। इन स्थलों में आधुनिक सुविधाएं होनी चाहिए, इससे देहरादून, हरिद्वार, नैनीताल, उधमसिंह नगर, हल्द्वानी इत्यादि पर दबाव कम होगा। स्थानीय बाजारों का विकास किया जाना चाहिये, ताकि यहाँ का सामान पड़ोस के ग्रामीण इलाकों के लोग खरीद सकें या अपने द्वारा उत्पादित सामान का विक्रय कर सकें।

पहाड़ों में आद्योगिक विकास योजना पूरी तरह असफल हुई है। अनेक उद्योग जैसे एचएमटी, हल्द्वानी, यूपीटी टैक्सटाइल मील, फलोमोर पालिस्टर लि, काशीपुर बहुत पहले बीमार घोषित हो चुकी हैं। दूसरे उद्योग जैसे एआरसी सीमेंट फैक्ट्री देहरादून, यूपीटी सरकार की कैलशियम कार्बोहाइड्रेट फैक्ट्री बंद हो चुकी है। इससे एक नतीजा यह निकलता है कि पहाड़ों में आद्योगिक विकास कृषि आधारित होना चाहिए। या वन सम्पदा आधारित लघु उद्योग स्थापित होने चाहिए।

यहाँ यह याद रखना होगा कि बावजूद इन असफलताओं के पृथक राज्य बनने के बाद उत्तराखण्ड में नई उद्योग नीति घोषित की गयी है। नई औद्योगिक नीति- 2003 के अनुसार उत्तराखण्ड के औद्योगिकरण के लिए एक नियमित ढांचा तैयार किया गया है। इस नीति के तहत उत्तराखण्ड एकीकृत औद्योगिक जागीर की स्थापना निजी संसाधनों का दोहन करके की जायेगी। सरकार निजी भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए तमाम सुविधाएं प्रदान करने को तैयार है। परिणाम स्वरूप, एचएलएल तथा डाबर जैसे बड़े उद्यमियों ने राज्य में अपनी इकाइयां स्थापित की हैं। यहाँ सवाल यह पैदा होता है कि क्या यह इकाइयां सफल होंगी? या क्या इनसे स्थानीय लोगों को रोजगार मिलेगा? यह समय बतायेगा।

उत्तराखण्ड में पारम्परिक तांबे के बर्तनों का लघु उद्योग बहुत पुराना है। सुनहरी का काम भी अच्छा होता है। गरम वस्त्रों के उद्योग के लिए भी अवसर है। योजना आयोग को इन काम-धन्धों के प्रोत्साहन के लिए काम करना होगा। गरीबी दूर करने के लिए एक संयुक्त कार्यक्रम की आवश्यकता है। भूमि हीनों, विधवाओं, बूढ़ों, बीमारों तथा विकलांगों के लिए योजनाएं बननी चाहिए, चाहे उनका सम्बन्ध किसी वर्ग से हो।

अन्त में अचलीय कार्यक्रम, जल प्रबंधन और विकास, वन पर्यावरण तथा वन जीवन, सिंचाई तथा बाढ़ नियंत्रण इत्यादि पर भी ध्यान देना होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. गैर-सरकारी संगठनों का संक्षिप्त रूप एनजीओ है। सत्य/असत्य
2. उत्तराखण्ड को विशेष राज्य का दर्जा मिला हुआ है। सत्य/असत्य
3. भारत में नियोजित आर्थिक विकास 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना से आरम्भ होता है। सत्य/असत्य
4. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् 1938 में नेशनल प्लानिंग कमिटी की स्थापना की। सत्य/असत्य
5. योजना आयोग की स्थापना 15 मार्च 1950 में की गयी थी। सत्य/असत्य
6. उत्तराखण्ड का 60 प्रतिशत भूभाग जंगलों से ढका है। सत्य/असत्य

3.6 सारांश

राज्य योजना आयोग एक गैर संवैधानिक संस्था है। यह एक सलाहकार संगठन है। इसकी संरचना राष्ट्रीय योजना आयोग पर आधारित है। इसके मौलिक कार्य राज्य के आर्थिक विकास से सम्बन्धित तार्किक परामर्श देना तथा आर्थिक तत्वों का निष्पक्ष विश्लेषण करना है। यह सब कुछ राज्य के अपने संसाधनों तथा केन्द्र से मिलने वाले अनुदानों या अन्य वाह्य ऋण इत्यादि को ध्यान में रखकर किया जाता है।

उत्तराखण्ड राज्य बनने के बाद यहाँ पर भी योजना आयोग की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य राज्य के भौतिक, वित्तीय और मानवीय संसाधनों का आंकलन करके राज्य में योजनाएँ तैयार करना है। इसको यह भी देखना कि योजनाएँ ऐसी हो, जो राष्ट्रीय वरीयताओं के अनुरूप हों। यह वार्षिक योजना और पंचवर्षीय योजनाओं को ध्यान में रखकर राज्य की योजनाओं को बनाता है।

उत्तराखण्ड को विशेष राज्य का दर्जा मिला हुआ है। राज्य योजना आयोग ने राज्य के विकास के लिए कुछ अच्छे काम किये हैं। विशेषरूप से राज्य में औद्योगिक गतिविधियाँ तेज हुई हैं। सिडकुल कारपोरेशन ने बाहरी उद्यमियों की सहायता से देहरादून से लेकर सितारगंज तक उद्योगों का जाल बिछाया है। राज्य सरकार योजना आयोग की सहायता से राज्य में भौतिक संरचना तैयार करने में सफल हुई है। योजनाओं से सम्बन्धित विभिन्न अध्ययनों से पता चला है कि राज्य के सामने बहुमुखी विकास की अनेक चुनौतियाँ हैं, जिनका सामना कुशल नेतृत्व तथा योग्य प्रबन्धन कर सकता है।

3.7 शब्दावली

गरीबी रेखा- वह पैमाना जिसका आंकलन योजना आयोग समय-समय पर करता है तथा जिसके नीचे रहने वाले अति निर्धन लोग होते हैं। स्पेशल एकोनामिक जोन- औद्योगिकरण के लिए बनाया गया एक विशेष आर्थिक क्षेत्र जैसे- उत्तराखण्ड में सिडकुल। बायो डाइवर्सिटी- विभिन्न जीव जिसके अन्तर्गत पूरे जीवन का ताना-बाना, संस्कृति, परम्पराएँ इत्यादि आती है।

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य, 5. सत्य, 6. सत्य

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उत्तर प्रदेश, संजय कुमार।
2. पृथक पर्वतीय राज्य, नवीन चद्र ढोडियाल।
3. उत्तराखण्ड टूडे, खड्ग सिंह वल्दिया।

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. एड्रेस ऑफ़ एन0 डी0 तिवारी इन दि 52 मीटिंग ऑफ़ नैशनल डेवलपमेंट कौंसिल, 9 दिसम्बर, 2006, एन0डी0 तिवारी।
2. स्टडी रिपोर्ट आन दि प्लानिंग आफ़ उत्तराखण्ड (वेबसाइट), मेजर डी0एस0 बिष्ट।

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य योजना आयोग के संगठन और कार्यों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 4 राज्य लोक सेवा आयोग

इकाई की संरचना

- 4.0 प्रस्तावना
- 4.1 उद्देश्य
- 4.2 सिविल सेवा का अर्थ
- 4.3 लोक सेवा आयोग का महत्व
- 4.4 राज्य स्तर पर सिविल सेवा के कारक
 - 4.4.1 अखिल भारतीय सेवाएं
 - 4.4.2 राज्य सेवाएं
- 4.5 राज्य सिविल सेवाओं का वर्गीकरण
 - 4.5.1 प्रथम प्रणाली के आधार पर वर्गीकरण
 - 4.5.2 राजपत्रित एवं अराजपत्रित वर्गीकरण
- 4.6 राज्य सिविल सेवाओं की भर्ती
- 4.7 आयोग के सम्बन्ध में संवैधानिक प्रावधान
- 4.8 उत्तराखण्ड लोक सेवा आयोग
- 4.9 आयोग के कार्य
- 4.10 आयोग की स्वतंत्रता
- 4.11 सारांश
- 4.12 शब्दावली
- 4.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.16 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

राज्य लोक सेवा का अभिप्राय उन सेवाओं या पदों से है, जिनकी भर्ती व सेवा की शर्तें राज्य विधान सभा के अधिनियम के द्वारा या जब तक ऐसी विधि पारित न हो, राज्यपाल द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार नियमित की जाती है। (अनुच्छेद- 309)

राज्य सरकारें अपने-अपने राज्यों में लोक सेवकों की भर्ती लोक सेवा आयोग द्वारा करती है। संविधान के अनुच्छेद- 315 के अन्तर्गत राज्य में लोक सेवा आयोग की स्थापना करने की व्यवस्था है।

इस इकाई में सिविल सेवाओं की प्रकृति का वर्णन किया गया है। सेवाओं का वर्गीकरण और भर्ती के अनेक पहलुओं की विवेचना की गयी है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राज्य स्तर पर सिविल सेवकों के कारकों तथा राज्य सेवाओं के मानदंड तथा वर्गीकरण को समझेंगे।
- उत्तराखण्ड के लोक सेवा आयोग के गठन के बारे में जान पायेंगे।

- राज्य सेवाओं की भर्ती प्रणाली को समझेंगे।
- आयोग की भूमिका तथा इसके महत्व को समझ पायेंगे।

4.2 सिविल सेवा का अर्थ

राज्य सेवाओं का अर्थ, राज्य स्तर की सिविल सेवाओं से है। सिविल सेवा सरकार द्वारा सेवा में नियुक्त असैनिक कर्मचारियों को कहते हैं। सिविल सेवा एक कैरियर सेवा है। अर्ध-सरकारी निकायों के कर्मचारी तथा अधिकारी सिविल सेवा का अंग नहीं होते। सिविल सेवा का एक आवश्यक अंग या उपादान योग्यता प्रणाली की अवधारणा है। योग्यता प्रणाली का अर्थ है, सिविल सेवा के पदों के लिये खुली प्रतियोगिता परीक्षा के द्वारा जाँची गयी योग्यता के आधार पर चयन। राज्य लोक सेवा में ग्रामीण व नगरीय सेवाएं सम्मिलित नहीं है। राज्य शासन इस प्रकार राज्य तथा अधीनस्थ सेवाओं के प्रथम नियुक्ति, नियुक्ति प्रणाली, संख्या और पदस्वरूप तथा सेवा शर्तों के सम्बन्ध में नियम निर्माण की शक्ति का उपयोग करते हैं। इन सेवाओं से सम्बन्धित मामलों में यह अंतिम सत्ता है। राज्य के बाहर किसी भी अन्य सत्ता के समक्ष कोई अपील या प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता है। संक्षेप में राज्य सेवाएं उन सेवाओं को मिला कर बनती हैं, जिन्हें राज्य शासन समय-समय पर अधिकृत गजट में अधिसूचित करता है। एक स्वतंत्र एजेंसी द्वारा योग्यता के प्रमाणित प्रतियोगिता के आधार पर लोक सेवकों का चयन किया जाता है। राज्य स्तर पर भर्ती करने वाली एजेंसी को राज्य लोक सेवा आयोग कहते हैं।

4.3 लोक सेवा आयोग का महत्व

यह सबसे महत्वपूर्ण बात है कि सिविल सेवा के लिये भर्ती किसी भी पक्षपात के बिना हो। इसी से योग्यता प्रणाली में विश्वास उत्पन्न हो सकता है। भर्ती में निष्ठा तथा निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिये बहुत से उपाय योग्यता प्रणाली के प्रादुर्भाव के बाद विकसित किये गये हैं। कार्यपालक शाखा को सिविल सेवा के लिये भर्ती करने की शक्ति से वंचित रखा गया है और इस उद्देश्य के लिये एक अलग एजेंसी की स्थापना की गयी है। यह विभाग से अलग संस्था है, अर्थात् एक आयोग है। जो सरकार की आम मशीनरी से बाहर रह कर कार्य करती है। इस संस्था को संवैधानिक हैसियत प्रदान की गयी है। ये ध्यान देने की बात है कि आयोग केवल भर्ती करने वाली एजेंसी है, यह नियुक्ति करने की एजेंसी नहीं है। नियुक्ति करने का अधिकार सरकार का है। आयोग एक सलाहकारी संस्था है। इसके निर्णय मानने के लिये सरकार बाध्य नहीं है।

संवैधानिक स्तर पर भी आयोग को महत्व दिया गया है। इसका लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि आयोग बिना भय या पक्षपात के कार्य करें। यह तब सम्भव होगा जबकि इसका गठन, भूमिका तथा प्रत्यायोजन इसके सदस्यों के विशेषाधिकार, सदस्यों की नियुक्ति तथा पद से हटाने का तरीका आदि का वर्णन संविधान में दिया जाये। क्योंकि ऐसा करने से सरकार की कार्यपालक शाखा को इन मामलों में स्वविवेक व स्वेच्छा का प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं होगा तथा आयोग इससे प्रभावित हुए बिना कार्य कर सकता है। इस प्रकार संविधानिक स्तर प्रदान करने का अर्थ इसकी सत्ता तथा स्वतंत्रता पर किसी सम्भावित अतिक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना है।

4.4 राज्य स्तर पर सिविल सेवा के कारक

यहाँ यह जानना अति आवश्यक है कि राज्य स्तर पर एक के स्थान पर दो भिन्न-भिन्न सेवाएं काम करती हैं। इनमें से एक राज्य स्तर पर विविध क्षेत्रों की गतिविधियों को चलाने के लिये, सिविल सेवा के सम्बद्ध राज्य सरकार द्वारा भर्ती की गयी सेवाएं हैं, इन्हें राज्य सिविल सेवाएं या केवल राज्य सेवाएं कहा जाता है। राज्य में कार्यरत दूसरी सिविल सेवाएं हैं- अखिल भारतीय सेवाएं।

4.4.1 अखिल भारतीय सेवाएं

अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों की भर्ती केन्द्र सरकार द्वारा 'संघ लोक सेवा आयोग' के माध्यम से की जाती है। भर्ती के पश्चात प्रत्येक अधिकारी को एक निश्चित राज्य वर्ग (काडर) दिया जाता है। उस प्रदत्त राज्य से ही वह सम्बद्ध अधिकारी केन्द्र सरकार में आता है। जिस व्यवस्था के तहत यह स्थान परिवर्तित होता है, उसे सावधिक प्रणाली(Term system) कहते हैं। अधिकारी का राज्य तथा केन्द्र के बीच तबादला उसकी सेवा के पहले बीस वर्षों के दौरान होता है। अखिल भारतीय सेवाओं पर केन्द्र तथा सम्बद्ध राज्य का संयुक्त नियंत्रण होता है। अखिल भारतीय सेवाएं जिला, राज्य तथा उसके ऊपर उच्च पदों के लिये कार्मिक प्रदान करती है। इस प्रकार जिलाधिकारी, क्षेत्रीय आयुक्त, राजस्व बोर्ड के सदस्य, सरकार के सचिव, मुख्य सचिव व पुलिस विभाग के पुलिस अधीक्षक और उसके उपर के सभी पद अखिल भारतीय सेवाओं से भरे जाते हैं।

4.4.2 राज्य सेवाएं

राज्य में लोक सेवकों की भर्ती राज्य सरकार द्वारा अपने 'राज्य लोक सेवा आयोग' या अन्य एजेंसी के माध्यम से की जाती है। इन सेवाओं के सदस्य मुख्यतः राज्यों में सेवा के लिये होते हैं। केवल कुछ अवसरों पर ही कुछ राज्य सेवाओं के कुछ सदस्य केन्द्र या किसी संस्था के द्वारा बुलाये जाते हैं। तकनीकी तथा गैर-तकनीकी विभिन्न क्षेत्रों में सरकारी कार्य की आवश्यकताओं के अनुरूप गठित सेवाएं राज्यों के पास हैं। राज्य की निम्नलिखित सेवाएं हो सकती हैं- प्रशासनिक सेवा, पुलिस सेवा, न्यायिक सेवा, वन सेवा, कृषि सेवा, शिक्षा सेवा, स्वास्थ्य सेवा, मत्स्य सेवा, इंजिनियरिंग सेवा, लेखा सेवा, बिक्री कर सेवा, मद्य निषेध एवं उत्पाद सेवा, सहकारी सेवा।

4.5 राज्य सिविल सेवाओं का वर्गीकरण

राज्य सेवाओं के वर्गीकरण के लिये दोहरी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। प्रथम प्रणाली में सेवाएं, प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ श्रेणी में वर्गीकृत की जाती हैं। इस वर्गीकरण का आधार है- स्वीकार्य वेतनमान, निष्पादित कार्य के दायित्व की मात्रा व अपेक्षित तदनुरूपी योग्यताएं। सभी राज्य सेवाओं का गठन विभागवार किया जाता है। दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत सेवाओं तथा पदों का वर्गीकरण राजपत्रित व अराजपत्रित के बीच किया जाता है।

4.5.1 प्रथम प्रणाली के आधार पर वर्गीकरण

प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी की सेवाओं में राज्य सेवाओं का अधिकारी वर्ग आता है। जबकि तृतीय व चतुर्थ श्रेणी में क्रमशः लिपिक तथा शारीरिक कार्य करने वाले कर्मचारी शामिल हैं।

1. **प्रथम श्रेणी की सेवाएं-** प्रथम श्रेणी की सेवाओं में सामान्यतः समयबद्ध वेतनमान वाले पद तथा सामान्य समयबद्ध वेतनमान से अधिक वेतन वाले कुछ पद शामिल होते हैं। साधारणतया प्रत्येक विभागीय सेवा में प्रथम श्रेणी संवर्ग होता है। द्वितीय श्रेणी सेवाओं से पदोन्नति द्वारा तथा राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा सीधे भर्ती द्वारा होती है। सामान्यतः यह लिखित तथा व्यक्तित्व परीक्षण द्वारा होती है।
2. **द्वितीय श्रेणी की सेवाएं-** द्वितीय श्रेणी की सेवाएं अधीनस्थ सिविल सेवाएं होती हैं। जैसे- अधीनस्थ पुलिस सेवा आदि। द्वितीय श्रेणी की सेवाएं प्रथम श्रेणी की सेवाओं की तुलना में स्तर तथा उत्तरदायित्व की दृष्टि से नीचे होती हैं। फिर भी ये इतनी महत्वपूर्ण हैं कि इनकी नियुक्ति का अधिकार राज्य सरकार के हाथों में होना आवश्यक है। द्वितीय श्रेणी सेवाओं में सबसे महत्वपूर्ण अधीनस्थ सिविल सेवा है। यहाँ तक कि कुछ राज्यों में इस सेवा के लिये अन्य द्वितीय श्रेणी की सेवाओं की अपेक्षा उँचे वेतनमान निर्धारित किये गये हैं।
3. **तृतीय श्रेणी की सेवाएं-** तृतीय श्रेणी की सेवाओं को दो भागों में बाँटा गया है-

- अधीनस्थ कार्यपालक- जैसे नायब तहसीलदार, पुलिस सब इंस्पेक्टर, उप शिक्षा निरीक्षक आदि।
- लिपिकीय सेवाएं- इन पदों के लिये भर्ती आंशिक रूप से लोक सेवा आयोग द्वारा तथा आंशिक रूप से विभागीय या जिला अध्यक्षों के स्तर पर की जाती है।

4.5.2 राजपत्रित एवं अराजपत्रित वर्गीकरण

राज्य सेवाओं के वर्गीकरण की दूसरी प्रणाली उन्हें राजपत्रित तथा अराजपत्रित श्रेणी में रखती है। एक राजपत्रित सरकारी कर्मचारी वो होता है जिसकी नियुक्ति, तबादला, पदोन्नति, सेवा निवृत्ति आदि की घोषणा राज्यपाल के आदेश द्वारा जारी की गयी अधिसूचना के रूप में सरकारी राजपत्र में की जाती है। राजपत्रित अधिकारी एक कार्यालय का प्रभारी होता है। राजपत्रित पदों में अखिल भारतीय सेवाएं तथा प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी की राज्य सेवाएं शामिल होती हैं। अराजपत्रित पदों में तृतीय व चतुर्थ श्रेणी की सेवाएं होती हैं।

4.6 राज्य सिविल सेवाओं की भर्ती

भर्ती में तीन प्रथक किन्तु अन्तरसम्बद्ध प्रक्रियाएं शामिल हैं-

1. पदों के लिये आवेदन करने वाले योग्य उम्मीदवारों को आकर्षित करना।
2. खुली प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर, कार्य के लिये उम्मीदवारों का चयन।
3. चयन किये गये उम्मीदवारों को उचित स्थान पर नियुक्त करना, जिसमें सम्बद्ध लोगों को अधिकृत अधिकारी द्वारा नियुक्ति-पत्र जारी करना।

पहली दो प्रक्रियाएं एक स्वतंत्र भर्ती करने वाली एजेंसी द्वारा की जाती है। राज्यों में यह कार्य सिविल सेवा आयोग द्वारा किये जाते हैं। तीसरी प्रक्रिया राज्य सरकार का दायित्व है। इसलिये यह याद रखना अति आवश्यक है कि लोक सेवा आयोग केवल भर्ती करने वाली सलाहकारी एजेंसी है, नियुक्त करने का अधिकार सरकार के पास है।

भर्ती की विशेषताओं में, राज्य सिविल सेवा के लिये भर्ती की आयु न्यूनतम 21 वर्ष से अधिकतम 35 वर्ष निर्धारित की गयी है। अनुसूचित जाति, जनजाति व पिछड़ी जाति को संवैधानिक आधार पर आयु सीमा में छूट दी जाती है। भर्ती लोक सेवा आयोग की खुली प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर की जाती है। इससे उच्च पदों पर राज्य सेवकों की भर्ती पदोन्नति द्वारा की जाती है। भरे जाने वाले रिक्त पदों को हर वर्ष विज्ञापित किया जाता है तथा सारे देश से उम्मीदवारों से आवेदन पत्र आमंत्रित किये जाते हैं। न्यूनतम योग्यता किसी विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि है। चयन के लिये प्रतियोगिता परीक्षा के तीन चरण हैं- प्रारंभिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा व साक्षात्कार। लिखित परीक्षा के कुछ निश्चित अंक प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को व्यक्तित्व परीक्षण के लिये बुलाया जाता है। जो लगभग आधे घंटे की अवधि वाला साक्षात्कार होता है। सफल उम्मीदवार की सूची योग्यतानुसार तैयार कर सरकार के पास आवश्यक कार्यवाही अर्थात् नियुक्ति पत्र जारी करने के लिये भेज दी जाती है। नियुक्त करने का अधिकार केवल सरकार को होता है।

4.7 आयोग के सम्बन्ध में संविधानिक प्रावधान

राज्य लोक सेवा से सम्बन्धित संविधान में निम्न प्रावधानों दिये गये हैं-

1. संविधान के अनुच्छेद- 315 में लोक सेवा आयोग की स्थापना का प्रावधान है। इसके अनुसार संघ तथा प्रत्येक राज्य के लिये एक लोक सेवा आयोग होगा।
2. अनुच्छेद- 316 ऐसे आयोगों के गठन का निर्धारण करता है। यह अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति के तरीके तथा उनके पद की शर्तों का भी वर्णन करता है। इसके अन्तर्गत अध्यक्ष व सदस्यों के कार्यकाल का

- वर्णन भी किया गया है। अनुच्छेद- 317 उन कारणों व प्रक्रियाओं का उल्लेख करता है, जिसके द्वारा इस कार्यकाल से पहले सेवाएं समाप्त की जा सकती हैं।
3. आयोग की स्वतंत्रता को देखते हुए अनुच्छेद- 318, 319 तथा 322 में ऐसे उपायों का उल्लेख है, जिनसे आयोग की सुरक्षा तथा मजबूती हो सके।
 4. आयोग के कार्यों एवं दायित्वों के क्षेत्र तथा भर्ती करने वाली एजेंसी में उनकी भूमिका का दायरा क्या हो? इन प्रश्नों का उत्तर अनुच्छेद- 320, 321 व 323 में दिया गया है।
 5. अनुच्छेद- 323 में यह व्यवस्था है कि आयोग अपनी वार्षिक रिपोर्ट पेश करेगा, जिनमें अन्य बातों के साथ सरकार द्वारा सलाह को स्वीकृति दिये जाने वाले मामलों का उल्लेख किया जायेगा तथा सलाह न मानने के कारण का भी उल्लेख किया जायेगा। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि इन रिपोर्टों को उपयुक्त विधान मंडलों के समक्ष पेश किया जायेगा।

आयोग का गठन के लिए राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं है। संविधान में कहा गया है कि इसका निर्णय राज्यपाल द्वारा किया जायेगा। आयोग के कम से कम आधे सदस्य वे होंगे, जिन्हें केन्द्र या राज्य सरकार के अधीन कार्य करने का कम से कम 10 वर्ष का अनुभव हो। सदस्यों का कार्यकाल 06 वर्ष या 60 वर्ष तक की आयु तक होता है। नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है। परन्तु सदस्यों को केवल राष्ट्रपति द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है, न कि राज्यपाल द्वारा। सदस्यों की सेवा-शर्तें राज्यपाल द्वारा निर्धारित होती हैं, परन्तु महत्वपूर्ण बात ये है कि संविधान में यह व्यवस्था है कि ये उनके अहित में नहीं बदली जा सकती। इन सब में वह सुरक्षा निहित है, जिनसे आयोग की स्वतंत्रता सुनिश्चित होती है।

4.8 उत्तराखण्ड लोक सेवा आयोग

उत्तर प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम- 2000 के द्वारा उत्तराखण्ड राज्य दिनांक 9 नवम्बर 2000 को भारतीय गणतंत्र का 27वाँ राज्य बना। भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 315 के अन्तर्गत उत्तराखण्ड राज्य के गठन के साथ ही उत्तराखण्ड शासन के शासनादेश संख्या- 247/एक-कार्मिक-2001, दिनांक 14 मार्च 2001 द्वारा जनपद हरिद्वार में उत्तराखण्ड लोक सेवा आयोग की स्थापना हुई। आयोग के प्रथम अध्यक्ष श्री एन0पी0 नवानी, सेवानिवृत्त आई0ए0एस0 की नियुक्ति के साथ ही आयोग 15 मई 2001 को अस्तित्व में आया। शासनादेश संख्या 1455/कार्मिक-2/2001, दिनांक 29 अगस्त 2001 द्वारा आयोग के संरचनात्मक ढाँचे का गठन हुआ। आयोग के माननीय अध्यक्ष व माननीय सदस्यों के पदों सहित अधिकारियों एवं कर्मचारियों के 73 पदों की स्वीकृति शासन द्वारा प्रदान की गयी। वर्तमान में माननीय अध्यक्ष, माननीय सदस्य (04 पद) परीक्षा नियंत्रक, संयुक्त सचिव(विधि)-01 पद, संयुक्त सचिव प्रशासन एक पद सहित अधिकारियों/कर्मचारियों तथा चतुर्थ श्रेणी के कुल 143 पद स्वीकृत हैं।

4.9 आयोग के कार्य

भर्ती करने वाली एजेंसी के रूप में राज्य लोक सेवा आयोग का मुख्य कार्य सिविल सेवाओं की नियुक्ति के लिये परीक्षाओं का आयोजन करना। परन्तु इसके अलावा कुछ और कर्तव्य होते हैं जिन्हें लोक सेवा आयोग द्वारा पूरा किया जाना होता है। जैसे-

1. राज्य सरकार को ऐसे विषय में सलाह देना, जो राज्यपाल द्वारा इसके पास भेजा गया हो।
2. ऐसे अतिरिक्त कार्य सम्पन्न कराना जो विधानमण्डल के एकट द्वारा प्रदान किये गये हों। इसका सम्बन्ध राज्य सिविल सेवा या स्थानीय प्राधिकरण की सेवाओं या अन्य निगमित सेवाओं से हो सकता है।
3. कार्य की वार्षिक रिपोर्ट राज्यपाल को पेश करना।

इसके अलावा संविधान में यह भी व्यवस्था है कि निम्न मामलों में आयोग से विचार-विमर्श लिया जायेगा-

- सिविल सेवाओं व सार्वजनिक या सिविल पदों की भर्ती के तरीकों से सम्बन्धित सभी मामले।
- सिविल सेवाओं तथा पदों की नियुक्ति के लिये एक सेवा से दूसरी सेवा में तबादला तथा पदोन्नति करने के लिये तथा ऐसी नियुक्तियां/पदोन्नतियों तथा तबादलों के लिये उम्मीदवारों की उपयुक्तता के सन्दर्भ में अपनाये जाने वाले सिद्धान्त।
- राज्य सिविल सेवा में कार्यरत किसी व्यक्ति को प्रभावित करने वाली अनुशासनात्मक कार्यवाही।
- राज्य सिविल सेवा में कार्यरत या सेवानिवृत्त व्यक्ति या उसकी ओर से कोई व्यक्ति यदि यह मांग या दावा करें कि उसे उस व्यय की पूरी राशि का भुगतान राज्य की संचित निधि से किया जाये जो उसने अपने विरुद्ध दायर मुकदमें में कानूनी कार्यवाही करने में खर्च की, क्योंकि वह मुकदमा उसके द्वारा सम्पादित कार्यों के विरुद्ध किया गया था तो इस पर भी लोक सेवा आयोग की सलाह की जायेगी।
- राज्य सरकार के अधीन सेवा के दौरान लगी क्षति के संवर्धन में पेंशन दिये जाने के दावे।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि लोक सेवा आयोग एक भर्ती एजेंसी के रूप में कार्य करता है। परन्तु यह कुछ अर्ध-विधायी तथा अर्ध-न्यायिक कार्य भी सम्पन्न करता है।

4.10 आयोग की स्वतंत्रता

एक महत्वपूर्ण बिन्दु यह भी है कि आयोग को स्वतंत्र रूप से कार्य करने का प्रावधान संविधान में दिया गया है। संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार-

1. सत्ता के सम्भावित दुरुपयोग को रोकने के लिये भर्ती तथा पद से हटाने की शक्ति दो अलग-अलग अधिकारियों को सौंपी गयी है। अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल करता है, परन्तु उसे पद से हटाने का अधिकार राष्ट्रपति के पास है।
2. संविधान में उल्लिखित कारणों तथा प्रक्रिया द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है।
3. सदस्यों का वेतन तथा उसकी सेवा शर्तें, उसकी नियुक्ति के पश्चात उसके अहित में नहीं बदली जा सकती।
4. आयोग के सभी खर्च राज्य की संचित निधि से होते हैं।
5. आयोग के सदस्य तथा अध्यक्षों के ऊपर सरकार के अधीन भविष्य में पद ग्रहण करने के सम्बन्ध के कुछ प्रतिबंध लगाये गये हैं। सेवा निवृत्ति के पश्चात वे केन्द्र या राज्य आयोग से बाहर सरकारी पद ग्रहण नहीं कर सकते।

अभ्यास प्रश्न-

1. राज्य में लोक सेवा आयोग की स्थापना करने की व्यवस्था भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में वर्णित है?
2. राज्य स्तर पर भर्ती करने वाली सबसे बड़ी एजेंसी को क्या कहते हैं?
3. आयोग के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष होता है?
4. उत्तराखण्ड लोक सेवा आयोग का गठन कब किया गया?
5. उत्तराखण्ड लोक सेवा आयोग के प्रथम अध्यक्ष कौन हैं?

4.11 सारांश

राज्य स्तर पर अनेक प्रकार के नियमितता तथा विकास सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन ने यह आवश्यक बना दिया है कि एक बड़ी तथा सुगठित सिविल सेवा उनके द्वारा बनायी जाये, जो योग्यता प्रणाली पर आधारित हो। सरकार की ये सेवाएं कैरियर सेवाएं हैं, जिनकी भर्ती एक खुली प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा की जाती है। खुली प्रतियोगिता परीक्षाओं की अवधारणा का जन्म उन्नीसवीं सदी के दौरान हुआ। इन सेवाओं को बनाते समय इस बात पर विचार किया गया कि सिविल सेवाओं की भर्ती, वेतन, पदोन्नति तथा स्थानान्तरण तकनीकी एवं व्यवसायिक कारणों पर आधारित हो न कि राजनीतिक विचारों पर। राज्य लोक सेवा आयोग को राजनीतिक हस्तक्षेप से दूर रखा गया। आयोग सरकारी व्यवस्था को निरंतरता प्रदान करते हैं। यही कारण है कि आयोग निष्पक्ष होकर सिविल सेवकों को चुनता है और सरकार को नियुक्ति हेतु भेज देता है। लोक सेवा आयोग किसी भी राज्य के लिये नियुक्ति की सबसे महत्वपूर्ण एजेंसी है।

4.12 शब्दावली

प्रत्यायोजन- कार्यों और शक्तियों को अधीनस्थ को अपनी सुविधा के अनुसार सौंपना, अतिक्रमण- नियम या कानून का उल्लंघन, नियन्त्रक- शासकीय अधिकारी

4.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अनुच्छेद- 315, 2. लोक सेवा आयोग, 3. 06 वर्ष, 4. 14 मार्च 2001, 5. श्री एन0 पी0 नवानी

4.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डी0 डी0बसु- भारत का संविधान।
2. सुभाष कश्यप- हमारी संसद।
3. सुभाष कश्यप- हमारा संविधान।

4.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी व अवस्थी- भारतीय प्रशासन।
2. शर्मा एवं सडाना- लोक प्रशासन- सिद्धान्त व व्यवहार।
3. डॉ0 सविता मोहन व हरीश यादव- उत्तरांचल समग्र अध्ययन।

4.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्तराखण्ड लोक सेवा आयोग की विस्तृत वर्णन करें।
2. राज्य स्तर की सेवाओं के वर्गीकरण का आधार क्या है?
3. आयोग का गठन कैसे होता है? तथा वह कार्य कैसे करता है?
4. आयोग के सम्बन्ध में संविधानिक प्रावधानों पर एक लेख लिखिये।

इकाई- 5 गृह विभाग, वित्त विभाग, आपदा विभाग(उत्तराखण्ड राज्य के संदर्भ में)

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 विभाग

5.2.1 विभाग के विभिन्न प्रकार

5.2.2 विभागीय संगठन का आधार, क्षेत्र अथवा प्रदेश

5.2.3 विभागाध्यक्ष

5.2.4 विभागों की संरचना

5.2.5 राजनीतिक अध्यक्ष

5.2.6 विभाग के गठन का सिद्धान्त

5.3 गृह विभाग

5.3.1 पुलिस बल का पुनर्गठन व आधुनिकीकरण

5.4 वित्त विभाग

5.4.1 एकीकृत भुगतान व लेखा प्रणाली

5.4.2 वित्त निदेशालय के कार्य

5.5 आपदा विभाग

5.5.1 ज्योग्रैफिकल इन्फॉर्मेशन सिस्टम (जीआईएस) डाटाबेस

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

इस इकाई में हम शासन के महत्वपूर्ण विभागों का अध्ययन करने जा रहे हैं। इससे पूर्व अध्यायों व उनकी इकाइयों में हमने प्रशासन के सभी तत्वों का विस्तृत अध्ययन किया है। इस इकाई में शासन की कार्यप्रणाली को संचालित करने वाले विभागों के बारे में अध्ययन किया जायेगा।

‘विभाग’ शब्द का शाब्दिक अर्थ, सम्पूर्ण वस्तु का एक हिस्सा या अंग होता है। प्रशासन में सरकार का सारा काम अलग-अलग हिस्सों में बंटा होता है और प्रशासन की बड़ी-बड़ी इकाइयाँ इसे पूरा करने का काम करती हैं। इन इकाइयों को विभाग कहते हैं। सरकार का अधिकांश काम यही विभाग करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि विभाग देश की प्रशासनिक व्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण व बुनियादी इकाई हैं।

दुनियाँ के सभी देशों में सरकार का मुख्य कामकाज विभागों के माध्यम से ही होता है। सरकार के कामकाज चलाने का यह सबसे पुराना व अनूठा तरीका है। प्राचीन और मध्य काल में भी राजा अपना काम अलग-अलग विभागों में बांट कर कराया करते थे। जिनके लिये उससे सम्बन्धित अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी और कार्य का

सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं अधिकारियों का होता था। आज भी यही प्रणाली चली आ रही है। विभागों के अलग-अलग होने का सबसे बड़ा फायदा है, प्रशासन के कार्यों का तीव्रता के साथ सम्पन्न होना।

किसी भी राज्य के शासन को सफल बनाने का महत्वपूर्ण उसके विभाग करते हैं। और हम ये भी जानते हैं कि विभाग, शासन के आदेशों को क्रियान्वित कराने में अपना योगदान देते हैं। शासन की कार्य प्रणालियों को लागू कराने का काम विभाग करते हैं। हालांकि शासन को चलाने के लिये सभी विभाग महत्वपूर्ण होते हैं लेकिन कुछ विभाग अत्यधिक महत्वपूर्ण दर्जे में रखे जाते हैं, जिनमें हम वित्त विभाग, गृह विभाग व उत्तराखण्ड जैसे पर्वतीय व भौगोलिक आधार पर संवेदनशील राज्य के लिये आपदा विभाग को इस दर्जे में रख सकते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि खण्ड तीन की इकाई हमें इन विभागों के बारे में विस्तृत जानकारी देगी। जो विभाग और उसकी कार्य प्रणाली को समझने से सहायक होगी।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- विभाग क्या है और उसकी पहचान क्या है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- विभाग कितने के प्रकार के होते हैं और महत्वपूर्ण विभाग कौन-कौन से होते हैं, इसके बारे में जान पायेंगे।
- विभाग संगठन के रूप में कैसे कार्य करता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- गृह, वित्त और आपदा विभाग कैसे कार्य करते हैं, इसकी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।

5.2 विभाग

शाब्दिक अर्थ में विभाग का अर्थ, किसी बड़े संगठन अथवा इकाई का अंग है। प्रशासन की तकनीकी शब्दावली में 'विभाग' शब्द का एक विशेष अर्थ होता है। प्रमुख कार्यकारी के अधीन रहने वाले समस्त कामकाज को अनेक खंडों में विभाजित कर लिया जाता है और इनमें प्रत्येक खण्ड को विभाग कहा जाता है। इस प्रकार विभाग प्रशासनिक पदसोपान में सबसे बड़ी तथा उच्चतम इकाई है। आधुनिक काल में विभाग के लिए प्रशासन, कार्यालय, अभिकरण, सत्ता, समिति, परिषद आदि अनेक नाम से प्रचलित हुए हैं। विभाग की दो प्रमुख पहचान है- पहला- इकाई का नाम चाहे कुछ भी हो, यदि वह प्रशासनिक सोपान के शीर्ष के समीप हो तथा उसके एवं प्रमुख कार्यकारी के बीच कोई अन्य इकाई न हो तो उसे विभाग कहेंगे। दूसरा- यदि वह इकाई प्रमुख कार्यकारी के अधीन तथा पूर्णतया उसके प्रति उत्तरदायी हो तो उस इकाई को विभाग कहा जायेगा।

5.2.1 विभाग के विभिन्न प्रकार

अपने आकार, संरचना, कार्य की प्रकृति, आन्तरिक संबंधों आदि के आधार पर विभागों में परस्पर भिन्नता होती है। आकार के आधार पर विभागों को छोटे-बड़े दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। भारत सरकार के रेलवे, डाक और तार-विभाग तथा प्रतिरक्षा विभाग बड़े विभाग हैं। इनमें लाखों कर्मचारी कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त पंजीकरण, स्थानीय स्वशासन आदि अनेक छोटे विभाग हैं जो राज्य सरकारों में होते हैं। संरचना की दृष्टि से विभागों को एकात्मक एवं संघात्मक भी कहा जाता है।

एकात्मक विभाग, वे विभाग हैं जो किसी निश्चित प्रयोजन की पूर्ति के लिए संगठित किये जाते हैं। जैसे- शिक्षा, पुलिस आदि। संघात्मक विभागों को अनेक कार्य करने होते हैं। वे वास्तव में अनेक उपविभागों के संघ होते हैं और इनमें से प्रत्येक उपविभाग का अपना पृथक कार्य होता है। जैसे- भारत में गृह विभाग में लोक सेवाओं की नियुक्ति, अनुशासन तथा निवृत्ति, शान्ति और व्यवस्था, आदि विषयों का प्रबन्ध आता है।

5.2.2 विभागीय संगठन का आधार, क्षेत्र अथवा प्रदेश

प्रत्येक देश में विभागीय संगठन का एक आधार प्रदेश अथवा भौगोलिक क्षेत्र होता है तथा कुछ विभाग ऐसे होते हैं, जिनका संगठन इसी आधार पर किया जाता है। प्रत्येक देश का विदेश सम्बन्ध विभाग भौगोलिक आधार पर संगठित किया जाता है, ताकि उन देशों के साथ सम्बन्ध रख सके जो उसकी सीमाओं से बाहर हैं। इस विभाग के प्रादेशिक उप-विभाग भी होते हैं। सन् 1947 में पहले भारत कार्यालय भी इसी आधार पर बनाया गया था। भारत में विदेश मंत्रालय का संगठन भी इसी आधार पर किया गया है।

5.2.3 विभागाध्यक्ष

विभागीय संगठन में अध्यक्ष अथवा सर्वोच्च अधिकारी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि वही समूचे विभाग के निर्देशन और नियंत्रण के लिए उत्तरदायी होता है। अतः विभाग का अध्यक्ष पद एक महत्वपूर्ण संगठनात्मक समस्या उत्पन्न करता है। इस समस्या के दो अंग हैं। पहला- अध्यक्ष एक अकेला व्यक्ति अर्थात् एकल होना चाहिये, अथवा बहुल निकाय, जैसे कि मंडल अथवा आयोग। दूसरा- विभागाध्यक्ष में प्रशासनिक योग्यता ऐसी होनी चाहिये जैसे प्रबन्ध, तकनीकी योग्यता, विभाग की क्रियाओं के विषय में तकनीकी ज्ञान।

भारत में आमतौर पर विभागाध्यक्ष एकल व्यक्ति होता है। विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष एक मंत्री तथा प्रशासनिक अध्यक्ष एक सचिव होता है। हमारे यहाँ कुछ विभागों का अध्यक्ष मंडल अथवा आयोग के रूप में होता है। जैसे- आयात-निर्यात कर, आयकर, केन्द्रीय आबकारी आदि विभागों की अध्यक्षता तथा नियंत्रण 'बोर्ड ऑफ़ डायरेक्ट टैक्सिज' करता है। राज्यों में भी राजस्व, शिक्षा, बिजली आदि विभागों के लिए मंडल बनाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में विभाग के भीतर कार्य करने वाले दो प्रकार के मंडल हैं- प्रशासनिक मंडल और परामर्शकारी मंडल।

5.2.4 विभागों की संरचना

एक ही देश के भीतर विभिन्न विभागों की संरचना अलग-अलग प्रकार की हो सकती है। परन्तु, यह भेद अथवा अन्तर या विविधता केवल बारीक बातों में ही होती है। मोटे तौर पर विभागीय संगठन का एक सामान्य ढाँचा होता है तथा सब जगह प्रायः उसी का अनुसरण किया जाता है। भारत में संघ तथा राज्य सरकारों का कार्य अनेक मंत्रालयों में विभाजित कर सकते हैं। भारत सरकार अथवा राज्य सरकारों में मंत्रिमंडलों की रचना आमतौर पर तिमंजले मकान की तरह होती है। जिसे हम निम्न प्रकार से देख सकते हैं-

1. विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष अर्थात् मंत्री सबसे ऊपर होता है और उसके नीचे एक या अनेक राज्यमंत्री अथवा संसदीय सचिव होते हैं जो काम में उसकी सहायता करते हैं।
2. सचिवालय संगठन अथवा सम्बन्धित कार्यालय होते हैं, जिनका अध्यक्ष एक स्थायी प्रशासनिक अधिकारी होता है, जिसे आमतौर पर सचिव कहा जाता है।
3. मंत्रालय के भीतर विभाग अथवा विभागों का कार्यकारी संगठन होता है। इस कार्यकारी संगठन का अध्यक्ष आमतौर पर निर्देशक, महानिदेशक आदि नामों से पुकारा जाता है।

5.2.5 राजनीतिक अध्यक्ष

मंत्री, उसके उपमंत्री तथा संसदीय सचिव ये सब राजनीतिक अधिकारी होते हैं, जो मंत्रिमंडल के साथ बदलते रहते हैं। ये पद अपने दल के भीतर अपनी शक्ति और स्थिति के कारण प्राप्त करते हैं, किसी विशेष योग्यता के आधार पर नहीं। विभागीय मंत्री तीन प्रकार के कार्य करता है-

1. उन व्यापक नीतियों का निर्माण करता है, जिसके अनुसार विभाग को कार्य करना होता है और विभाग के भीतर उठने वाले नीति सम्बन्धी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों के बारे में निर्णय करता है।
2. वह विभाग द्वारा नीतियों के क्रियान्वयन पर सामान्य अधीक्षण करता है।

3. वह अपने विभाग की नीति तथा उसके प्रशासन के बारे में संसद के सामने स्पष्टीकरण देता है और उत्तरदायी होता है। वह इस बारे में प्रश्नों के उत्तर देता है, आवश्यक विधेयक प्रस्तुत करता है तथा दूसरे विभागों के सन्दर्भ में एवं जनता के सामने अपने विभाग का प्रतिनिधित्व करता है। उसके उपमंत्री तथा संसदीय सचिव आदि उसके द्वारा सौंपे कार्य को पूरा करते हैं तथा जब वह संसद में स्वयं उपस्थित नहीं होता है तो वहाँ उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। लोकतंत्र में प्रशासन का संचालन मूलतः राजनीतिक अध्यक्षों के द्वारा किया जाता है।

5.2.6 विभाग के गठन का सिद्धान्त

सुचारु रूप से प्रशासन चलाने के लिए सरकार के काम को बाँटना जरूरी है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने काम के बँटवारे के लिए दो आधार सुझाए थे। एक व्यक्तियों या वर्गों के अनुसार, दूसरा सेवाओं के अनुसार।

लूथर गुलिक के अनुसार आधुनिक युग में विभागों के गठन के लिए चार सिद्धान्तों या आधार अपनाए जाते हैं। ये आधार हैं- उद्देश्य(Purpose), प्रक्रिया(Process), व्यक्ति(Person) और स्थान(Place)। लूथर गुलिक ने इसे '4-P' का फार्मूला कहा। इन प्रत्येक का विवरण निम्न है-

1. **उद्देश्य-** अधिकांश देशों में सत्ता के किसी खास काम या उद्देश्य के लिए एक विभाग बनाया जाता है। उदाहरण के लिए- देश की रक्षा के लिए रक्षा विभाग बनाया गया, लोगों की स्वास्थ्य की देखभाल के लिए स्वास्थ्य विभाग और उन्हें शिक्षित करने के लिए शिक्षा विभाग का गठन किया गया। ज्यादातर देशों में अधिकतर विभाग उद्देश्य पर ही आधारित होते हैं। विभागों के गठन का यह बहुत आसान, बहुत आम और बहुत कारगर सिद्धान्त है। इससे काम में दोहरापन नहीं आता और इसे समझना भी आसान है। यदि विभागों का गठन विशेष उद्देश्य या विशेष काम को पूरा करने के लिए किया जाए तो आम आदमी आसानी से बता सकता है कि कौन सा काम किस विभाग के जिम्मे है।
2. **प्रक्रिया-** प्रक्रिया का अर्थ किसी तकनीक, किसी दक्षता या विशेष प्रकार के पेशे से है। उदाहरण के लिए: लेखांकन, टंकण, आशुलिपि, इंजीनियरी और कानूनी सलाह आदि ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनकी आमतौर पर सभी सरकारी संगठनों में जरूरत पड़ती है। सभी संगठनों को लेखांकन, टंकण, आशुलेखन, भवन, कानूनी सलाह, लेखांकन की आवश्यकता होती है। अतः कुछ देशों में अलग-अलग प्रक्रियाओं के आधार पर अलग-अलग विभाग बनाए जाते हैं। उदाहरण के लिए विधि विभाग, लोक निर्माण विभाग या लेखा विभाग बनाए जाते हैं जो अन्य सभी विभागों की मदद करते हैं और उनकी विशेष जरूरतों को पूरा करते हैं। लेकिन प्रक्रिया पर आधारित विभागों की संख्या गिनी-चुनी होती है। यदि विभागों का गठन प्रक्रिया के आधार पर किया जाए तो विशेषज्ञता और नवीनतम तकनीकी दक्षता सबको उपलब्ध करायी जा सकेगी। प्रशासन में अधिकतम किफायत, बेहतर तालमेल और एकरूपता आयेगी। इसके साथ ही साथ प्रक्रिया पर आधारित विभागों के कर्मचारियों में घमंड, संकीर्णता और श्रेष्ठता की भावना पैदा हो जायेगी। फिर भी सभी देशों में कुछ विभाग प्रक्रिया के आधार पर बनाए जाते हैं।
3. **व्यक्ति-** प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्ति या समूह होते हैं, जिनकी समस्याएँ, विशेष और सबसे अलग होती हैं और जिन्हें विशेष सेवाओं की जरूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए शरणार्थी, आदिवासी, अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों के लोग, दिव्यांग और पेंशन भोगी आदि। कुछ देशों में कुछ सरकारी विभाग विशेष तौर पर कुछ विशेष समूहों या व्यक्तियों की सभी समस्याओं से निपटने के लिए बनाए जाते हैं। पुर्नवास विभाग, आदिवासी कल्याण विभाग, पेंशनर विभाग, समाज कल्याण विभाग या श्रम विभाग आदि उन विभागों के उदाहरण हैं, जिनका गठन व्यक्तियों के आधार पर किया जाता है। सम्बद्ध समूह या व्यक्ति इन विभागों से आसानी से सम्पर्क कर सकते हैं और यह विभाग भी व्यवस्थित और समन्वित रूप

से सभी प्रकार की सेवाएँ उन्हें कारगर ढंग से उपलब्ध करा सकते हैं। लेकिन विशेष समूहों के लिए विशेष विभागों की स्थापना से उन विभागों में इन समूहों के निहित स्वार्थ विकसित हो जाते हैं और वे प्रशासन पर दबाव डालने की कोशिश करते हैं। फिर भी अनेक देशों में समूहों या व्यक्तियों के आधार पर कुछ विभागों का गठन किया ही जाता है।

4. **स्थान-** प्रत्येक देश में कुछ इलाका, प्रदेश या क्षेत्र ऐसा होता है, जिसकी अपनी विशेष समस्याएँ होती है, जिनके कारण उसे विशेष ध्यान और विशेष सेवाओं की जरूरत होती है। अतः उस क्षेत्र विशेष के लिए अलग विभाग का गठन किया जाता है। इस तरह के विभाग का सबसे बढ़िया उदाहरण आजादी से पहले अंग्रेज सरकार द्वारा भारतीय मामलों के विभाग का गठन था। आज भी ब्रिटेन में स्काटलैंड और आयरलैंड के मामलों के लिये अलग-अलग विभाग हैं। भारत सरकार का विदेश मंत्रालय भी ऐसे विभागों का एक उदाहरण है। कई विभागों को अलग-अलग प्रभागों में बाँट दिया जाता है जो अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों की देखभाल करते हैं। उदाहरण के लिए रेल विभाग के कई क्षेत्रीय मंडल हैं। जैसे- पश्चिम रेलवे, मध्य रेलवे, दक्षिण रेलवे या दक्षिण मध्य रेलवे इत्यादि। भारत में क्षेत्र या स्थान विशेष के लिए गठित विभागों की संख्या बहुत कम है। इस प्रकार हमने देखा कि विभागों के गठन के लिए चार मुख्य सिद्धान्त या आधार हैं- उद्देश्य, प्रक्रिया, व्यक्ति और स्थान। प्रत्येक सिद्धान्त के अपने-अपने फायदे और नुकसान हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विभागों के गठन के लिए कौन से सिद्धान्त या आधार को सर्वोत्तम माना जाये। यह प्रश्न जितना सहज है, उसका उत्तर उतना ही कठिन है। वास्तव में विभागों का गठन किसी एक सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया जाता। प्रशासनिक सुविधा तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार विभागों के गठन के लिए विभागीकरण के चारों सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है। कोई एक सिद्धान्त सर्वोत्तम नहीं है। चारों सिद्धान्त एक-दूसरे के पूरक हैं और विभागों के गठन के लिए सभी देशों में इन सबका प्रयोग किया जाता है।

यह बात हम जान चुके हैं कि किसी भी शासन व्यवस्था में विभाग कितने महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शासन को चलाने के लिये सभी विभाग महत्वपूर्ण होते हैं। लेकिन कुछ विभाग अति महत्वपूर्ण होते हैं, जैसे- गृह, वित्त, कार्मिक व आपदा विभाग व अन्य। यहाँ हम गृह, वित्त व आपदा विभाग के बारे में उत्तराखण्ड के सन्दर्भ में चर्चा करेंगे।

5.3 गृह विभाग

कानून व्यवस्था की स्थिति दीर्घकालीन समग्र विकास को प्रभावित करने वाला प्रमुख कारक है। उत्कृष्ट कानून व्यवस्था प्रगति तथा सुखमय जन-जीवन की बुनियादी जरूरत है और यह उपलब्धि आज के सन्दर्भ में उत्तराखण्ड राज्य की प्रमुख विशेषता है। लेकिन बदलते परिवेश में कानून व्यवस्था की चुनौतियाँ सभी जगह विद्यमान हैं। राज्य गठन के बाद सरकार ने उत्तराखण्ड में अपराधों की रोकथाम तथा अमन चैन कायम रखने के लिये कारगर प्रयास कर परम्परागत छवि से हटकर मित्र पुलिस बल की स्थापना पर जोर दिया। राज्य में पुलिस बल के आधुनिकीकरण के साथ महिला हैल्पलाइन की भी स्थापना राज्य में की गयी। कारागार विभाग, होमगार्ड्स के कल्याण हेतु नई नीतियों के साथ ही इनका समुचित प्रयोग किया गया।

हम जानते हैं कि गृह, कारागार प्रशासन एवं सुधार विभाग मुख्य रूप से कानून व्यवस्था को चुस्त एवं दुरुस्त बनाए रखने हेतु उत्तरदायी हैं। इन विभागों में नीति विषयक निर्णय कराने, बजट तैयार कर विधायिका से अनुमोदन के पश्चात धनराशि अवमुक्त करने, सी0आई0डी0 को प्रकरण सन्दर्भित करने, दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध अभियोजन का निर्णय लेने, शस्त्र लाईसेंसों की सीमा विस्तार, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग से प्राप्त मामलों का अनुश्रवण करने, राज्य मानवाधिकार आयोग से सम्बन्धित कार्यों को सम्पादित करने, विधानसभा/विधान परिषद में प्रश्नों के

उत्तर देने, भारत सरकार से पुलिस सम्बन्धी मामलों में समन्वय तथा राज्य में कानून व्यवस्था से सम्बन्धित कार्यों का निष्पादन करते हैं।

विभाग द्वारा नागरिकों, अति विशिष्ट व्यक्तियों एवं महत्वपूर्ण अधिष्ठानों की सुरक्षा व्यवस्था सुनिश्चित की जाती है। पुलिस एवं कारागार प्रशासन विभाग में पुलिस आधुनिकीकरण योजना एवं कारागार आधुनिकीकरण योजना के अन्तर्गत नीति निर्धारण, बजट व्यवस्था एवं व्यय का अनुश्रवण मुख्य कार्य है।

उपरोक्त कार्यों को सम्पादित करने हेतु प्रमुख सचिव के सहायतार्थ सचिव, विशेष सचिव, ओ0एस0डी0 एवं उप/अनुसचिव कार्यरत हैं। विभागाध्यक्ष स्तर पर पुलिस महानिदेशक के अतिरिक्त, महानिदेशक (अभियोजन), महानिदेशक (सी0बी0सी0आई0डी0), महानिदेशक (अग्निशमन सेवाएं), महानिदेशक (तकनीकी सेवाएं), महानिदेशक (प्रशिक्षण सेवाएं), महानिदेशक (विशेष जांच) एवं महानिदेशक (कारागार एवं सुधार विभाग) नियुक्त हैं। अपर पुलिस महानिदेशक स्तर के अधिकारी के अधीन भ्रष्टाचार निवारण संगठन कार्यरत हैं, जिन्हें इस कार्यालय में प्राप्त शिकायतें सन्दर्भित की जाती हैं।

5.3.1 पुलिस बल- पुनर्गठन व आधुनिकीकरण

उत्तराखण्ड राज्य गठन के बाद राज्य के पुलिस बल के ढाँचे में उत्तर-प्रदेश से हट कर नये तरीके से तैयार किया गया। राज्य की संवेदनशील सीमाओं पर पुलिस की विशेष टुकड़ियां तैनात की गयी है। राज्य के गठन के बाद से 4000 आरक्षी, 253 पुलिस उप निरीक्षक, 450 भूतपूर्व सैनिक, एक इण्डिया रिजर्व बटालियन, दो कम्पनी महिला सशस्त्र बल व 334 महिला आरक्षी की भर्ती कर पुलिस बल का पुनर्गठन किया गया। यह विभाग का आरम्भ था। देश की भौगोलिक स्थितियों को देखते हुए गृह विभाग पर सरकार का विशेष ध्यान रहा। राज्य की स्थापना के बाद 17 नये थाने तथा 17 नई चौकियां की स्थापना की गयी। साथ ही केन्द्र सरकार की पुलिस आधुनिकीकरण योजना के अधीन नई संचारण क्षमता उपलब्ध कराई गयी। आधुनिक अस्त्र-शस्त्र, उपकरणों, अपराध विवेचना के नवीन संसाधनों, आधुनिक संचार साधनों से विभाग का व समस्त कर्मचारियों का सुदृढीकरण किया गया है। इसके साथ ही प्रत्येक जिले में महिला हैल्प लाईन व प्रत्येक जिले में महिला डैक्स की स्थापना की गयी है जो महिलाओं से सम्बन्धित समस्याओं के त्वरित निवारण पर अपना सहयोग प्रदान करते हैं। विभाग को सूचना संचार के साधनों से आधुनिक बनाया गया है, जिसके लिये राज्य में उपलब्ध सभी संचार प्रणालियों को एकीकृत कर सहतरंग नामक एकल संचार योजना क्रियान्वित की गयी है। इस कार्य में केन्द्रीय सुरक्षा बलों व भारतीय संचार निगम लिमिटेड को भी शामिल किया गया है। भारत-नेपाल की सीमा, जो राज्य से मिलती है उसकी संवेदनशीलता को देखते हुए भारत सरकार द्वारा इस सीमा का प्राथमिक प्रबंधन सशस्त्र सीमा बल को सौंपा गया है। बल को इस कार्य में सहयोग की दृष्टि से सीमा से 15 किलोमीटर क्षेत्र में तलाशी एवं जब्ती के अधिकार भी दिये गये हैं।

5.4 वित्त विभाग

किसी भी राज्य का वित्त विभाग केन्द्र की भाँति उस राज्य के वित्त मंत्रालय के अधीन होता है। मंत्रालय का काम बजट बनाना और इसे लागू करवाना होता है। वित्त विभाग राज्य के सभी विभागों के लेखा-जोखा व आहरण वितरण का संचालन करता है। विभिन्न विभागों के अधिकारी अपने विभागों के विभिन्न प्रस्तावों व योजनाओं के लिये अनुमानित धनराशि का ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। विभागों का यह लेखा या हिसाब-किताब निश्चित अवधि में महालेखाकार के लेखों से मिलाया जाता है। यह काम विभिन्न राजकोषों से हर पखवाड़े पर मिले लेखों के आधार पर किया जाता है। इन सभी कार्यों को वित्त विभाग के सहयोग से ही पूरा किया जाता है। वित्त विभाग किसी भी राज्य का सबसे महत्वपूर्ण विभाग होता है।

उत्तराखण्ड राज्य गठन के साथ ही राज्य की वित्त व कोषागार सेवाओं को स्थापित किया गया। वित्त विभाग का नियंत्रक वरिष्ठतम् अधिकारी होता है, जो वित्त सेवा से चयनित होता है। राज्य के राजकीय आहरण और वितरण

का निरीक्षक व नियंत्रक राज्य का वित्त निदेशालय होगा। निदेशालय राज्य के सभी सरकारी विभागों के आहरण व वितरण की जिम्मेदारी कोषागार व उप कोषागारों को देता है। राज्य का वित्तीय निदेशालय देहरादून में है। उत्तराखण्ड राज्य कुशल वित्तीय प्रबन्ध के प्रयास में सफल हो रहा है। सरकार करों के बिना विकास योजनाओं के लिये नये स्रोतों से संसाधन जुटाने का प्रयास किया है जिससे राज्य के आम जन पर अतिरिक्त भार नहीं पड़ा है। वित्त विभाग द्वारा प्रयास किये गये कि कार्मिकों व पेंशन भोगियों को नियत समय पर भुगतान किया जा सके। सरकार द्वारा शासकीय लेन-देन की व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये भारतीय रिजर्व बैंक से समझौता कर स्टेट बैंक को एजेंट के रूप नियुक्त किया गया और वित्तीय संस्थाओं को कम्प्यूटरीकृत कर दिया गया है। सरकार आम जन को सुविधा देने के लिये वित्त विभाग के कर्मचारियों को आधुनिक प्रशिक्षण समय-समय पर दे रही है, जिससे वित्त विभाग की दक्षता बढ़ी है। सरकार ने ऐसे प्रयास किये हैं कि राज्य के सभी कोषागार व उपकोषागार पूर्णतया कम्प्यूटरीकृत हैं और एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। वर्तमान में वित्त विभाग की संरचना को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है- राज्य का डाटा केन्द्र (देहरादून में) 13 जिला कोषागार, 14 उच्चिकृत कोषागार, 02 आहरण और लेखा विभाग, 60 उपकोषागार, 02 नोडल केन्द्र नॉन पोस्टल स्टाम्प।

5.4.1 एकीकृत भुगतान व लेखा प्रणाली

कोषागार व्यवस्था तथा केन्द्र सरकार की विभागीय वेतन एवं लेखा कार्यालय की व्यवस्था पर किये गये अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला कि राज्य सरकार, ग्रामीण स्तर तक नियुक्त होने के कारण प्रत्येक विभाग के वेतन और लेखा कार्यालय का बड़ा नेटवर्क है, जिससे अनावश्यक व्यय होने के साथ-साथ भुगतान में भी विलम्ब होता है। इन कमियों को दूर करने के लिये सरकार ने राज्य में एकीकृत भुगतान एवं लेखा-प्रणाली लागू की, जिससे सरकारी कार्यालयों के कर्मचारियों के लिये ई-पेरोल व्यवस्था शुरू की गयी। जिसका फायदा राज्य कर्मचारियों को मिल रहा है। इस व्यवस्था से निम्न लाभ प्राप्त हुए हैं-

1. उत्तराखण्ड ऐसा पहला राज्य है, जहाँ कम्प्यूटर पर आधारित एकीकृत भुगतान एवं लेखा-प्रणाली लागू की गयी है।
2. बैंकों के नेटवर्किंग के फलस्वरूप उपलब्ध कोर बैंकिंग की सेवाओं का एकीकृत भुगतान व लेखा-प्रणाली का उपयोग किया जा रहा है। जिससे दूर-दराज के कर्मचारियों को लाभ प्राप्त हो रहा है और वो त्वरित भुगतान की सुविधा ले रहे हैं।
3. प्रत्येक कोषागार में सरकारी कार्यालयों के कर्मचारियों की सेवा तथा वेतन सम्बन्धी विवरण का डाटा बेस बैंक निर्मित किया गया है, जिससे कर्मचारी अपनी वेतन सम्बन्धी मामलों को इन्टरनेट के माध्यम से देख व समझ सकता है।
4. भुगतान की समस्त सूचना इन्टरनेट में सरकारी साईट पर उपलब्ध है।

5.4.2 वित्त निदेशालय के कार्य

राज्य में वित्तीय कार्यों के लिये वित्त विभाग द्वारा एक निदेशालय का गठन किया गया है, जिसका कार्य राज्य में समस्त सरकारी विभागों का वित्त सम्बन्धी लेखाओं का संचालन करना होता है। इसके कार्यों को हम निम्न रूप से देख सकते हैं-

1. निदेशालय के द्वारा राज्य सरकार के समस्त भुगतान आहरण-वितरण अधिकारी के माध्यम से किये जाते हैं।
2. राज्य सरकार की समस्त प्राप्तियां बैंकों के माध्यम से निदेशालय के निर्देशन से की जाती हैं।
3. निदेशालय राज्य सरकार की तरफ से मूल्यवान वस्तुओं का रख-रखाव करता है।
4. इसके साथ ही निदेशालय राज्य में गैर-पोस्टल स्टाम्प का भण्डारण व विक्रय का कार्य करता है।

5. निदेशालय समस्त श्रेणी के पेंशनरों के पेंशन वितरण का कार्य करता है।
6. एकीकृत लेखा एवं भुगतान कार्यालय के माध्यम से राज्य कर्मचारियों को वेतन एवं भत्तों का भुगतान करना।
7. सोसाइटी एक्ट-1860, साझेदारी अधिनियम-1932 के अन्तर्गत संस्थाओं का पंजीकरण एवं अन्य सम्बन्धित कार्य करना।
8. स्वायत्तशासी संस्थाओं/स्थानीय निकायों के वैयक्तिक लेखों का रख-रखाव करना।
9. निर्माण विभागों की भुगतान धनराशि व डेविड-क्रेडिट सम्बन्धी लेखा का ब्यौरा रखना।
10. विभागों की प्राप्तियों की वापसी का विवरण रखना।
11. आहरण-वितरण अधिकारियों का बजट नियंत्रण।
12. कर्मचारियों की सेवानिवृत्ति पर सामूहिक बीमा निधि का भुगतान करना।
13. चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों की सामान्य भविष्य निधि के रख-रखाव का ब्यौरा रखना।

5.5 आपदा विभाग

क्षेत्र की भौगोलिक, भूगर्भाय एवं पारिस्थितिकीय संरचना उत्तराखण्ड राज्य को प्राकृतिक एवं मानवीय परिवर्तनों के प्रति अत्यन्त संवेदनशील बनाती है। यही इस क्षेत्र की आपदाओं का मुख्य कारण भी है। भूकम्प की दृष्टि से राज्य के चार जिले अति संवेदनशील जोन- 5 व पांच जिले संवेदनशील जोन- 4 में आते हैं। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए उत्तराखण्ड गठन के बाद सरकार द्वारा आपदा प्रबन्ध विभाग की स्थापना की गयी। आपदा विभाग द्वारा आपदा प्रबन्ध को व्यावहारिक बनाने के लिये प्रदेश के आपदा प्रबन्ध तंत्र को इस प्रकार विकसित किया गया है कि आपदा प्रबन्ध में राज्य एवं जनपद स्तरीय अधिकारियों/कर्मचारियों के अतिरिक्त स्वयंसेवी संस्थाओं, गैर-सरकारी संगठनों, जनप्रतिनिधियों एवं जनसामान्य की स्पष्ट भागीदारी सुनिश्चित की जा सके।

राज्य स्तर पर देहरादून में विभाग ने 'आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्ध केन्द्र' की स्थापना सचिवालय परिसर में की गयी है। इस केन्द्र का ध्येय जागरूकता, सूचना, प्रशिक्षण, तकनीकी सहायता एवं क्षमता विकास के माध्यम से राज्य में आपदाओं के जीवन एवं पर्यावरण सुरक्षा हेतु एक ऐसे तंत्र की स्थापना करना जो कि राज्य की आपदाओं के प्रति संवेदनशीलता को ध्यान में रखते हुए आपदा से पूर्व, आपदा के समय एवं आपदा के पश्चात की गतिविधियों का संसाधनों के अधिकतम सम्भव उपयोग के साथ सुचारू व समयबद्ध तरीके से क्रियान्वयन सुनिश्चित कर सके। आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्ध केन्द्र विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन कर रहा है। केन्द्र नई तकनीकी के प्रयोग से आपदा सम्बन्धी जानकारी को पहले ही देने में सक्षम है। केन्द्र ऐसे लोगों के साथ सम्पर्क में रहता है जो आपदा प्रबन्धन के कार्यों में लगे रहते हैं तथा अनुभवी होते हैं। आपदा विभाग की संरचना को निम्न प्रकार से देख सकते हैं-

1. मुख्य सचिव (ई0 सी0)- अध्यक्ष
2. प्रमुख सचिव, वित्त, उत्तराखण्ड सरकार- सदस्य
3. प्रमुख सचिव, गृह, उत्तराखण्ड सरकार- सदस्य
4. प्रमुख सचिव, राजस्व, उत्तराखण्ड सरकार- सदस्य
5. प्रमुख सचिव, आपदा प्रबन्धन, उत्तराखण्ड सरकार- सदस्य
6. प्रमुख सचिव, सिंचाई, उत्तराखण्ड सरकार- सदस्य
7. निदेशक, उत्तराखण्ड प्रशासन अकादमी, नैनीताल- सदस्य
8. आयुक्त रिलिफ, उत्तराखण्ड सरकार- सदस्य
9. कार्यकारी निदेशक, आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्ध केन्द्र- सचिव/ सदस्य

कार्यकारी समिति के सदस्य

1. प्रमुख सचिव/सचिव आपदा प्रबन्धन, उत्तराखण्ड सरकार- अध्यक्ष
2. निदेशक उत्तराखण्ड प्रशासन अकादमी, नैनीताल- सदस्य
3. कार्यकारी निदेशक, आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्ध केन्द्र- सचिव/ सदस्य
4. अपर सचिव, वित्त, उत्तराखण्ड सरकार- सदस्य

5.5.1 ज्योग्रैफिकल इन्फॉर्मेशन सिस्टम (जी0आई0एस0) डाटाबेस

विभिन्न प्रकार के आधारित संरचना के डाटाबेस एक महत्वपूर्ण साधन हैं, जिसके द्वारा आपदा से बेहतर तरीके से निपटा जा सकता है। इसके लिये आपदा विभाग ने जी0आई0एस0(ज्योग्रैफिकल इन्फॉर्मेशन सिस्टम) के द्वारा सम्पूर्ण उत्तराखण्ड की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर ली है। आपदा न्यूनीकरण व प्रबन्ध केन्द्र द्वारा सेटलाईट से प्राप्त डाटा (सूचनाएं) का प्रयोग आपदा से निपटने में कर रहा है। आपदा न्यूनीकरण व प्रबन्ध केन्द्र के द्वारा निम्न विषयों पर आधारिक संरचना एकत्रित की जा चुकी है- निकासी व्यवस्था(नालियों की), आवास, सड़कें, सिंचाई, स्वास्थ्य संगठन, पुलिस एवं राजस्व पुलिस संरचना, बेहतर संचार व्यवस्था और एफ0 सी0 आई0 गोदाम आदि।

राज्य में आपदा न्यूनीकरण व प्रबन्ध केन्द्र की इकाईयां निम्न स्थानों पर हैं- 1. अल्मोड़ा, 2. बागेश्वर, 3. चमोली, 4. चम्पावत, 5. देहरादून, 6. हरिद्वार, 7. नैनीताल, 8. पौड़ी, 9. पिथौरागढ़ 10. रूद्रप्रयाग, 11. टिहरी, 12. उत्तरकाशी, 13. उधम सिंह नगर।

राज्य के सभी जिलों में आपदा विभाग द्वारा केन्द्र स्थापित किये हैं, जो आपदा के समय अपनी सेवा प्रदान करते हैं। ये केन्द्र जनपद में विभिन्न विभागों के प्रशिक्षित कार्मिकों का क्षेत्रवार विवरण तथा कार्य-क्षेत्र निर्धारण, खोज व बचाव दल जिन्हें आपदा प्रबन्ध द्वारा प्रशिक्षित किया गया है एवं चिन्हित किया गया है, उनकी सूची आपदा प्रबन्ध विभाग के पास उपलब्ध कराता है। साथ ही केन्द्र जिला इकाईयों के साथ मिल कर जागरूकता कार्यक्रम को प्रशासन के निर्देशानुसार तैयार करता है तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करता है। आज हम देख रहे हैं कि निरन्तर पर्यावरण असंतुलित हो रहा है और जिस तरह पर्यावरण असंतुलित हो रहा है, उसी तरह प्राकृतिक आपदाओं का स्वरूप भी बदल रहा है। ये सब ध्यान में रखते हुए आम लोगों को खतरों के प्रति जागरूक किया जा सकता है। जिसके लिये आपदा विभाग का गठन किया गया है। आपदा विभाग के गठन के बाद से राज्य आज आपदा से बचाव के लिये तरह-तरह के कार्यक्रम चला रहा है। जिससे राज्य सरकारों को आपदा से निपटने के लिये सहायता मिल रही है।

अभ्यास प्रश्न-

1. संरचना की दृष्टि से विभागों को दो भागों में बांटा जाता है, उनके नाम बताएँ।
2. विभाग के भीतर कार्य करने वाले दो प्रकार के मंडलों के नाम बताएँ।
3. लूथर गूलिक ने विभागों के गठन के लिए कौन सा फार्मूला दिया?
4. उत्तराखण्ड राज्य का वित्तीय डाटा केन्द्र कहाँ है?
5. राज्य का आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्ध केन्द्र कहाँ स्थित है?
6. जी0आई0एस0 का पूरा नाम क्या है?

5.6 सारांश

किसी भी शासन व्यवस्था का पहला गुण वहाँ की कार्यप्रणाली का आवंटन होता है। कार्य को क्रियान्वित करना विभागों के जिम्मे होता है। शासन के समस्त कार्यों को अलग-अलग विभागों द्वारा किया जाता है। इस इकाई में हमने शासन के सबसे महत्वपूर्ण विभागों- गृह विभाग, वित्त विभाग व उत्तराखण्ड राज्य के लिये सबसे अधिक

महत्व रखने वाला आपदा विभाग का अध्ययन किया। इस अध्याय में राज्य के गृह विभाग की विस्तृत चर्चा की गयी तथा राज्य के पुलिस व्यवस्था का अध्ययन किया गया। इसी के साथ राज्य के वित्त विभाग के प्रत्येक पहलू का अध्ययन किया गया। आपदा प्रबन्ध विभाग राज्य में कैसे काम कर रहा है, इसकी भी चर्चा इस अध्याय में की गयी।

5.7 शब्दावली

जी0आई0एस0- ज्योग्राफिकल इन्फोर्मेशन सिस्टम, 4-पी- उद्देश्य, प्रक्रिया, व्यक्ति, स्थान, राजनीतिक अध्यक्ष- किसी विभाग का मंत्री उस विभाग का राजनीतिक अध्यक्ष होता है

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. एकात्मक और संघात्मक, 2. प्रशासनिक मंडल और परामर्शकारी मंडल, 3. 4-पी, 4. देहरादून, 5. देहरादून, 6. ज्योग्राफिकल इन्फोर्मेशन सिस्टम

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. लोक प्रशासन- अवस्थी व माहेश्वरी।
2. उत्तराखण्ड एक सम्पूर्ण अध्ययन- वी0डी0 बलूनी।
3. वार्षिक रिपोर्ट, सन्तुलित, समयबद्ध व समग्र विकास- उत्तराखण्ड शासन।
4. पहाड़ पत्रिका- शेखर पाठक, संपादक, नैनीताल।

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. उत्तरांचल समग्र अध्ययन- सविता मोहन व हरीश यादव।

5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विभाग से आप क्या समझते हैं? विभागीय संगठन का आधार, क्षेत्र व गठन के सिद्धान्त को समझाएं।
2. उत्तराखण्ड राज्य के गृह विभाग की विस्तृत रूप से व्याख्या कीजिए।
3. वित्त विभाग के क्या-क्या कार्य हैं, विस्तार से बताएं।
4. उत्तराखण्ड राज्य के आपदा प्रबन्धन पर निबन्ध लिखिए।

इकाई- 6 स्वतन्त्रता पश्चात भारत में जिला प्रशासन और जिलाधिकारी

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 भारत में जिला प्रशासन- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

6.3 भारत में जिला प्रशासन का ढाँचा

6.4 स्वतन्त्रता पश्चात भारत में जिला प्रशासन

6.5 जिलाधिकारी के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व

6.5.1 समन्वयक कार्य

6.5.2 राजस्व एवं आबकारी कार्य

6.5.3 पुलिस कार्य

6.5.4 दंडाधिकारी के कार्य

6.5.5 चुनाव कार्य

6.5.6 विकास कार्य

6.5.7 आपदा प्रबंधन सम्बन्धी कार्य

6.5.8 जनगणना सम्बन्धी कार्य

6.6 जिलाधिकारी की बदलती भूमिका

6.7 सारांश

6.8 शब्दावली

6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

74वां संविधान संशोधन नगर निकायों में सत्ता विकेन्द्रीकरण का एक मजबूत आधार है। अतः इकाई 24 के अध्ययन का उद्देश्य, 74वें संविधान संशोधन की आवश्यकता और 74वें संविधान संशोधन में मौजूद उपबंधों और नियमों को स्पष्ट करना है। भारत विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र के रूप में जाना जाता है। इस लोकतंत्र का सबसे रोचक महत्वपूर्ण पक्ष है, सत्ता व शक्तियों का विकेन्द्रीकरण।

प्रस्तुत में हम स्वतंत्रता के पश्चात जिला प्रशासन और जिलाधिकारी के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे। जिसमें हम यह देखेंगे कि किस प्रकार से लोकतंत्र को अपनाने के कारण, स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासन के स्वरूप और लक्ष्य में किस प्रकार से परिवर्तन आये हैं। वहीं जिला प्रशासन और जिलाधिकारी जो स्वतंत्रतापूर्वक जनता को दबाकार कार्य करते थे, जो सभी प्रकार की जबाबदेही से मुक्त थे। परन्तु स्वतंत्रता उपरान्त अब प्रशासन जनता के दबाव में काम करता है, जो अपने सभी कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी है, क्योंकि वर्तमान समय में हमारे देश में लोकतंत्र प्रचलित है, जिसमें अंतिम सत्ता जनता में ही निहित होती है। इसलिए जिलाधिकारी के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों में अभूतपूर्व परिवर्तन दिखाई दे रहा है। इन सभी पक्षों का अध्ययन हम इस इकाई में करेंगे।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता पूर्व जिला प्रशासन का स्वरूप क्या था।
- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता के पश्चात जिला प्रशासन के स्वरूप में किस प्रकार का परिवर्तन आया है।
- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता के पश्चात जिलाधिकारी के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों में किस प्रकार का परिवर्तन आया है।
- यह जान सकेंगे कि स्वतंत्रता के पश्चात जिलाधिकारी और जिला प्रशासन किस प्रकार जनता के दबाव में जनता के लिए कार्य करते हैं।

6.2 भारत में जिला प्रशासन- ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अगर भारत में जिला प्रशासन के इतिहास पर नजर डालें तो इसका वर्णन मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों से लेकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मौर्य प्रशासन, मुगलकाल की प्रशासनिक व्यवस्था और ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था में मिलता है। मौर्यकाल में जिला अधिकारी को 'रज्जुकाज' कहा जाता था। मुगल काल में जिले स्तर का प्रशासनिक अधिकारी प्रशासनकी सफलता का आधार स्तम्भ था। अकबर के समय में जिले को सरकार कहा जाता था तथा इसके प्रशासक को फौजदार कहा जाता था। ब्रिटिश शासकों ने भारत में अपने व्यापार के समय से लेकर भारत में सीधा प्रशासन करने तक एक निश्चित क्षेत्र को 'डिस्ट्रिक्ट' कहते थे और 'कलक्टर' 'डिस्ट्रिक्ट' की एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में अपने दायित्वों की पूर्ति करता था। वारेन हेस्टिंग्स ने राजस्व और कानून व्यवस्था को कलक्टर के पद के साथ जोड़ कर उसे और सशक्त बना दिया। सन् 1792 में जिला कलक्टर से न्यायिक शक्तियों अलग करके 'जिला न्यायाधीश' का पद बनाया गया और जिले स्तर के न्यायिक कार्यों का दायित्व सौंपा गया। लेकिन लॉर्ड विलियम बैंटिक ने अपने समय में जिला अधिकारी से दण्डाधिकारी के कार्यों को अलग कर जिला कलक्टर के पद में समाहित कर दिया। जिला कलक्टर की नियुक्ति पहले 'कवेनेन्टेड सिविल सर्विस' के माध्यम से की जाती थी जो बाद में आईसीएस(ICS) की परीक्षा के माध्यम से की जाने लगी।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में जिला ही क्षेत्रीय प्रशासन का मुख्य आधार बना। लेकिन भारतीय संविधान में कहीं पर भी जिले को प्रशासनिक इकाई बनाने की बात नहीं कही गयी है। स्वतंत्रता के बाद जिला प्रशासन के कार्यों और दायित्वों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। इसका कार्यक्षेत्र पहले से कहीं अधिक व्यापक और जिम्मेदारी वाला हुआ है।

6.3 भारत में जिला प्रशासन का ढाँचा

भारत में जिला प्रशासन की ढाँचे को एक पदसोपान युक्त व्यवस्था में देखा जा सकता है। जिला प्रशासन के इस प्रशासनिक ढाँचे में पदसोपान व्यवस्था में दो, तीन या चार स्तर हो सकते हैं। भारत के अधिकांश राज्यों के जिलों में प्रशासन के तीन स्तर मिलते हैं, पहला- जिला, इसका मुख्यालय प्रमुख नगर में केन्द्र होता है। दूसरा- उपखण्ड का मुख्यालय, जिसका केन्द्र जिले के अन्य स्थानों पर होता है और तीसरा- तहसील कार्यालय। ये तीनों स्तर जिले में सामान्य प्रशासन की दृष्टि से बनाए जाते हैं, लेकिन विकास कार्यों के लिए राज्यों में प्रशासन के कई स्तर हैं।

जिले स्तर पर प्रशासन के तीन स्तरों पर अधिकारी वर्ग का भी उल्लेख है। पहले स्तर के अधिकारी का क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण जिला है, जिसमें जिला अधिकारी, जिला कृषि अधिकारी, जिला परिषद के अध्यक्ष, स्वास्थ्य अधिकारी आदि आते हैं। बड़े जिलों में दो मध्यवर्ती स्तर पाये जाते हैं, जबकि छोटे जिलों में यह स्तर एक ही होता है। इस स्तर पर उपखण्ड अधिकारी या उपखण्ड दंडनायक होता है। उपखण्ड अधिकारी सामान्य प्रशासक होता है। वह

तहसीलदार और कलक्टर के मध्य राजस्व मामलों में तथा कलक्टर और स्थानीय पुलिस अधिकारी के बीच कानून और शांति के मामलों में एक कड़ी का कार्य करता है। उपखण्ड को तहसीलों में बांटा जाता है। इस स्तर के प्रमुख अधिकारी तहसीलदार, विकास अधिकारी आदि होते हैं। तहसीलदार तहसील का मुख्य अधिकारी होता है, वह अधिनस्थ सेवा का सदस्य होता है। तहसीलदार को उसके कार्यों में नायब तहसीलदार, कानूनगो और पटवारी सहायता करते हैं। सरकार द्वारा सौंपे गये कार्यों और समस्त राजस्व कार्यों के लिए तहसीलदार कलक्टर के माध्यम से राज्य सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है। ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत मुखिया, पटवारी व ग्राम सहायक आदि आते हैं। जिला प्रशासन का ढाँचा पूर्णतः विकेन्द्रीकृत है, जिसके माध्यम से सरकारें लोक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को पूर्ण करती है।

6.4 स्वतन्त्रता पश्चात भारत में जिला प्रशासन

हमारे देश में प्रशासनिक सुविधा के लिए संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना की गयी है, क्योंकि किसी भी बहुत बड़े क्षेत्र को प्रत्यक्ष रूप से संचालित करना आसान नहीं होता है। इसलिए भारतीय प्रशासन को सुचारू संचालन हेतु, प्रदेश को जिला में विभाजित किया गया है। जहाँ से सभी प्रशासनिक दायित्वों का निर्वहन किया जाता है। इस प्रकार 'जिला' क्षेत्रीय प्रशासन का आधार है, जिस पर भारतीय प्रशासन का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा है। स्वतन्त्रता पूर्व देश का प्रशासन अंग्रेजों द्वारा संचालित किया जाता था। यह सर्वविदित है कि अंग्रेजों का उद्देश्य भारतीय जनमानस को सशक्त और सक्षम बनाना नहीं था, वरन् उनका प्रमुख उद्देश्य अपना हित साधना था, उनके इस हित साधन की प्रक्रिया में प्रशासन का मुख्य कार्य नियामकीय था, जिसमें निषेधात्मक कार्य ही संचालित किए जाते थे न कि सकारात्मक कार्य। इन नियामकीय कार्यों में कानून और व्यवस्था बनाए रखना प्रमुख था। परन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त शासन के स्वरूप में परिवर्तन आया है। हमने संसदीय लोकतन्त्र को अपनाया, जिसमें सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और उसका अस्तित्व विधायिका के निम्न सदन (केन्द्र में लोक सभा, राज्य में विधान सभा) जिसे जन-प्रतिनिधि सदन भी कहते हैं, के बहुमत के समर्थन पर निर्भर करता है। इस कारण से जिला प्रशासन के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है, क्योंकि राष्ट्रीय स्तर पर या राज्य स्तर पर बनाई गयी कोई भी नीति हो, उसका क्रियान्वयन, जिला प्रशासन के स्तर पर ही होता है। भारतीय संविधान के द्वारा कल्याणकारी राज्य की स्थापना को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए स्पष्ट है कि भारतीय प्रशासन के स्वरूप में जिला प्रशासन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय प्रशासन में जिला प्रशासन महत्वपूर्ण है, तो जिला प्रशासन में जिलाधिकारी के पद उसकी भूमिका भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह जिला प्रशासन का मुखिया होता है। इसलिए इस इकाई में हम जिलाधिकारी के पद और उसकी भूमिका का अध्ययन करेंगे।

6.5 जिलाधिकारी के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व

जैसा कि हम इस इकाई के प्रारम्भ में देख चुके हैं कि भारतीय प्रशासन में जिलाधिकारी का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि देश के सभी नीतियों का वास्तविक रूप से क्रियान्वयन जिला प्रशासन के स्तर पर ही जिलाधिकारी की देख-रेख में ही संचालित किए जाते हैं। यहाँ हम यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि स्वतन्त्रता के पूर्व जिलाधिकारी के अधिकार और शक्तियाँ ज्यादा थी, जबकि उनकी जिम्मेदारी कम होती है, क्योंकि ब्रिटिशकाल में प्रशासन के लक्ष्य बहुत ही सीमित और नियामकीय प्रकृति के थे, जिसका प्रमुख उद्देश्य कानून और व्यवस्था की स्थापना करना था। जबकि स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रशासन के लक्ष्य में परिवर्तन आया है। अब लक्ष्य में परिवर्तन का कारण, शासन के संगठन में परिवर्तन है। अब देश में कोई विदेशी सरकार कार्य नहीं कर रही है, वरन् अब ऐसी सरकार कार्य कर रही है, जो जनता द्वारा निर्वाचित है और जनता के हित के लिए कार्य कर रही है।

इस प्रकार अब सरकार जनता के दबाव में कार्य कर रही है। ऐसी बदली हुई परिस्थिति में प्रशासन के स्वरूप में परिवर्तन आना स्वाभाविक है।

अब जिलाधिकारी के अधिकार में कमी आयी है व दायित्वों में वृद्धि हुई है और जो अधिकार हैं भी वे अंग्रेजी शासन के समान जनता को दबाव में रखकर कार्य करने हेतु नहीं, वरन् वे लोकतन्त्र की भावना के अनुरूप शासन की नीतियों को जनता के हित में क्रियान्वयन करने के लिए हैं।

चूँकि जिले में जिलाधिकारी शासन का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए सामान्य दिनों में जनकल्याणकारी नीतियों और कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक लागू करने से लेकर आकस्मिक रूप से उत्पन्न संकटकालीन स्थितियों का समाधान कर शान्तिपूर्ण सामाजिक वातावरण तैयार करने की चुनौतिपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वहन अपने सूझ-बूझ से करता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जिलाधिकारी को अनेकानेक चुनौतिपूर्ण दायित्वों का निर्वहन करना होता है, वे इस प्रकार हैं-

6.5.1 समन्वयक का कार्य

जैसा कि हम उपर देख चुके हैं कि जिलाधिकारी जिलों का प्रशासनिक मुखिया होता है, जो प्रमुख समन्वयक के रूप में कार्य करता है। समन्वयक के रूप में जिलाधिकारी जिले की विभिन्न समन्वय समितियों की बैठकें आहूत करता है और उन समितियों का अध्यक्ष भी वही होता है। जिले में जिलाधिकारी संयुक्त परिवार के मुखिया की तरह कार्य करता है, जिसमें वह जिले के विभिन्न विभागों के कार्यों पर निगरानी रखता है और आवश्यकतानुसार उन्हें निर्देश देता है, जिससे वे सुगमता पूर्वक अपने विभाग से सम्बन्धित दायित्वों का निर्वहन कर सकें। फलस्वरूप जिला प्रशासन के सफलतापूर्वक अपने दायित्वों के निर्वहन से लोकतन्त्र में हमारे संविधान द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

6.5.2 राजस्व एवं आबकारी कार्य

जिलाधिकारी अपने दायित्वों के निर्वहन में सर्वप्रथम राजस्व अधिकारी के रूप में ही कार्य करता है। भू-राजस्व के संग्रह के साथ ही साथ आबकारी संग्रह हेतु जिलाधिकारी के पास अधिकारियों की लंबी फौज होती है, जिनकी सहायता से वह अपने दायित्वों का निर्वहन करता है। जिनमें उप-जिलाधिकारी, तहसीलदार, नायब तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी आदि होते हैं। वह विभिन्न विभागों में बकायों की वसूली के लिए भी जिम्मेदार होता है। बकायों में भू-राजस्व बकाया, सिंचाई बकाया आदि। जिलाधिकारी राजस्व संग्रह के लिए मुख्य प्रेरक के रूप में कार्य करता है। वह कृषि ऋण आवंटन पर निगरानी रखता है और आपदा, अकाल आदि संकटकालीन स्थितियों में ऋण वसूली के स्थगन का आदेश भी जारी करता है।

6.5.3 पुलिस कार्य

सामान्यतया हमें यह दिखाई देता है कि पुलिस प्रशासन एक स्वतंत्र विभाग के रूप में कार्य करता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जिलाधिकारी जिला प्रशासन के समन्वयक के रूप में विभिन्न विभागों की निगरानी और नियंत्रण करता है, जिसमें पुलिस भी शामिल है। पुलिस अधिनियम की धारा-4 में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि जिलाधिकारी को पुलिस पर नियंत्रण और उसे निर्देश देने का अधिकार प्राप्त है।

राष्ट्रीय सुरक्षा कानून(रासुका) की धारा-144 का प्रयोग जिलाधिकारी करता है। आपातकालीन स्थितियों में उसे सेना तक को बुलाने का अधिकार प्राप्त है। वन्य जीव संरक्षण हेतु वन पुलिस और अग्निकांड से निजात पाने हेतु अग्निशमन दल को निर्देशित करता है कि वे आवश्यक कार्यवाही कर समस्या का निराकरण करें। इस प्रकार से स्पष्ट है कि जिले का कोई भी विभाग और उस विभाग का कोई भी मुखिया हो, किन्तु आवश्यकता महसूस होने

पर जिलाधिकारी सभी को निर्देश दे सकता है, क्योंकि जिला प्रशासन की सफलता और असफलता के लिए अंतिम रूप से वही उत्तरदायी होती है।

6.5.4 दंडाधिकारी कार्य

जिलाधिकारी पर जिले के कानून और व्यवस्था को बनाए रखने की जिम्मेदारी होती है। इसके साथ-साथ दंडाधिकारी के रूप में प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की शक्तियाँ प्राप्त हैं। जिले में अस्त्र-शस्त्र के लाइसेंस उसके द्वारा ही प्रदान किए जाते हैं। लाइसेंस जारी करना भी उनके अधिकार-क्षेत्र में आता है। अपराध नियंत्रण के लिए भी अंतिम रूप से जिम्मेदारी जिलाधिकारी की होती है, क्योंकि वह जिला प्रशासन का मुखिया होता है।

6.5.5 चुनाव कार्य

जैसा कि हम जानते हैं कि हमारे देश में संसदीय लोकतंत्र को अपनाया गया है। यह प्रणाली संघ और राज्य, दोनों स्तरों पर अपनायी गयी है, इसलिए संसद और विधानमंडल के चुनाव को सुचारु रूप से संचालित करने का जिम्मा इन पर होता है। ये ही नहीं हमारे देश में त्रि-स्तरीय पंचायती व्यवस्था को भी लागू किया गया है, इसलिए इन सभी के चुनाव के सुचारु संचालन की जिम्मेदारी भी इन्हीं की होती है। जिलाधिकारी अपने इस दायित्वों का निर्वहन जिला निर्वाचन अधिकारी की सहायता से करते हैं। चुनाव के पश्चात विजयी प्रत्याशियों को प्रमाण-पत्र भी जिलाधिकारी के द्वारा ही दिया जाता है।

6.5.6 विकास कार्य

जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वतंत्रता के पश्चात सरकार की प्राथमिकताएँ बदल गयी हैं। चूँकि लोकतंत्र जनता के प्रति उत्तरदायी शासन है, जो कि जनता की भलाई के लिए विभिन्न विकास योजनाओं को चलाता है और जिनका क्रियान्वयन जिला स्तर पर ही होता है। जिलाधिकारी जिला प्रशासन का मुख्य अधिकारी होता है, इसलिए वह विकास अधिकारी के रूप में इन विकास योजनाओं के सफल क्रियान्वयन को सुनिश्चित करता है। इसके साथ ही साथ जिला समाज कल्याण अधिकारी से परामर्श कर कल्याणकारी योजनाओं को लागू करता है। पंचायतीराज व्यवस्था में भी जिलाधिकारी महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि जिला पंचायत में वह पदेन सदस्य होता है।

6.5.7 आपदा प्रबंधन सम्बन्धी कार्य

आपदा दो प्रकार के होते हैं- प्राकृतिक आपदा और मानवजनित आपदा। प्राकृतिक आपदाओं में बाढ़, भूकंप, महामारी, अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के समय घायलों का उपचार विस्थापितों के आवास एवं भोजन की व्यवस्था तथा उनको पुनःस्थापित करने का कार्य महत्वपूर्ण है, जिसे जिला अधिकारी के दिशा-निर्देश पर सम्पन्न कराया जाता है।

6.5.8 जनगणना सम्बन्धी कार्य

जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक दस वर्ष के अंतराल पर जनगणना होती है। इस जनगणना कार्य को संपन्न कराने की जिम्मेदारी जिलाधिकारी की होती है। इस कार्य का संपादन वह जिला जनगणना अधिकारी की सहायता से करता है। जनगणना उपरान्त इसकी सूचना केन्द्रीय सांख्यिकीय विभाग को देता है।

6.6 जिलाधिकारी की बदलती भूमिका

इसमें हम सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जिलाधिकारी की बदलती भूमिका का अध्ययन करने के लिए हमें यह भी देखना होगा कि स्वतंत्रता पूर्व प्रशासन किस प्रकार से कार्य करता था और आजादी के बाद किस प्रकार से? साथ ही यह भी देखना होगा कि स्वतंत्रता के बाद समय-समय पर प्रशासन के पुनर्गठन के कारण और नित्य

नवीन चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में किस प्रकार से जिलाधिकारी की भूमिका में किस रूप में परिवर्तन आए हैं और वर्तमान में उनका स्वरूप क्या है?

यहाँ हम बताते चलें, जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं कि आजादी से पूर्व प्रशासन, जनता के हित में और उनकी भलाई के लिए कार्य नहीं करता था, क्योंकि उस समय यहाँ पर लोकतंत्र नहीं था, वरन् अंग्रेजी शासन था जो अपने हित के लिए कार्य कर रहा था। इसलिए उस समय आम जनता के कोई अधिकार नहीं थे, वरन् केवल दायित्व थे। इसलिए प्रशासन का कार्य नियामकीय प्रकृति का था। जिसका प्रमुख उद्देश्य कानून और व्यवस्था बनाए रखना था, जिससे अंग्रेजी शासन को अपने हित की सिद्धि में किसी प्रकार के अवरोध का सामना न करना पड़े।

किन्तु स्वतन्त्रता के बाद लोकतन्त्र में प्रशासन कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को साकार करने के लिए काम करने लगा। प्रशासन अब जनता पर दबाव बनाकर अपने हित के लिए कार्य नहीं कर रहा है वरन् वह अब जनता के दबाव में, जनता के हित के लिए कार्य कर रहा है। प्रशासन की स्थिति में अब परिवर्तन हो गया है। अब वह स्वामी की स्थिति में न होकर जनता के सेवक के रूप में कार्य कर रहा है।

इसलिए अब सभी नीतियाँ जनता के हित को ध्यान में रखकर निर्मित हो रही हैं और उनका क्रियान्वयन हो रहा है। इन नीतियों का क्रियान्वयन जिला प्रशासन के स्तर पर ही हो रहा है, जिसका प्रमुख जिलाधिकारी होता है। इसलिए जिलाधिकारी की स्थिति बहुत ही महत्वपूर्ण हो गयी है।

परन्तु समय के साथ-साथ कार्यभार की वृद्धि के कारण जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के गठन के फलस्वरूप अब विकास कार्यों से, औपचारिक रूप से काफी हद तक जिलाधिकारी अलग हो गया है। किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैसा कि हम पूर्व में बता चुके हैं कि जिलाधिकारी जिला प्रशासन में समन्वयक की भूमिका में होता है और जिले के प्रशासन की सफलता और असफलता के लिए अन्तिम रूप से वही जिम्मेदार होता है। इन विकास कार्यों पर वह निगरानी रखता है।

भारतीय संविधान में 73वें संवैधानिक संशोधन द्वारा पंचायती राज व्यवस्था का उपबन्ध किया गया और उसे लागू किया गया। साथ ही 74वें संवैधानिक संशोधन द्वारा नगरीय स्थानीय स्वशासन का उपबन्ध कर उसे लागू किया गया, जिसके लिए क्रमशः 11वीं और 12वीं अनुसूची को भारतीय संविधान में शामिल किया गया। इसलिए पंचायतीराज और नगरीय निकाय के कार्यों में वृद्धि से जिलाधिकारी के दायित्वों में वृद्धि हुई, क्योंकि जिलाधिकारी जिला पंचायत का पदेन सदस्य होता है।

चूँकि बहुत से विभाग अब सीधे शासन से निर्देश प्राप्त करते हैं, इसलिए जिलाधिकारी की स्थिति में दिखाई देता है। परन्तु तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्तन के दौर में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चुनौतियों का निराकरण करने में जिलाधिकारी का व्यक्तित्व उसके पद और भूमिका को और अधिक महत्ता प्रदान कर देता है।

उपरोक्त तथ्यों के बावजूद स्वतन्त्रता के बाद जिलाधिकारी के पद, स्थिति, सत्ता और प्रभाव में गिरावट आई है, क्योंकि लोकतन्त्र को अपनाने के कारण वह अब स्वामी की स्थिति के बजाय सेवक की स्थिति में है। यद्यपि इसमें परिवर्तन अभी पूरी तरह से नहीं हो पाया है। लोकतान्त्रिक शासन में मंत्री, अपने विभाग का अध्यक्ष होता है, इसलिए वह जिलाधिकारी पर पंचायती राजव्यवस्था लागू होने और स्थानीय नेताओं की सक्रियता से भी उस पर दबाव बना रहता है। एक अन्य प्रमुख कारण होता है, लगातार हो रहे स्थानान्तरण के कारण भी वह उतना प्रभावशाली तरीके से कार्य नहीं कर पाता है।

6.7 सारांश

राज्य में प्रशासन के कार्यों के लिए जिला एक महत्वपूर्ण इकाई रहा है। शासन के बदलते रूपों से उसकी भूमिका में भी बदलाव आता रहा है। प्राचीन काल में जिला प्रशासन के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। मुगलकाल में जिले

स्तर का अधिकारी प्रशासन की सफलता का आधार माना जाता था। अंग्रेज शासकों ने जिला प्रशासन का अपने हित में भरपूर प्रयोग किया तथा जिला प्रशासन के लिए नये कार्य और दायित्वों का निर्धारण भी किया। स्वतंत्रता से पहले जिला प्रशासन मात्र केन्द्र के कार्यों और लक्ष्यों को ध्यान में रखकर कार्य करता था। स्वतंत्रता पश्चात जिला प्रशासन की भूमिका सरकार के कार्यों के निष्पादन के साथ-साथ जन कल्याण के कार्यों के निर्वहन की भी हो गयी है। अब जिले स्तर के अधिकारी और विभाग स्वामी नहीं बल्कि जनता के सेवक के तौर पर कार्य करते हैं। वे जन भावनाओं को ध्यान में रखकर जिला प्रशासन के कार्यों का सम्पादन करते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. 73वें वे संवैधानिक संशोधन का सम्बन्ध पंचायतीराज से है। सत्य/असत्य
2. स्वतंत्रता पूर्व जिला प्रशासन की प्रकृति नियामकीय थी। सत्य/असत्य
3. स्वतंत्रता के उपरान्त जिला प्रशासन जनता के दबाव में कार्य करता है। सत्य/असत्य
4. स्वतंत्रता के उपरान्त जिलाधिकारी के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों में परिवर्तन लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली अपनाने के कारण आई है। सत्य/असत्य

6.8 शब्दावली

नियामकीय कार्य- वे कार्य जो कानून और व्यवस्था की स्थापना से संबंधित होते हैं।

सकारात्मक कार्य- वे कार्य जो मानव जीवन को सरल और उन्हें सक्षम बनाने के लिए किए जाते हैं।

6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. सत्य, 4. सत्य

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान- ब्रज किशोर शर्मा।
2. भारतीय लोक प्रशासन- बी0एल0 फड़िया।
3. भारतीय लोक प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय संविधान- डी0डी0 बसु।
2. भारतीय लोक प्रशासन- एस0सी0 सिंहल।

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता के पश्चात जिला प्रशासन के स्वरूप में किस प्रकार का परिवर्तन आया है? इसको स्पष्ट करते हुए जिलाधिकारी के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों की विवेचना कीजिये।
2. जिला अधिकारी की बदलती भूमिका की विस्तार से चर्चा कीजिए।

इकाई- 7 स्थानीय शासन- परिचय, भूमिका, महत्व

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 भारत में स्थानीय स्वशासन की पृष्ठभूमि

7.3 स्थानीय शासन का अर्थ एवं परिभाषा

7.4 स्थानीय शासन की भूमिका एवं महत्व

7.5 स्थानीय स्वशासन के लाभ

7.5.1 स्थानीय विषयों का कुशलतापूर्ण प्रबन्ध

7.5.2 केन्द्रीय शासन का भार कम होना

7.5.3 सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति जागरूक करना

7.5.4 राजनीतिक शिक्षण एवं राष्ट्र के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना

7.5.5 नौकरशाही पर नियंत्रण एवं मितव्ययिता

7.5.6 शासन में जन-सहभागिता एवं नागरिक गुणों का विकास

7.5.7 सुविधाएं पहुँचाने का साधन

7.5.8 नीति निर्माण में सहायक

7.6 भारत में स्थानीय शासन की संवैधानिक स्थिति

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

वर्तमान युग में स्थानीय शासन व्यवस्था, लोकतंत्र के बुनियादी मूल्यों स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व पर आधारित राजनीतिक निर्णयों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण एवं जन सहभागिता के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्धों पर आधारित है। लोकतंत्र की मूल मान्यता सर्वोच्च सत्ता का जनता में निहित होना है और इसका आशय होता है कि सर्वोच्च शक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण कर उसमें व्यक्ति की प्रत्यक्ष भागीदारी को शासन कार्यों में अभीष्ट स्थान देना। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इस भावना को मूर्त रूप देने में स्थानीय शासन व्यवस्थाओं का महत्वपूर्ण स्थान है विशेष तौर पर तब जबकि इन संस्थाओं में प्रबन्धन कार्य स्वयं नागरिकों की सहभागिता से होता है। इन संस्थाओं को जहाँ लोकतंत्र की आधारशिला कहा जाता है वहीं जनता को जागरूक कर लोकतंत्र के विश्वास का पाठ पढ़ाती है। भारत जैसे देश में जहाँ दो-तिहाई से भी अधिक जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती हो, वहाँ स्थानीय शासन की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। भारत का विस्तृत भू-भाग, कल्याणकारी सरकार के विस्तृत कार्य एवं दायित्व, स्थानीय समस्याओं का दिन-प्रतिदिन व्यापक होना आदि चुनौतियों के समाधान के लिए स्थानीय शासन ही कारगर हथियार है। डी0 टाकविले के अनुसार, “स्वतंत्र राष्ट्रों की शक्ति स्थानीय संस्थाएं होती हैं। एक राष्ट्र स्वतंत्र शासन की स्थापना कर सकता है किंतु स्थानीय संस्थाओं के बिना स्वतंत्रता की भावना

नहीं हो सकती है।” स्थानीय शासन के लोकतांत्रिक महत्त्व को देखते हुए भारतीय संविधान में 73वाँ एवं 74वाँ संविधान संशोधन करते हुए संवैधानिक दर्जा प्रदान कर दिया गया, और 14 अप्रैल 1993 से स्थानीय शासन (पंचायती एवं नगरीय) में विभक्त कर लागू कर दिया है। यह भारत में केन्द्र एवं राज्य सरकारों के पश्चात तीसरे स्तर की सरकार बन गयी।

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता और महत्ता को सैद्धान्तिक स्तर पर भी महसूस किया जाना अपेक्षित है; जबकि व्यवहार में ऐसे स्वस्थ वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें स्थानीय स्वशासन के सभी सदस्यों में सहभागितापूर्ण लोकतंत्र फल-फूल सके। विश्व का लोकमत इस दृष्टिकोण का कायल हो रहा है कि स्थानीय स्वशासन राष्ट्रीय विकास और लोगों की प्रभावकारी सहभागिता के लिए अत्यावश्यक है और समस्त लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अखण्ड एवं अपरिहार्य अंग इतना ज्यादा कि 08 अक्टूबर 1985 को यूरोपीय परिषद के 11 सदस्यों ने स्थानीय स्वशासन के यूरोपीय घोषणापत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में परम्परा के द्वारा स्थानीय सरकारों पर सरकार के कतिपय बुनियादी कार्यों का दायित्व निर्भर है।

हमारे देश का स्थानीय स्वशासन दो स्तरों- नगरीय एवं ग्रामीण में विभक्त है नगरीय क्षेत्र में स्थानीय प्रशासन के अन्तर्गत संचालित इकाइयां नगर निगम, नगर पालिकाएं, अधिसूचित क्षेत्र समितियां, छावनी बोर्ड संस्था है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पंचायतीराज व्यवस्था के त्रिस्तरीय रचना- जिला पंचायत, क्षेत्र पंचायत एवं ग्राम पंचायत को अपनाया गया। स्थानीय शासन को विभिन्न देशों में अलग- अलग नामों से संबोधित किया जाता है। इंग्लैण्ड में इन्हें स्थानीय सरकारें कहा जाता है। फ्रान्स में स्थानीय प्रशासन (प्रीफेक्ट व्यवस्था) तथा अमेरिका में नगर पालिका शासन कहते हैं। सोवियत रूस में इसे म्युनिसिपल सोवियतन कहा गया है। किन्तु भारत में इसे ‘स्थानीय स्वशासन’ से पुकारा जाता है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारत में स्थानीय शासन को समझ पायेंगे।
- लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा में स्थानीय शासन के महत्त्व को जान पायेंगे।
- स्थानीय शासन के माध्यम से राजनीतिक विकास में जनसहभागिता एवं नियंत्रण को समझ पायेंगे।

7.2 भारत में स्थानीय स्वशासन की पृष्ठभूमि

भारत में स्थानीय स्वशासन की अवधारणा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। स्थानीय स्वशासन वर्तमान की भाँति नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं में विभक्त थी विशेष रूप से ग्राम पंचायतों का अस्तित्व अति प्राचीन है। ‘पंचायत’ शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के ‘पंचायतन’ से हुई है जिसका आशय पाँच व्यक्तियों के समूह से है। वैदिक सभ्यता के साहित्य में सभा एवं समितियों का वर्णन मिलता है जो प्रजा की भलाई के लिए राजा को सलाह देती थी। जिससे अतिशासन पर नियंत्रण सम्भव होता था।

रामायण महाभारत काल के साहित्य में सभाओं, समितियों तथा गाँवों का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि रामायण में दो प्रकार के गाँवों का वर्णन है- घोश एवं ग्राम। मनुस्मृति के अनुसार गाँव का अधिकारी ‘ग्रामिक’ कहलाता था उसका कार्य ‘कर’ संचित करना था। दस गाँव के अधिकारी को ‘दशिक’, 20 गाँव के अधिकारी को ‘विधाधिप’ सौ गाँवों पर शतपाल और एक हजार गाँव के अधिकारी को सहस्रपति कहते थे। मौर्य काल के विदेशी यात्री मेगस्थनीज द्वारा भी स्थानीय शासन में नगरों एवं ग्राम आत्मनिर्भर छोटे गणतंत्रों के रूप में बताया गया। अर्थशास्त्र में कोटिल्य द्वारा स्थानीय स्वशासन पर काफी विस्तार से बताया गया और मौर्य शासकों के काल में इसका स्वरूप काफी विकसित था। गुप्त काल में गाँव के लिए ग्राम समितियों का विकास हो चुका था प्रशासनिक सुविधा के लिए

प्रान्तों को नगर एवं ग्राम में विभक्त किया गया था। नगर का अधिकारी 'नगरपति' एवं ग्राम का अधिकारी 'ग्रामिक' कहलाता था। राजपूत कालीन युग में भी प्रशासन की मूल इकाई ग्राम ही थी जिसका शासन प्रबन्ध सभा एवं समितियों द्वारा होता था नगरीय शासन प्रबन्ध 'पहनाधिकारी' द्वारा होता था।

सल्तनतकालीन प्रशासन मूलतः सैनिक शासन रहा, जहाँ निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारीता द्वारा स्थानीय स्वशासन के महत्त्व को कमतर कर दिया गया। सत्ता के केन्द्रीयकरण ने स्थानीय स्वायत्ता को प्रायः समाप्त ही कर दिया था। मुस्लिम शासनकाल में स्थानीय संस्थाओं के प्रति उपेक्षा देखने को मिलती है इस काल में स्थानीय संस्थाओं और स्वशासन का स्वरूप वह नहीं रहा था जो प्राचीन भारत की प्रशासनिक व्यवस्थाओं में देखने को मिलता है, विशेष रूप से जमींदारी प्रथा के आरम्भ होने के पश्चात। सत्ता के प्रति यह दृष्टिकोण आगे मुगलकाल में भी जारी रहा और स्थानीय स्वशासन की अवधारणा के महत्त्व पर कम ध्यान दिया गया। किन्तु स्थानीय प्रशासन पर 'आईन-ए-अकबरी' में नगर प्रशासन की जिम्मेदारी जिस अधिकारी पर थी वह 'कोतवाल' कहलाता था।

ब्रिटिश के प्रशासन में स्थानीय शासन के विषय में पर्याप्त विस्तृत विवरण मिलता है। यद्यपि भारत में स्थानीय स्वशासन प्राचीन काल से ही मौजूद रहा किन्तु इसका वर्तमान स्वरूप, संगठन, कार्यप्रणाली और विकास ब्रिटिश राज की ही देन है।

स्थानीय स्वशासन में शासक वर्ग का निर्वाचन जो प्रतिनिधियात्मक व उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता है, का विकास ब्रिटिश शासन में आरम्भ हुआ।

ब्रिटिश काल में ग्रामीण स्थानीय प्रशासन की अपेक्षा नगरीय स्थानीय संस्थाओं के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया था इसका आरम्भ 1687 मद्रास नगर निगम की स्थापना से माना जाता है। इस प्रकार ब्रिटिश काल में विकसित हुआ भारत का स्थानीय शासन लगभग 330 वर्ष पुराना है।

आजादी के पश्चात भारतीय संस्कृति के प्राचीन मूल्यों, परम्पराओं एवं विरासतों को प्रजातांत्रिक संवैधानिक व्यवस्थाओं के साथ स्वभाविक रूप से अपनाया गया और हमारे नीति निर्माताओं द्वारा स्थानीय शासन के महत्त्व को समझते हुए लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण पर आधारित स्वायत्ता प्रदान की गयी। निर्वाचक गणों के प्रति उत्तरदायी पूर्ण शासन को बनाने के लिए स्थानीय स्वशासन को विकसित करने का पुनित कार्य न केवल राज्य को सौंपा गया बल्कि नीति-निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत पंचायतों एवं नगरीय शासन को 1992 में 73वां एवं 74वां संविधान संशोधन कर संवैधानिक दर्जा प्रदान कर दिया गया। तब से भारतीय स्थानीय स्वशासन हमारी संघात्मक संरचना में शासन के तीसरे सोपान (केन्द्र, राज्य, स्थानीय) के रूप में एक मजबूत कड़ी का काम कर रहा है। स्थानीय स्वशासन के माध्यम से भारतीय संघात्मक शासन व्यवस्था ग्राम पंचायतों एवं नगरीय प्रशासन में आत्मनिर्णय उत्तरदायित्व एवं जनसहभागिता द्वारा विकास को पुख्ता किया जा रहा है।

7.3 स्थानीय शासन का अर्थ एवं परिभाषाएं

स्थानीय स्वशासन का अर्थ है नागरिकों का अपने ऊपर स्वयं का शासन अर्थात् लोगों की अपनी शासन व्यवस्था। प्राचीन काल में स्थानीय स्वशासन विद्यमान था तथा ग्रामीण शासन प्रबन्ध न के लिए लोगों के अपने, कायदे कानून होते थे। इन नियमों के पालन में प्रत्येक व्यक्ति स्वैच्छिक भूमिका निभाता था। क्योंकि इससे शान्ति व्यवस्था बनाने में, सहभागितापूर्ण कार्यों में, समस्याओं के समाधान की क्षमता में विशेष योग्यता प्राप्त होती थी ताकि सामाजिक न्याय के उद्देश्य को प्राप्त कर सके।

स्थानीय स्वशासन को स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं-

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार, "पूर्ण राज्य की अपेक्षा एक अन्दरूनी प्रतिबंधित एवं छोटे क्षेत्र में निर्णय लेने तथा उनको क्रियान्वित करने वाली सत्ता ही स्थानीय शासन है।"

एल0 गोल्डिंग के कथनानुसार “स्थानीय सरकार को कई प्रकार से परिभाषित किया गया है किन्तु सम्भवतः इसकी सबसे सरल परिभाषा यही है कि यह एक बस्ती के लोगों द्वारा अपने मामलों का स्वयं ही प्रबन्ध है।”

हरमन फाइनर कहते हैं कि “जिस श्रेणी संघवाद तथा समानुपातिक प्रतिनिधित्व आदि की युक्तियां आती हैं, उसी में स्थानीय स्वायत्त शासन की गिनती है। ये सब व्यवस्थाएं समूह के अत्याचारों समतलन मानकीकरण तथा व्यक्तियों एवं व्यक्ति समूहों के प्रति परम्परागत घृणा से बचाव का साधन है।”

डब्ल्यू0 ए0 राब्सन के शब्दों में, “सामान्यतः स्थानीय शासन में एक ऐसे प्रादेशिक प्रभुत्वहीन समुदाय की धारणा निहित होती है जिसके पास अपने मामलों का नियमन करने का विधिक अधिकार तथा आवश्यक संगठन हुआ करता है जो बाह्य नियंत्रण से मुक्त रहकर काम कर सके, साथ ही यह भी जरूरी है कि स्थानीय समुदाय का अपने मामलों के प्रशासन में हिस्सा हो। स्थानीय शासन के ये तत्व किस सीमा तक विद्यमान होते हैं, इस विषय में न्यूनाधिक अन्तर हो सकता है।”

वी0 वी0 राव के अनुसार, “स्थानीय शासन सरकार का वह भाग है जो स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करता है, जो सत्ताधारी राज्य सरकार के अधीन प्रशासन चलाते हैं परन्तु उनका निर्वाचन राज्य सरकार के स्वतंत्र एवं सक्षम निवासियों द्वारा किया जाता है।”

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि स्थानीय लोगों द्वारा मिल-जुल कर अपनी समस्याओं के निदान एवं विकास हेतु बनाई गई ऐसी व्यवस्था जो संविधान और राज्य सरकारों द्वारा बनाए गये नियमों एवं कानूनों के अनुरूप हो। स्थानीय शासन से हमारा अभिप्राय यह है कि स्थानीय क्षेत्रों का प्रशासन वहाँ के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जाए। यदि स्थानीय क्षेत्र का प्रशासन केन्द्र या राज्य सरकारों के अधिकारियों द्वारा चलाया जाए तो वह स्थानीय प्रशासन होगा न कि स्थानीय स्वशासन। स्थानीय स्तर की समस्याओं का स्थानीय स्तर पर समाधान करने के लिए प्रायः सभी देशों में स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं स्थापित की जाती हैं। ये संस्थाएं ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के लिए अलग-अलग होती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी कुछ मूल्य एवं मान्यताएं होती हैं। इन्हीं मूल्य एवं मान्यताओं से राष्ट्र की सामाजिक राजनीतिक संस्थाएं उनकी कार्यप्रणाली तथा राष्ट्र का सर्वांगीण विकास निर्धारित होता है। इस तरह की संस्थाएं लचीली होती हैं। अतः ये समाज के बदलते राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश तथा आवश्यकता के अनुसार अपने आपको ढालने का प्रयास करती हैं।

7.4 स्थानीय शासन की भूमिका एवं महत्व

समकालीन परिदृश्य में जन आकांक्षाओं की उभरती हुई प्रवृत्तियों तथा लोककल्याणकारी राज्यों की मान्यता के फलस्वरूप राज्यों के कार्यों में उल्लेखनीय रूप से विस्तार हुआ है। केवल केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार ही इन कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकती। इसी कारण लोकतांत्रिक देशों में राष्ट्रीय एवं प्रांतीय सरकारें अपने कार्यों को गति देने की दृष्टि से स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को पर्याप्त उत्तरदायित्व देती हैं। स्थानीय शासन की भूमिका एवं महत्व पर प्रकाश डालते हुए हैराल्ड जे लास्की ने कहा है, “हम लोकतंत्रीय शासन से पूरा लाभ उस समय तक नहीं उठा सकते जब तक कि हम यह न मान लें कि सभी समस्याएं केन्द्रीय समस्याएं नहीं हैं और उन समस्याओं को उन्हीं लोगों द्वारा हल किया जाना चाहिए जो उन समस्याओं से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं।”

जब कोई जन समूह किसी स्थान विशेष पर मिल-जुल कर सामुदायिक जीवन का आरम्भ करता है तो पारस्परिक सम्बन्धों के निरूपण से अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन समस्याओं का सम्बन्ध नागरिक जीवन की सुविधाओं की व्यवस्था से होता है जैसे बिजली, पानी, सड़क, संचार, स्वास्थ्य, आवास और स्वच्छता आदि। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की प्रगति के साथ मनुष्य की जीवन यापन की आवश्यकताओं की न्यूनतम अवधारणा भी बदलने लगी है। स्थानीय शासन को जो कार्य करने चाहिए इनमें निरन्तर वृद्धि हो रही है। उपलब्ध सुविधाओं

का परिवर्धन एवं नई सुविधायें जुटाना तथा भविष्य की सम्भावनाओं पर विचार कर, मानवीय जीवन के शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्ष को बेहतर बनाना स्थानीय शासन का उत्तरदायित्व है।

जहाँ एक ओर मनुष्य के जीवन को बेहतर से बेहतर बनाना स्थानीय शासन का उद्देश्य है वहीं प्रजातांत्रिक मूल्यों के प्रति जागरूक कर समाज को शासन व्यवस्थाओं के साथ सामंजस्य बिठाकर सतत विकास के पथ पर अग्रसर करना भी है। भारत जैसे प्रजातांत्रिक देश में स्थानीय स्वशासन संघवाद और सत्ता के विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में तीन स्तर के शासन में बुनियाद का कार्य करता है। वस्तुतः आजकल लोगों के दैनिक जीवन में स्थानीय शासन की भूमिका प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन से भी अधिक हो गयी है। इससे भी अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि स्थानीय शासन के कार्यों में निरन्तर वृद्धि होने से इसका महत्व और अधिक बढ़ता ही जायेगा। जैसे-जैसे लोग राजनीतिक दृष्टि से जागरूक होते जाएंगे, राजनीतिक संस्कृति मजबूत होगी और उत्तरदायित्व और सहअस्तित्व पर आधारित शासन व्यवस्था का यह स्तर, नागरिक सहभागिता को और मजबूत करेगा और भविष्य की नागरिक सेवाओं के निष्पादन में मील का पत्थर भी साबित होगा।

7.5 स्थानीय स्वशासन के लाभ

स्थानीय शासन के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं-

7.5.1 स्थानीय विषयों का कुशलतापूर्ण प्रबन्ध

यदि स्थानीय संस्थाएं न हों तो स्थानीय विषयों का प्रबन्धन भी केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों द्वारा किया जायेगा जिससे उनके पास कार्यों की अधिकता होगी। स्थानीय स्वशासन के कारण नागरिकों के धरातलीय उत्तरदायित्वों का निर्वहन स्थानीय संस्थाएं कुशलतापूर्वक करती है इससे न केवल समस्याओं का त्वरित निदान होता है बल्कि संस्थाओं व नागरिकों के मध्य सीधा व सहभागी सम्बन्ध स्थापित होता है जो कुशल प्रबन्धन का द्योतक है। सम्भव है कि केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि स्थानीय समस्याओं को न समझ सकें और स्थानीय समस्याओं का हल ढूँढ निकालना उनके लिए सम्भव न हो। दूरस्थ क्षेत्रों में कार्य करने में उन्हें अवश्य ही बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन कार्यों को स्थानीय शासन आसानी से कुशलतापूर्वक कर सकता है।

7.5.2 केन्द्रीय शासन का भार कम होना

जनकल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने केन्द्र सरकार के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि कर दी है। ऐसे में अगर स्थानीय विषयों को भी केन्द्रीय सरकार द्वारा सम्पन्न करने से उसके कार्य भार में अत्यधिक वृद्धि से असंतुलन बढ़ेगा और केन्द्र सरकार अपने कार्य भी सही प्रकार से नहीं कर सकेगी। स्थानीय संस्थाएं केन्द्रीय सरकार के कार्य भार को कम करने में मदद करती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि स्थानीय शासन केन्द्रीय शासन का कुछ बोझ अपने ऊपर ले लेता है। केन्द्रीय शासन अपने कुछ कार्य स्थानीय शासन को सौंप देता है। फलतः स्थानीय शासन केन्द्रीय या राज्य सरकारों को बहुत से कार्यों या जिम्मेदारियों से मुक्त कर देता है।

7.5.3 सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति जागरूक करना

प्रजातंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सामान्य नागरिकों द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में कितनी रुचि ली जाती है। यह रुचि संस्थाओं द्वारा एवं स्वयं नागरिकों द्वारा उत्पन्न होनी चाहिए। इससे विश्वास और उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है और जनसाधारण बढ़-चढ़ कर भागीदार बनते हैं। सार्वजनिक जीवन के प्रति जागरूकता बढ़ना स्थानीय शासन की संस्थाओं का दायित्व है। स्थानीय शासन जनता के सबसे निकट होता है इसलिए लोग यह भी मानते हैं कि वे इन संस्थाओं पर अच्छे कामकाज के लिए अधिक प्रभाव डाल सकते हैं। नागरिकों की भावना और क्रियाशीलता समस्त जन समुदाय में जागरूकता का संचार करती है।

7.5.4 राजनीतिक शिक्षण एवं राष्ट्र के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना

स्थानीय शासन एक ओर जहाँ राजनीतिक शिक्षण का माध्यम बनना है, वहीं स्थानीयता से राष्ट्रीयता तक एकता की भावना का संचार करता है। प्रजातांत्रिक स्वरूप में नागरिक स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के भाव को प्राप्त ही नहीं करते, बल्कि उसकी रक्षा हेतु एकता के सूत्र में बंध कर राष्ट्र के प्रति निष्ठावान भी बनते हैं। जनता राजनीतिक तौर पर सजग रहती है और करों के औचित्य, चुनाव के तरीके और शासन के कार्यों को समझ सकती है कि शासन अपने कार्यों अर्थात् कर्तव्यों को पूरा कर रही है या नहीं। नागरिक सार्वजनिक मामलों से परिचित हो जाता है। स्थानीय संस्थाएं नागरिकों को राज्य और देश की राजनीति में भाग लेने योग्य बनाती है।

7.5.5 नौकरशाही पर नियंत्रण एवं मितव्ययिता

स्थानीय शासन का एक बड़ा लाभ यह होता है कि राज कर्मचारियों की शक्ति को बढ़ने से रोका जा सकता है। एक ओर तो नौकरशाही को यह बताया जाता है कि वे लोकसेवक हैं दूसरे जनता द्वारा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कई प्रकार के नियंत्रणों से शक्ति और विवेक के फैलाव पर रोक लगती है, जिससे क्षेत्राधिकार की सीमाओं में मितव्ययिता के साथ नौकरशाही, लोकसेवकों के रूप में कार्य करती है।

7.5.6 शासन में जन-सहभागिता एवं नागरिक गुणों का विकास

स्थानीय स्वशासन के माध्यम से जनता शासकीय कार्यों में सक्रिय एवं सकारात्मक सहयोग प्रदान करती है। ब्राइस ने इसके महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “स्थानीय संस्थाएं लोगों को न केवल दूसरों के लिए कार्य करना सिखाती हैं, वरन् इसके साथ मिलकर कार्य करना भी सिखाती हैं। सहयोग की सकारात्मक सोच नागरिकों को सामान्य समस्याओं के प्रति रुचिवान बनाती है। योग्यता एवं ईमानदारी से कर्तव्य पालन की भावना अच्छे नागरिकों का निर्माण इसी स्वशासन में ही सम्भव होता है।”

इस प्रकार स्थानीय शासन आधुनिक राज्यों के लिए न केवल आवश्यक बन गई है, बल्कि ये प्रजातंत्र की आधारशिला हो गई है। स्थानीय संस्थाएं स्थानीय उत्तरदायित्व एवं राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने में अहम भूमिका निभाती हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय समाज संवैधानिक सरकार के संचालन में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान करता है। प्रजातंत्र को अपने घर से आरम्भ होना चाहिए और इसके लिए स्थानीय सरकार सबसे उपयुक्त स्थान है। इस प्रकार वास्तविक प्रजातंत्र के लिए स्थानीय संस्थाएं अति आवश्यक है।

7.5.7 सुविधाएं पहुँचाने का साधन

स्थानीय शासन जनता को सुविधाएं पहुँचाने का एक साधन है। स्थानीय शासन सफाई, सडकों, स्वास्थ्य, जल, बिजली आदि की समस्याएं हल करके जनता को सुविधाएं पहुँचाता है। जनता के लिए भी यह अधिक सुविधाजनक होता है कि उसकी समस्याएं केन्द्रीय शासन के प्रतिनिधि द्वारा हल न करके स्थानीय शासन द्वारा हल की जाए।

7.5.8 नीति निर्माण में सहायक

स्थानीय सरकार राज्य सरकारों को समस्त ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों की जनता से सम्बन्धित आवश्यक सूचनाएं और आँकड़े उपलब्ध कराती है। जनसंख्या, आय, पुरुष, महिला, शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी, भूमि, उत्पादन, आदि बातों की जानकारी स्थानीय सरकार ही प्रदान करती है। इन सूचनाओं के आधार पर राज्य सरकार अपनी नीतियां तैयार करती हैं, जिससे योजनाओं और कार्यक्रमों का निर्माण होता है, जिससे समस्त राष्ट्र का हित निहित होता है। इन नीतियों तथा योजनाओं को सफल बनाने में स्थानीय शासन का अत्यधिक योगदान होता है।

7.6 भारत में स्थानीय शासन की संवैधानिक स्थिति

यद्यपि भारत के संविधान में स्थानीय शासन को परिभाषित नहीं किया गया है। सातवीं अनुसूची में कहा गया है: “स्थानीय शासन अर्थात् म्युनिसिपल कॉरपोरेशन, इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, जिला परिषदों, खदान अभिकरणों और स्थानीय स्वशासन तथा ग्राम प्रशासन के हेतु अन्य स्थानीय अभिकरणों के गठन एवं शक्तियाँ।”

इस प्रकार 1992 तक भारत में स्थानीय शासन राज्यों के विवेक पर निर्भर था। इस कमी को दूर करते हुए संविधान में दो संशोधन किए गये। इन दो संविधान संशोधनों के माध्यम से भारतीय स्थानीय शासन को संवैधानिक दर्जा प्राप्त हो गया। 73वां संशोधन जो ग्रामीण पंचायती राज संस्थाओं के विकास से सम्बन्धित है और 74वां संशोधन जो नगरीय प्रशासन से, दोनों के द्वारा सत्ता का लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण कर दिया गया। संविधान में ऐसा करने वाला भारत दुनिया का पाँचवां देश बन गया।

7.7 सारांश

स्थानीय स्वशासन एक प्राचीन अवधारणा है विशेष रूप से भारतीय संस्कृति में इससे जुड़ी संस्थाओं को विकास क्रम में प्राचीन से अद्यतन तक परिभाषित किया जा सकता है।

यह शासन का ऐसा स्वरूप है जो नागरिक विकास के लिए स्थानीय मुद्दों के समाधान में जनसहभागिता की जरूरत पर विशेष बल देता है। स्थानीय स्वशासन, भारतीय संघात्मकता एवं एकात्मकता रूपी प्रजातंत्र पर आधारित सत्ताविकेन्द्रीकरण मूल्यों की आधारशिला है। संवैधानिक दर्जा प्राप्त होने से यह नियंत्रण एवं उत्तरदायी पूर्ण शासन व्यवस्था का तीसरा स्तर है जो नीति-व्यवस्था का तीसरा स्तर है जो नीति-निर्माण से क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन तक जनसहभागिता पर आधारित है। सही मायने में लोकतंत्र की बुनियादी इकाई ‘स्थानीय स्वशासन’ ही है।

अभ्यास प्रश्न-

1. स्थानीय स्वशासन को संवैधानिक मान्यता देने के लिए भारतीय संविधान में कौन-कौन से संशोधन किए गये?
2. भारत में स्थानीय स्वशासन को कितने भागों में विभक्त किया गया है?
3. पंचायत शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के किस शब्द से हुई है?
4. भारत में नगर निगम की सर्वप्रथम स्थापना कब और कहाँ हुई?

7.8 शब्दावली

परिवर्धन- विस्तरण या विस्तार, द्योतक- प्रतीक या चिन्ह स्वरूप, उत्तरदायित्व- जिम्मेदारी, जनसाधारण- आमलोग, आधारशीला- नींव

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 73वां और 74वां संवैधानिक संशोधन, 2. दो भागों में- नगरीय और ग्रामीण, 3. पंचायतन, 4. 1687 में मद्रास नगर निगम

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एल0 गोल्डिंग, लोकल गवर्नमेंट, इंगलिश यूनिवर्सिटी, लंदन 1955
2. जेम्सब्राइस, मार्टन डेमोक्रेसीज, मैकमिलन प्रेस न्यूयार्क 1921
3. जे0 एस0मिल, रिप्रेजेन्टिव गवर्नमेंट एवरिमेंस लाइब्रेरी एडीसन प्रेस लंदन 1957
4. एस0आर0 माहेश्वरी, “भारत में स्थानीय शासन”, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2012

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. एस0आर0 माहेश्वरी, “भारत में स्थानीय शासन”, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2012
-

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए भारत में स्थानीय स्वशासन के महत्व को विस्तार से समझाइये।
2. स्थानीय स्वशासन को परिभाषित कीजिए और उसके महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. स्थानीय शासन के लाभों को विस्तार से समझाइये।
4. स्थानीय शासन लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की बुनियाद है, विश्लेषण कीजिए।

इकाई- 8 बलवन्त राय मेहता समिति प्रतिवेदन एवं त्रिस्तरीय व्यवस्था

इकाई की संरचना

- 8.0 प्रस्तावना
- 8.1 उद्देश्य
- 8.2 बलवन्त राय मेहता समिति का उद्देश्य
- 8.3 बलवन्त राय मेहता समिति का प्रतिवेदन
- 8.4 बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुतियां
- 8.5 पंचायत की त्रिस्तरीय व्यवस्था
 - 8.5.1 ग्राम पंचायत
 - 8.5.2 पंचायत समिति
 - 8.5.3 जिला परिषद
- 8.6 बलवन्त राय मेहता समिति के संस्तुतियों का क्रियान्वन
- 8.7 सारांश
- 8.8 शब्दावली
- 8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 8.12 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

भारत गांवों का देश है, जिसकी प्रतिशत जनसंख्या 05 लाख 75 हजार गांवों में निवास करती है। यहाँ पंचायती राज के नाम से प्रसिद्ध ग्रामीण स्थानीय शासन का महत्व स्वतः सिद्ध और सर्वथा असंदिग्ध है। वस्तुतः ग्रामीण शासन सम्बन्धी विचार जनता के सामाजिक और आर्थिक उन्नति की महती चिन्ता का एक अंग मात्र है। हमारा देश अत्यन्त प्राचीन काल से ही जनकल्याण के लक्ष्य के प्रति अटूट रूप से समर्पित है। इस शब्द का प्रयोग करते ही हमारा ध्यान सुदूर धुंधले अतीत की तरफ बरबस हो चला जाता है, इसलिए ग्रामीण विकास प्रारम्भ से ही भारतीय शासन के चिन्ता का मुख्य विषय रहा है। इसी उद्देश्य को लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में नीति निर्देशक तत्वों के तहत गांवों को स्वशासन की इकाई के रूप में विकसित करने का विचार रखा गया। ग्रामीण विकास को दृष्टिगत रखकर ही 02 अक्टूबर 1952 ई० में 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' का आरम्भ केन्द्र सरकार के द्वारा किया गया। यह सरकार द्वारा ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्य में जनता की भागीदारी के बारे में एक नयी सोच थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रम इस ढंग से बनाया गया था कि यह निरन्तर विस्तृत होता चला जाय और अन्ततोगत्वा यह सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र तक विस्तृत हो जाय। इसके बाद 1953 में सारे देश में 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' स्थापित की गयी। इसके लिए सारे देश को विकास खण्ड में बांट दिया गया। प्रत्येक विकास खण्ड का प्रशासनिक अधिकारी विकास अधिकारी को बनाया गया। जनता का सहयोग लेने के लिए तदर्थ सलाहकारी समितियां बनायी गयीं परन्तु इनमें नामित सरकारी अधिकारी ही अधिक होते थे। इसमें सामुदायिक विकास के प्रशासन का उत्तरदायित्व नौकरशाही के कंधों पर था। किन्तु विद्यमान संगठनात्मक ढाँचे में हेर फेर कर दिया गया था। इस कार्यक्रम के अधीन सरकार ने ग्रामीणों के सहयोग से विकास योजनाएं बनायी थीं तथा इस बात का ध्यान रखा गया था कि ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता और खण्ड विकास अधिकारी दोनों का नीति निर्धारण में समन्वय बना रहे।

सामुदायिक विकास के संगठन और प्रशासन ने जनता का विश्वास नहीं किया। अतः अपेक्षित जन सहयोग के अभाव यह कार्यक्रम अपने निहित उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा। इन सभी कदमों ने स्वायत्तशासी इकाईयों के रूप में पंचायतों को पनपने नहीं दिया।

अतः सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन करने तथा ग्रामीण विकास की अवधारणा को पुनर्स्थापित करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने 1956 ई० में एक समिति की नियुक्ति की जिसका नाम 'सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय विकास सेवा का अध्ययन दल' था, इसके अध्यक्ष बलवन्त राय मेहता थे। इसलिए इसको बलवन्त राय मेहता समिति भी कहा जाता है। इस समिति का कार्यक्षेत्र सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता के कारणों की जांच करने के साथ-साथ स्थानीय स्वशासन की स्थापना के मजबूत आधार का उल्लेख करना था। ग्रामीण विकास या स्थानीय शासन के इतिहास में यह समिति तथा इसके सुझाव मील के पत्थर साबित हो रहे हैं।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- यह समझ पाओगे कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में पंचायत व्यवस्था का विकास कैसे प्रारम्भ हुआ।
- पंचायती राज के वर्तमान स्वरूप को स्थापित करने में इस समिति का क्या योगदान था, इस सम्बन्ध में जान पाओगे।
- त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था की नींव कब और कैसे पड़ी, इस सम्बन्ध में जान पाओगे।

8.2 बलवन्त राय मेहता समिति का उद्देश्य

बलवन्त राय मेहता समिति का निर्माण भारत सरकार के अधीन 'कमेटी ऑन प्लान प्रोजेक्ट्स' (आयोजक परियोजना समिति) ने सामुदायिक विकास परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा का अध्ययन करके प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए की थी। इसलिए इसका पूरा नाम 'सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय विकास सेवा का अध्ययन दल' है। विशेष रूप से समिति को निम्नलिखित बिन्दुओं का अध्ययन कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करना था-

1. सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा हेतु कर्मचारियों की आवश्यकता का आकलन और प्रशिक्षण की विद्यमान सुविधाओं का परीक्षण जिससे कार्यक्रम के प्रसार के लिए कर्मचारियों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति की जा सके।
2. सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय प्रसार-सेवा की उपलब्धियों का जिक्र करने के लिए अपनायी गयी पद्धतियां।
3. केन्द्र सरकार के विभिन्न विभागों, मन्त्रालयों, केन्द्र-राज्य सरकारों तथा सामुदायिक विकास प्रशासन के विभिन्न अभिकरणों तथा राज्य सरकार के संगठनों एवं विभागों के बीच तालमेल।
4. सामुदायिक विकास परियोजना के कार्यक्रम की अन्तर्वस्तु तथा इसके अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्षेत्रों के लिए निर्धारित की गयी प्राथमिकताएं।
5. इस बात की जांच करना कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त करने में तथा ऐसी संस्थाओं का निर्माण करने में कहाँ तक सफल हुआ, जिनके द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास तथा सामाजिक दशा के सुधार की प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखा जा सके।
6. अन्य किसी प्रकार के सुझाव जिनको समिति ग्रामीण विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा के क्रियान्वयन में मितव्ययता लाने हेतु आवश्यक समझे।

मेहता समिति ने देश भर के चुने हुए ब्लाकों, स्थानीय जनता, स्थानीय अधिकारियों, जिला स्तरीय अधिकारियों, प्रतिनिध्यात्मक संगठनों के प्रतिनिधियों, विभागों के अध्यक्षों और विकास विभाग के सरकारी सचिवों से बातचीत की। समिति ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि तत्कालीन स्थानीय संस्थाएं कार्य कर सकती हैं या नहीं, यदि नहीं तो फिर कौन सी नयी संस्थाएं किस क्षेत्र किन शक्तियों और साधनों के साथ निर्मित की जाय। तत्कालीन जिला बोर्ड का अध्ययन करते हुए समिति ने उनकी अयोग्यताओं पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला। समिति का मानना था कि जिला बोर्डों ने उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं की, जिनके लिए उनको स्थापित किया गया था। उन्हें लोगों को स्वशासन की शिक्षा देनी चाहिए थी, लेकिन यह उनकी परम्परा नहीं रही और न तो उनके पास इस तरह के साधन थे कि वे ऐसा कर सकें। उन्हें कार्य तो सौंप दिया गया था। लेकिन उन्हें इतना साधन सम्पन्न नहीं बनाया गया था, जिससे वे अपनी समस्याओं का समुचित समाधान कर सकें। अध्यक्ष व सदस्य इस स्थिति में नहीं थे कि वे तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने के लिए समय दे सकें। वे अधिकांश कार्यों को अधिकारियों पर छोड़ने के लिए बाध्य थे, इसलिए अनुभवी अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक थी। राज्यों की भी प्रवृत्ति यह रही कि उन्होंने जिला बोर्डों से कई कार्य वापस ले लिये। इसके अलावा वहाँ दोहरे शासन की स्थिति भी पायी जाती थी।

समिति ने प्राथमिक शिक्षा को जिला बोर्डों के अधिकार में रखने की व्यवस्था से भी असहमति प्रकट किया, क्योंकि जिला बोर्ड स्वयं अपने दायित्वों के निर्वहन के लिए आर्थिक रूप से सरकार पर निर्भर थे। इसलिए वे उनकी समस्याओं में बहुत ही कम रुचि दिखाते थे। पंचायतों को भी जिला बोर्डों से जोड़ने के विचार को श्रेयस्कर नहीं माना गया। समिति का विचार था कि पंचायतों को जिला बोर्ड से सीधे जोड़ना न तो सरल होगा और न ही सुविधानक और व्यवहारिक। कई राज्यों में एक ही जिले में कई सौ ग्राम पंचायतें हैं और उनमें से कई का क्षेत्र बहुत बड़ा है। उनकी इतनी बड़ी संख्या भी असुविधा का एक बड़ा कारण है। ऐसी स्थिति में जिला बोर्ड और पंचायतों के बीच सामंजस्य एक बड़ी समस्या है।

8.3 बलवन्त राय मेहता समिति का प्रतिवेदन

उपर्युक्त समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात समिति ने 24 नवम्बर 1957 ई० को अपना प्रतिवेदन तत्कालीन सरकार को सौंपा। जिसमें उसके द्वारा कई महत्वपूर्ण जानकारियों पर भारी आश्चर्य व्यक्त किया गया था। समिति ने देखा कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम व राष्ट्रीय प्रसार सेवा के कार्यक्रम जनता में अभिक्रम की प्रवृत्ति पैदा करने में सफल नहीं हुए। जिससे जनता इन कार्यक्रमों में सक्रिय सहयोग नहीं की। पंचायतों द्वारा भी सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन नहीं किया गया। पंचायत स्तर के ऊपर के स्थानीय निकायों द्वारा भी सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का उत्साह नहीं दिखाया गया। इन तथ्यों से समिति को गहरा आघात लगा।

समिति का दृष्टिकोण था कि इन व्याधियों को समाप्त करने के लिए सबसे बढ़िया उपाय यह है कि राज्य के नीचे के स्तरों पर शक्ति तथा उत्तरदायित्व का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाय। उसका सुझाव था कि “शक्ति को एक ऐसे निकाय को अन्तरित कर दिया जाय जो निर्मित हो जाने पर अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत विकास कार्य का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर ले ले। सरकार पथ-प्रदर्शन, परिवीक्षण तथा उच्चतर आयोजन का काम अपने हाथों में सुरक्षित रखे और जहाँ आवश्यक हो वहाँ अतिरिक्त वित्तीय सहायता प्रदान करें।” अर्थात् समिति का प्रमुख निष्कर्ष यह था कि आम लोगों को ग्रामीण विकास योजनाओं में भागीदार बनाने के लिए यह आवश्यक है कि योजना और प्रशासनिक सत्ता दोनों का विकेन्द्रीकरण हो। इस रिपोर्ट में पहली बार विकेन्द्रीकरण के साथ लोकतान्त्रिक शब्द जोड़ा गया। इसका आशय था कि जो लोकतान्त्रिक पद्धति हमारे देश में अपनायी गयी है उसमें सभी ग्रामीण सक्रिय रूप से भाग लें। जिससे सामान्य नागरिक यह महसूस करें कि शासन प्रक्रिया में उसका भी योगदान है। समिति के रिपोर्ट में कहा गया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय प्रसार सेवा का विकास इसलिए नहीं

हो पाया कि इसमें जनता के सहभागिता का अभाव था। जनता स्थानीय क्रियाकलापों में तभी सक्रिय रुचि लेगी जबकि उसके लिए प्रतिनिधि सभाएं गठित की जाय।

विकेन्द्रीकरण को स्पष्ट करते हुए समिति ने कहा कि सरकार के कार्यों व अधिकारों को निचले स्तर पर स्थानान्तरित करने के साथ-साथ उनको वित्तीय दृष्टि से भी सबल बनाया जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि विकेन्द्रीकृत प्रशासनिक ढाँचा निर्वाचित निकायों के हाथों में हो। रिपोर्ट में कहा गया कि बिना जिम्मेदारी और अधिकारों के विकास कार्यों में प्रगति नहीं हो सकती। सामुदायिक विकास सही अर्थों में तभी हो सकता है जब समुदाय अपनी समस्याओं को समझे, आवश्यक अधिकारों का प्रयोग कर सके और स्थानीय प्रशासन पर लगातार और समझदारी के साथ निगाह रख सके। इस उद्देश्य से हम शीघ्र ही चुने हुए संविधानिक एवं निर्वाचित निकायों की स्थापना की सिफारिश करते हैं और आवश्यक संसाधन, अधिकार तथा प्राधिकार सौंपे जाने की संस्तुति करते हैं।

8.4 बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुतियां

बलवन्त राय मेहता समिति के द्वारा विकेन्द्रीकरण को प्रभावी बनाने के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित संस्तुतियां की गयी थी -

1. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण हेतु प्रस्तावित पंचायती राज की योजना ग्राम से लेकर जिला स्तर तक त्रि-स्तरीय होनी चाहिए (शीर्ष पर जिला परिषदें, बीच में पंचायत समिति तथा निचले स्तर पर ग्राम पंचायत की स्थापना की जाय)। ये तीनों स्तर एक-दूसरे से जुड़े होने चाहिए। रिपोर्ट में पंचायत समिति को इस क्रंखला की सबसे अहम कड़ी बताया गया। समिति के अनुसार इन संस्थाओं को कानूनी दर्जा मिलना चाहिए, इनके अधिकार व कर्तव्य साथ-साथ परिभाषित होने चाहिए और इन्हें सरकारी नियन्त्रण में नहीं रखा जाना चाहिए।
2. सरकार को क्षेत्रीय विकास सम्बन्धी कुछ कार्यों एवं दायित्वों को इन निकायों को सौंप देना चाहिए और अपने को केवल निर्देशन, परीक्षण और उच्च नियोजन तक ही सीमित रखना चाहिए।
3. विकास खण्ड स्तर पर अपने क्षेत्र में विकास सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करने हेतु एक निर्वाचित स्वशासित संस्था की स्थापना की जाय।
4. समिति ने इस बात पर अधिक बल दिया कि लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विकेन्द्रीकरण किया जाय ताकि निर्णय लेने के केन्द्र जनता के अधिक निकट हो और जनता इन निर्णयों में भाग ले सके साथ ही नौकरशाही अथवा सरकारी कर्मचारी स्थानीय जनता के नियन्त्रण में काम करें। इसके अनुसार जनता द्वारा निर्वाचित पंचायती राज संस्थाओं के पर्याप्त अधिकार दिये गये। उन्हें अपने क्षेत्र के विकास-विषयक कार्यकलापों के लिए उत्तरदायी बनाया गया।
5. इन निकायों को अपना कार्य करने के लिए समुचित वित्तीय साधन मिलना आवश्यक है, इसके लिए एक कानून बनाकर आप के कुछ साधन इन्हें सौंप देने चाहिए। इसके अलावा राज्य सरकार इनको पर्याप्त वित्तीय सहायता प्रदान करे जिसमें पिछड़े हुए क्षेत्र हेतु विशेष ध्यान दिया गया हो।
पंचायत समिति का गठन ग्राम पंचायतों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुने हुए सदस्यों द्वारा हो। इनका क्षेत्राधिकार इतना व्यापक नहीं होना चाहिए कि वह अपने उद्देश्य में विफल हो जाय, साथ ही साथ इतना सीमित भी नहीं होना चाहिए कि वे मितव्ययता व कार्यकुशलता के मार्ग में बाधक बन जाय।
6. पंचायत समिति को कृषि विकास, पशुपालन, स्वास्थ्य और सफाई सम्बन्धी कार्य सौंपे जाएं। विकास सम्बन्धी इन योजनाओं को कार्यान्वित करने हेतु पंचायत समिति को राज्य सरकार के अभिकर्ता के रूप में कार्य करना चाहिए।

7. समस्त केन्द्रीय व राजकोष जो विकास खण्ड क्षेत्र के विकास हेतु दिये गये हो पंचायत समिति द्वारा ही खर्च किये जाने चाहिए। समिति ने आषा व्यक्त की कि सरकार पंचायत समिति के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों में काम बन्द कर देगी और यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे करना भी पड़ा तो वह पंचायत समिति के अधिकरण के द्वारा ही करेगी।
8. यद्यपि सरकार को पंचायत समिति के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए किन्तु साथ ही साथ उसका यह भी विचार था कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में सरकार का नियन्त्रण आवश्यक होगा। उदाहरण स्वरूप सरकार के हाथों में सार्वजनिक हित में पंचायत समिति के कार्यों को स्थगित करने तथा उसको भंग करने का अधिकार होना चाहिए। जिलाधिकारी को यह अधिकार हो कि यदि पंचायत समिति का कोई प्रस्ताव शान्ति भंग करने वाला, संविधान विरुद्ध अथवा राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हो तो वह उसे स्थगित कर दे।
9. पंचायतों के गठन के सम्बन्ध में समिति का सुझाव था कि ग्राम पंचायत स्तर पर चुने गये सदस्यों में दो महिलाएं, एक अनुसूचित जाति तथा एक अनुसूचित जनजाति से होना चाहिए। ग्राम पंचायत का चुनाव ग्राम सभा द्वारा किया जाय। मध्य स्तर पर सदस्यों का चुनाव ग्राम पंचायतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से करें। चुने हुए सदस्यों में दो महिलाएं हो जो बच्चों और महिलाओं के काम में दिलचस्पी लेती हों। इसमें अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति को आरक्षण देने की सिफारिश भी की गई थी। पंचायत समितियों के प्रधानों के अलावा सांसद व राज्य विधान सभा के सदस्य भी जिला परिषद के सदस्य होंगे। जिला परिषद पंचायत समितियों व सरकार के बीच कड़ी का काम करें।
10. पंचायतों के आय का मुख्य स्रोत सम्पत्ति कर, गृहकर, बाजार था सवारी पर कर, चुंगी कर बिजली व पानी कर, पशु मेले पर कर एवं पंचायत समिति से प्राप्त वित्तीय आय होनी चाहिए।
11. ग्राम पंचायतों के बजट का अनुमोदन पंचायत समिति द्वारा होना चाहिए तथा ग्राम पंचायत का स्थगन केवल राज्य सरकार द्वारा जिला परिषद की संस्तुति पर होनी चाहिए।
12. ग्राम पंचायतों के आवश्यक कर्तव्यों में जलपूर्ति, सफाई, रोशनी, सड़कों का रख-रखाव, भूमि प्रबन्ध, भूलेखों का संकलन और प्रबन्ध तथा पिछड़े वर्गों के कल्याण सम्बन्धी कार्य आते हैं।
13. न्याय पंचायतों का क्षेत्र ग्राम सभा से ज्यादा बड़ा होगा। विभिन्न पंचायत समितियों के मध्य समनवय स्थापित करने के लिए एक जिला परिषद होगी। जिसमें इन समितियों के प्रमुख, उस क्षेत्र के लोक सभा और विधान सभा के चुने हुए सदस्य एवं जिला स्तर के अन्य अधिकारी होंगे। जिलाधिकारी उसका अध्यक्ष होगा।
14. समिति के विचार में जिला परिषद के कार्यकारी काम नहीं होंगे, क्योंकि इससे अन्य स्थानीय संस्थाओं ग्राम पंचायत और पंचायत समिति के स्वतन्त्रता का हनन होगा। जिसके फलस्वरूप प्रारम्भिक समिति में पंचायत समितियों की प्रभावकारिता पर आंच आयेगी।
15. जिला परिषद मात्र पंचायत समितियों के बजट को स्वीकृति देगी, मांगों को सरकार की ओर अग्रसर करेगी, सरकार से प्राप्त धन को खण्डों में वितरित करेगी, योजनाओं में सामंजस्य स्थापित करेगा और समितियों के गतिविधियों का मार्ग निर्देशन आदि कार्य करेगा।

8.5 पंचायत की त्रिस्तरीय व्यवस्था

बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुतियों में पंचायत व्यवस्था के त्रिस्तरीय स्वरूप की सिफारिश की गई थी। निचले स्तर पर ग्राम पंचायत, मध्य स्तर पर क्षेत्र पंचायत और सबसे ऊपर जिला परिषद अर्थात् ग्राम स्तर पर ग्राम

पंचायत, विकास खण्ड स्तर पर क्षेत्र पंचायत तथा जिला स्तर पर जिला परिषद। जिनका संक्षिप्त उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

8.5.1 ग्राम पंचायत

त्रिस्तरीय व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर ग्राम पंचायत होगी। जिसका निर्माण निर्वाचन द्वारा किया जाना चाहिए। इसके सदस्यों का चुनाव ग्राम सभा द्वारा किया जाय। चुने हुए सदस्यों में दो महिलाएं, दो अनुसूचित जाति तथा दो अनुसूचित जनजाति में से लिए जाने चाहिए। आईये ग्राम पंचायत को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझते हैं-

1. **ग्राम पंचायत के कार्य-** समिति के द्वारा ग्राम पंचायतों को निम्नलिखित कार्य एवं अधिकार देने की संस्तुति की गई- जल की व्यवस्था करना, गांव के साफ-सफाई का प्रबन्ध करना, गलियों, नालियों व तालाबों के रख-रखाव का प्रबन्ध करना, गांव की गलियों में प्रकाश की व्यवस्था, भूमि प्रबन्ध, गांव की सड़कों, पुलियों, पुलों व नालों की देख-रेख, संकट में सहायता देना, प्राथमिक पाठशालाओं का परिवीक्षण, पशुओं से सम्बन्धित अभिलेखों का रख-रखाव आकाड़ों को एकत्रित करना और संरक्षण देना, पिछड़े हुए वर्गों का कल्याण और भू-राजस्व की वसूली आदि। इन कामों के अतिरिक्त ग्राम पंचायत विभिन्न विकास परियोजनाओं अथवा अन्य कार्यकलापों में पंचायत समिति के अभिकरण के रूप में भी कार्य कर सकती है।
2. **वित्त-व्यवस्था या आय व्यवस्था-**समिति ने ग्राम पंचायत के अन्य के मुख्य स्रोतों को निम्न प्रकार वर्णित किया है- सम्पत्ति कर अथवा गृह कर, हाटों तथा बाजारों पर कर, चुंगी व सीमा कर, साईकिलों, गाड़ियों, बोझा ढोने वाले पशुओं, नावों आदि पर कर, सफाई और जल कर, गांव क्षेत्र में बिकने वाले पशुओं पर पंजीकरण शुल्क, बूचड़खानों पर कर, मवेशी खानों से आय और पंचायत समिति से प्राप्त अनुदान।
कर की वसूली सन्तोषजनक नहीं थी, इसलिए समिति ने सुझाव दिया कि कानून द्वारा यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि जो व्यक्ति पिछले वर्ष के करो को अदा नहीं किया है। उसे आने वाले पंचायत के चुनाव में मतदान का अधिकार नहीं मिलना चाहिए। यदि किसी पंचायत सदस्य के द्वारा छः महीने से अधिक तक कर अदा नहीं किया जाय तो उसकी सदस्यता स्वतः समाप्त हो जानी चाहिए।
3. **नियन्त्रण-** मेहता समिति के अनुसार पंचायत समिति को ग्राम पंचायत के पुनरीक्षण व स्वीकृति का अधिकार दिया जाना चाहिए। जिससे पंचायत समिति ग्राम पंचायत के ऊपर नियन्त्रण रखने का कार्य भी करें।

4.5.2 पंचायत समिति

मध्यम स्तरीय या खण्ड स्तरीय निकाय को मेहता समिति ने पंचायत समिति का नाम दिया। समिति के अनुसार पंचायत समिति एक निर्वाचित व संविधानिक निकाय होनी चाहिए। उसके कार्य विस्तृत हो तथा उसके पास आवश्यक कार्यकारी शक्ति और समुचित साधन हो। इसे सरकार के हस्तक्षेप या व्यापक नियन्त्रण से मुक्त रहकर कार्य का अधिकार हो। सरकार द्वारा उसे आवश्यक पथ-प्रदर्शन भी मिलना चाहिए। पंचायत समिति को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझते हैं-

1. **पंचायत समिति के कार्य-** समिति के द्वारा त्रिस्तरीय व्यवस्था में पंचायत समिति को सबसे महत्वपूर्ण इकाई माना गया क्योंकि समिति का मानना था कि ग्राम पंचायत इतनी छोटी है कि उसे प्रशासन की सफल इकाई नहीं बनाया जा सकता है और जिला परिषद जनता से इतनी दूर होगी कि जनता उसमें सक्रिय रूप से भाग नहीं ले सकेगी। यह ग्रामीण स्थानीय शासन की इकाई के रूप में कार्य करने के साथ-

साथ अपने क्षेत्र के सभी विकास कार्यों की भी एकमात्र सत्ताधारी संस्था होगी। इस हेतु वह कृषि, पशुपालन, ग्रामीण-उद्योग, सहकारिता, लघु सिंचाई, प्राथमिक शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य, स्थानीय संचार साधन, स्थानीय सुविधाएं आदि विकास कार्यों को सम्पन्न करेगी। इसलिए सरकार उसके कार्यक्षेत्र में कोई कार्य नहीं करेगी और यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में करना भी पड़ा तो वह पंचायत समिति के अभिकरण द्वारा ही करेगी। इस प्रकार राज्य पर्यवेक्षण, मार्ग दर्शन, उच्च स्तरीय आयोजन व वित्तीय सहायता देने तक ही अपने को सीमित रखेगा।

2. **वित्तीय व्यवस्था-** बलवन्त राय मेहता समिति ग्रामीण संस्थाओं के वित्तीय समस्याओं से भलीभाँति परिचित थी। इसलिए उसने इस समस्या की ओर समुचित ध्यान दिया और पंचायत समिति के आय के लिए निम्नलिखित साधन पंचायत समितियों को सुपुर्द करने की संस्तुति की- विकास खण्ड में वसूल किये जाने वाले भू-राजस्व का एक निश्चित प्रतिशत भाग, व्यवसायों तथा उद्यमों पर कर, विकास खण्ड की अचल सम्पत्तियों, घाटों, मत्स्य क्षेत्र से प्राप्त कर व लाभ, सड़क व पुलों पर प्राप्त चुंगी कर, मनोरंजन के साधनों से प्राप्त कर, प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी उप-कर, समय-समय पर लगने वाले मेलों व हाटों पर लगने वाले कर, ऐच्छिक सार्वजनिक चन्दे, मोटर-गाड़ी कर का एक भाग, तीर्थ यात्री कर, जल कर तथा भू-राजस्व कर आदि पर उप-कर और सरकार से प्राप्त अनुदान।

समिति की संस्तुति है कि विकास खण्ड क्षेत्र में केन्द्र या राज्य सरकार द्वारा जो भी धनराशि खर्च की जाय वह निर्भरवाद रूप से पंचायत समिति को दे दी जानी चाहिए और उसको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खर्च करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो केवल उन संस्थाओं को अपवाद माना जा सकता है जिनको सहायता देना या तो पंचायत समिति के कार्य कलाप के बाहर है या उनके वित्तीय साधनों से परे है।

3. **नियन्त्रण-** बलवन्त राय मेहता समिति ने संस्तुति की कि पंचायत समिति के कार्यों में सरकार को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए किन्तु कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में समिति ने सरकार का नियन्त्रण आवश्यक माना। ये विशेष परिस्थितियाँ हैं, यदि समिति के किसी प्रस्ताव से शान्ति भंग की आशंका हो, प्रस्तावित कार्य संविधान या देश के किसी प्रचलित कानून के विरुद्ध हो तो जिलाधिकारी उसे स्थगित कर सकता है।

4. **कर्मचारीगण-** मेहता समिति के अनुसार पंचायत समिति में दो प्रकार के कर्मचारी व अधिकारी होंगे। प्रथम, खण्ड स्तर पर और द्वितीय, ग्राम पंचायत स्तर पर। खण्ड स्तर के अधिकारियों में खण्ड विकास अधिकारी, कृषि, सिंचाई, सड़कों, इमारतों, लोक स्वास्थ्य, पशुपालन, सहकारिता, सामाजिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा आदि की देखरेख करने वाले तकनीकी तथा प्रसार अधिकारी सम्मिलित होंगे। खण्ड विकास अधिकारी कार्यकारी अधिकारी होगा। समिति के अनुसार खण्ड विकास अधिकारी में सांविधिक रूप से प्रशासकीय शक्ति निहित होनी चाहिए।

ग्राम स्तरीय कर्मचारियों में ग्राम सेवक, प्राथमिक पाठशाला के अध्यापक आदि आते हैं। इनकी भर्ती जिला परिषद द्वारा की जानी चाहिए तथा इन्हें विभिन्न पंचायत समितियों को सुपुर्द कर दिया जाना चाहिए। ये कर्मचारी प्रशासन और कार्य दोनों के दृष्टि से खण्ड विकास अधिकारी द्वारा नियन्त्रित होंगे।

4.5.3 जिला परिषद

बलवन्त राय मेहता समिति का मानना था कि जिले स्तर पर भी कोई ऐसा संगठन होना चाहिए जो जिले के पंचायत समितियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का कार्य करे। इस हेतु उसने जिला स्तर पर जिला परिषद के स्थापना की संस्तुति की और कहा कि जिला परिषद पंचायत समितियों में तालमेल स्थापित करने के साथ-साथ उसके परीक्षण का कार्य करेगी किन्तु उसके हाथों में कार्यकारी शक्ति नहीं होनी चाहिए।

1. **जिला परिषद के सदस्य-** जिला परिषद में जिले के अन्तर्गत आने वाले सांसद, विधायक, पंचायत समितियों के अध्यक्ष, कृषि, लोक स्वास्थ्य, पशु चिकित्सा, शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, अभियन्त्रण, सार्वजनिक निर्माण तथा विकास विभागों के जिला स्तर के अधिकारी आदि सदस्य होंगे। जिलाधिकारी जिला परिषद का अध्यक्ष होगा तथा एक अन्य अधिकारी उसका सचिव होगा।
2. **जिला परिषद के कार्य-** जिला परिषद का मुख्य कार्य केवल पंचायत समितियों का परिवीक्षण तथा उनमें समन्वय स्थापित करना था। समिति की संस्तुति थी कि “हमारा ऐसा विचार नहीं है कि इस परिषद के कार्यकारी काम होंगे। उससे तो स्थानीय अभिक्रम को ठेस पहुँचेगी तथा फलस्वरूप प्रारम्भिक वर्षों में पंचायत समितियों की प्रभावकारिता पर भी आंच आयेगी।” समिति की संस्तुतियों में जिला परिषद के निम्नलिखित कार्यों की अनुशंसा की गयी थी-

- जिला परिषद सरकार द्वारा जिले के लिए दी गयी धनराशि को पंचायत समितियों को वितरित करेगी।
- जिला परिषद जिले के समस्त पंचायत समितियों के बजट का परिवीक्षण तथा अनुमोदन करेगी।
- जिला परिषद जिले की विकास खण्ड योजनाओं को एकीकृत व समन्वित करेगा।
- जिला परिषद पंचायत समितियों द्वारा अनुदानों हेतु दिये गये आवेदन पत्रों को एकीकृत कर सरकार को अग्रसारित करेगी।
- जिले के पंचायत समितियों के कार्यों का परिवीक्षण भी जिला परिषद के द्वारा किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बलवन्त राय मेहता समिति ने स्थानीय स्वशासन के लिए त्रिस्तरीय व्यवस्था की संस्तुति की। मेहता समिति की संस्तुतियों ने विद्यमान ग्रामीण शासन की व्यवस्था को प्रभावमयी व उचित व्यवस्था में रूपान्तरित कर दिया। इसकी संस्तुतियां वर्तमान पंचायती राज व्यवस्था को आधार प्रदान करने का कार्य की। वर्तमान व्यवस्था के स्थापना में समिति की संस्तुतिया मील का पत्थर साबित हो रही है।

8.6 बलवन्त राय मेहता समिति के संस्तुतियों का क्रियान्वयन

बलवन्त राय मेहता समिति का मत था कि ये संस्तुतियां उस शासन तन्त्र का एक व्यापक चित्र हैं। जिसे हम लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के लिए आवश्यक समझते हैं और जिसके द्वारा प्रभावकारी ग्रामीण विकास सम्भव हो सकता है। लेकिन कुछ राज्य सरकारों ने यह मत व्यक्त किया कि उनके राज्य में जो परिस्थितियां हैं, उनको देखते हुए वे एक ऐसे स्थानीय निकाय का शक्ति अन्तरित करना उचित तथा सुविधाजनक समझते हैं जिसका अधिकार क्षेत्र जिले जितना बड़ा हो। यद्यपि हमारा विश्वास है कि, एक छोटे निकाय को शक्ति अन्तरित करना लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का सबसे प्रभावकारी तरीका होगा। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इस प्रकार का अन्तरण जिले के निकाय को ही किया जा सकता है।

बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुतियों का अध्ययन केन्द्रीय सरकार द्वारा किया गया। तत्पश्चात इसे राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष रखा गया। जिसमें वहस के उपरान्त समिति के प्रायः सभी सिफारिशों को राष्ट्रीय विकास परिषद ने यथावत स्वीकार कर लिया। इसके बाद इस प्रस्ताव को केन्द्र सरकार ने राज्यों के पास भेज दिया। राज्यों को यह विशेषाधिकार दिया गया कि हर राज्य इस सम्बन्ध में अपने-अपने नियम बनाये और अपनी इच्छानुसार पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना करें। स्थानीय शासन की केन्द्रीय परिषद ने इस बात का समर्थन किया कि पंचायती राज का वह स्वरूप स्वीकार किया जाय जो परिस्थितियों के अनुकूल हो, जटिल न हो, क्योंकि हमारा देश अत्यन्त विशाल है। इसलिए इसका रूप भिन्न-भिन्न राज्यों के अनुरूप भिन्न-भिन्न हो सकता है। सन् 1959 में

राष्ट्रीय विकास परिषद ने संस्तुति की कि वाह्य ढाँचा व प्रधान तत्वों में एक रूपता हो सकती है किन्तु आकार, प्रकार में जटिलता नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः देश इतना विशाल है और पंचायती राज (लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण) इतना जटिल विषय है तथा उसके परीक्षण की पूरी-पूरी गुंजाइश है। अधिक महत्व की बात यह है कि जनता को शक्ति का अन्तरण करना है। यदि यह सुनिश्चित हो जाय तो रूप व आकार-प्रकार में विभिन्न राज्यों में विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार भिन्नताएं हो सकती हैं।

प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू के सुझाव के अनुसार इस त्रिस्तरीय प्रशासन की प्रक्रिया का विशुद्ध भारतीय नाम 'पंचायती राज' रखा गया। मद्रास राज्य 1957 के आरम्भ से ही जनवादी विकेन्द्रीकरण के एक अगुवा खण्ड को प्रयोग के तौर पर अपने ढंग से चला रहा था। इस खण्ड के अनुभव मौजूद थे। आन्ध्र प्रदेश के हर जिले में इस तरह का एक खण्ड था। बलवन्त राय मेहता समिति के संस्तुतियों के अनुसार राजस्थान राज्य के अनुभवों से प्रेरित होकर 02 अक्टूबर (महात्मा गाँधी का जन्मदिन) 1959 ई० में सम्पूर्ण प्रदेश को जनवादी विकेन्द्रीकरण के अधीन लाने की पहल पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने नागौर जिले में दीपक जलाकर पंचायती राज का उद्-घाटन किया। जिसके तहत सम्पूर्ण राज्य को 232 सामुदायिक विकास खण्डों में बांट दिया गया और राज्य के विकास की जिम्मेदारी जनता और पंचायत से शुरू कर उनके ऊपर के प्रतिनिधियों को सौंप दी गयी। 1959 ई० में आन्ध्र प्रदेश सभी सक्रिय सामुदायिक विकास खण्डों और सब जिलों की जिला परिषदों में जनवादी विकेन्द्रीकरण की यह योजना लागू कर दी। इसके पश्चात दूसरे राज्यों ने भी इसके ढाँचे, कार्यों और साधनों में कुछ अनिवार्य परिवर्तन के साथ उसे स्वीकार कर लिया।

अभ्यास प्रश्न-

1. बलवन्त राय मेहता समिति के गठन का कारण क्या था?
2. सामुदायिक परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय विकास सेवा दल' के अध्यक्ष कौन थे?
3. बलवन्त राय मेहता समिति का गठन कब किया गया था?
4. क्या पंचायत का त्रिस्तरीय ढाँचा बलवन्त राय मेहता समिति के संस्तुतियों का परिणाम है?
5. बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुति में ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत तथा जिला परिषद में सबसे महत्वपूर्ण किसे माना गया?
6. बलवन्त राय मेहता समिति के सिफारिशों के अनुरूप पंचायती राज व्यवस्था का प्रारम्भ सर्वप्रथम किस राज्य में हुआ?
7. नागौर जिला किस राज्य में स्थित है ?

8.7 सारांश

भारत गांव प्रधान देश है, अतः भारत के सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है कि गांवों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। गांवों का विकास चाहे वह आर्थिक क्षेत्र में हो अथवा राजनीतिक क्षेत्र में नियोजित तरीके से ही सम्भव हो सकेगा। इसी बात को ध्यान में रखकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात गांवों का शासन गांव स्तर पर चलाने तथा लोकतन्त्र को मजबूती प्रदान करने के लिए जन सहभागिता प्राप्त करने के उद्देश्य से पंचायती राज की स्थापना की गई।

ग्रामीण विकास के उद्देश्य से ही प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने 1952 ई० में सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा 1953 ई० में राष्ट्रीय प्रसार सेवा का प्रारम्भ किया। इसका उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक नियोजन के विरुद्ध गांवों में सक्रिय चेतना जागृत करना था, लेकिन यह प्रयास मात्र सरकारी प्रयास बनकर रह गया। ग्रामीण विकास कार्यक्रम की असफलता तथा उसे ग्रामीण जनता का सहयोग न मिलने के कारणों की जांच के लिए सर्वप्रथम

1956 में बलवन्त राय मेहता के नेतृत्व में 'सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विकास सेवा का अध्ययन दल' नामक समिति का गठन किया गया।

समिति ने देश की स्थितियों का अध्ययन किया और पाया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम की असफलता का सबसे प्रमुख कारण जनता के सहयोग का अभाव था। समिति ने अपनी रिपोर्ट नवम्बर 1957 में भारत सरकार को सौंपा, इसमें विकास कार्यों में जनता के सहयोग को बढ़ाने के लिए समिति ने लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण पर बल दिया। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के अलावा समिति के रिपोर्ट में कहा गया था कि विकेन्द्रीकृत प्रशासनिक ढाँचा निर्वाचित निकायों के हाथों में होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समिति ने निम्न तीन स्तरों पर पंचायती राज व्यवस्था की सिफारिश की ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद। इनमें पंचायत समिति को क्रंखला की सबसे अहम कड़ी बताया गया। सरकार के द्वारा समिति के प्रतिवेदन का अध्ययन करने पश्चात इसे राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष रखा गया। परिषद की स्वीकृति मिलने के उपरान्त इसे राज्यों को इस विशेषाधिकार के साथ भेज दिया गया कि वे अपनी स्थितियों व परिस्थितियों के अनुरूप नियम बनाकर पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना करें।

बलवन्त राय मेहता समिति के संस्तुतियों को लागू करने के लिए प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने महात्मा गाँधी के जन्म दिवस 02 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में दीपक जलाकर इसका उद्-घाटन किया। जवाहर लाल नेहरू के सुझाव पर ही इस प्रक्रिया को 'पंचायती राज' नाम दिया गया।

8.8 शब्दावली

संविधान- किसी राज्य की शासन व्यवस्था के लिए विधित बनाये गये आधारभूत नियमों का संग्रह, समिति- किसी निश्चित उद्देश्य से निर्मित लघु संगठन, परियोजना- दीर्घ काल के लिए निर्मित योजना, सामुदायिक- सर्व समुदाय के लिए की गयी व्यवस्था, प्रतिवेदन- अधिकारी के पास भेजी जाने वाली रिपोर्ट, संस्तुति- किसी कार्य के करने के लिए प्रबल सिफारिश, पंचायती- पंचायत द्वारा किया हुआ, विकेन्द्रीकरण- शक्तियों का केन्द्र से बाहर की ओर प्रवाह, प्रशासनिक- राज्य शासन की कार्यकारिणी से सम्बन्धित, स्वशासित- स्वयं द्वारा शासित होने की स्थिति, नियोजित- नियुक्त किया हुआ या योजनाबद्ध तरीके से कुछ करना।

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन करना और राष्ट्रीय प्रसार सेवा का मूल्यांकन करना, 2. बलवन्त राय मेहता, 3. 1956 ई0 में, 4. हाँ, 5. क्षेत्र पंचायत को, 6. राजस्थान, 7. राजस्थान में

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महीपाल, पंचायती राज- अतीत, वर्तमान और भविष्य, सारांश प्रकाशन प्रा0लि0, दिल्ली।
2. डॉ0 श्रीराम माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक, आगरा।
3. एम0पी0 त्यागी और आर0 के0 रस्तोगी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन, मेरठ।
4. एस0के0 डे, पंचायती राज (हिन्दी में), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
5. त्रिवेदी प्रसाद गुप्त एवं चन्द्रिका प्रसाद उपाध्याय, पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास, किरण बुक कम्पनी, इलाहाबाद।
6. देवेन्द्र उपाध्याय, पंचायती राज व्यवस्था, जगदीश भारद्वाज, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली।

8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डॉ0 श्रीराम माहेश्वरी, भारत में स्थानीय शासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक, आगरा।

-
2. एम0पी0 त्यागी और आर0 के0 रस्तोगी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन, मेरठ।
-

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. बलवन्त राय मेहता समिति की स्थापना के उद्देश्यों एवं उसके प्रतिवेदन का उल्लेख कीजिये।
2. भारत में स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं के सम्बन्ध में बलवन्त राय मेहता समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन का संक्षेप में विवेचन कीजिये।

इकाई- 9 ग्राम पंचायत

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 ग्राम पंचायत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

9.2.1 वैदिक काल में ग्राम पंचायत

9.2.2 महाकाव्य काल में ग्राम पंचायत

9.2.3 मौर्यकाल में ग्राम पंचायत

9.2.4 राजपूत काल में ग्राम पंचायत

9.2.5 मुगलकाल में ग्राम पंचायत

9.2.6 ब्रिटिश काल में ग्राम पंचायत

9.2.7 स्वतन्त्र भारत में ग्राम पंचायत

9.3 ग्राम पंचायत का संगठन

9.4 ग्राम पंचायत और कर्मचारी तथा राज्य सरकार

9.5 ग्राम पंचायत की वित्तीय व्यवस्था

9.6 ग्राम पंचायत के अधिकार और कार्य

9.7 ग्रामीण विकास में ग्राम पंचायत की भूमिका

9.8 सारांश

9.9 शब्दावली

9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.13 निबंधात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति जब मानवीय सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ तभी गांवों की स्थापना हो गयी। मानव स्वभाव ने ही व्यक्ति को सामाजिक संगठनों के विकास के लिए प्रेरित किया। भारत में पंचायतों का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। जो जन कल्याण की भावना से ओत-प्रोत थी। विकास तथा मानव कल्याण के साथ-साथ ये ग्रामीण समुदाय के न्याय का काम भी करती थी। ग्राम पंचायत जिन्हें ग्रामीण स्थानीय प्रशासन की सबसे लोकप्रिय इकाई माना जाता था। अपने आप में स्थानीय स्वशासन की समर्थ इकाईयां हुआ करती थी। प्राचीन काल में इसी पंचायत व्यवस्था के कारण प्रत्येक ग्रामीण समाज अपने आप में छोटा सा राज्य था। जो भारत की जनता को एकता के सूत्र में आबद्ध कर रखा था। हर्षदेव मालवीय के अनुसार “भारत में पंचायतों का उद्भव प्राचीन था, क्योंकि हमारी संस्कृति को विकसित तथा समृद्धिशाली बनाने में इसने प्रकार्यात्मक दृष्टि से शक्तिशाली आधार प्रदान किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भारत विश्व का प्रथम देश था, जहाँ पंचायत के सदस्यों को पंच-परमेश्वर कहा जाता था। गांव के किसी झगड़े या विवाद को हल करने के लिए पंचायत होती थी, जिसमें पांच व्यक्तियों के प्रतिनिधिमण्डल की एक समिति गठित होती थी, जो दोनों पक्षों के वाद-विवाद सुनने के बाद अपना फैसला सुनाती थी जिसे सबको मानना पड़ता था।”

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ही महात्मा गांधी के द्वारा ग्राम स्वराज्य की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया। उन्होंने कहा था कि “भारत की स्वाधीनता गांव से प्रारम्भ होनी चाहिए। गांव की जनता को पूरे-पूरे अधिकार प्राप्त होने चाहिए। पंचायतों को जितने ही अधिक अधिकार प्राप्त होंगे, उतनी ही जनता की भलाई होगी और हमारे गांवों में ग्राम स्वराज्य, सर्वोदय तथा राम राज्य की परिकल्पना साकार हो सकेगी।” गांधी जी द्वारा सूत्रित ग्राम स्वराज्य की यह अवधारणा असल में आदर्श ग्राम पंचायत की परिकल्पना प्रस्तुत करती है। गांधी जी पंचायतों को स्थानीय स्वशासन की कमोवेश आत्म-निर्भर इकाई बनाना चाहते थे।

15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का नवयुग प्रारम्भ हुआ। संविधान निर्माताओं ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि प्रजातान्त्रिक राज में लोग अपने कल्याण के लिए स्वयं कार्य करें। संविधान निर्माता इस बात से भलीभाँति परिचित थे कि चूँकि देश की 80 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती है। अतः भारत का विकास तभी होगा जबकि भारत के गांवों का विकास हो। इसलिए ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं के बारे में भारतीय संविधान के भाग चार में राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद- 40 में कहा गया कि “राज्य ग्राम पंचायतों को संगठित करने के लिए कदम उठायेगा तथा उनमें इतनी शक्तियाँ और सत्ता सौंपेगा कि उनको ग्रामीण स्थानीय शासन की स्वायत्त इकाई के रूप में विकसित किया जा सके।”

यह इकाई ग्राम पंचायत से सम्बन्धित है जो पंचायती राज व्यवस्था की सबसे लोकप्रिय और निचले स्तर की इकाई है। इसमें ग्राम पंचायत के ऐतिहासिक विवरण के साथ-साथ उनकी संरचना, कार्य व शक्तियाँ, वित्तीय व्यवस्था तथा उस पर नियन्त्रण का उल्लेख किया गया है।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- ग्राम स्वराज्य या ग्राम पंचायत की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण में ग्राम पंचायत की स्थिति को समझ सकेंगे।
- ग्राम पंचायत के उद्देश्य व सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- वर्तमान ग्राम पंचायतों की स्थिति व व्यवहारिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- ग्रामीण विकास में ग्राम पंचायत के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

9.2 ग्राम पंचायत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

निःसन्देह पंचायत प्रथा की प्राचनिता भारत भूमि की एक अटूट प्राचीन विशेषता रही है। यह सृष्टि के प्रारम्भ से ही किस प्रकार फली-फूली है, उसके सापेक्ष आधार हमें वैदिक साहित्य से भली-भाँति मिल जाते हैं। उस समय उसे सभा या समिति की संज्ञा दी जाती थी। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ० पी० जायसवाल ने लिखा है कि “आरम्भिक काल में राष्ट्रीय जीवन और उनकी गतिविधियों का उल्लेख तत्कालीन लोकप्रिय सभा और समितियों के माध्यम से प्राप्त होता है।”

9.2.1 वैदिक काल में ग्राम पंचायत

ऋग्वैदिक कालीन राजनीतिक व्यवस्था में प्रत्येक ग्राम का एक अधिकारी होता था जिसे ‘ग्रामणी’ कहते थे। ग्रामणी का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था, क्योंकि वह ग्राम का एक मात्र प्रशासनिक अधिकारी होता था। मानव सृष्टि के प्रारम्भ से ही जीवन की यात्रा को सुखमय बनाने के लिए सामाजिक संगठनों की आवश्यकता महसूस हुई।

जिसमें व्यक्ति को समाज तथा समाज को व्यक्ति के लिए कुछ कर्तव्य करना अपेक्षित था। यजुर्वेद में इसका आभास इस प्रकार मिलता है-

“अन्धुतमः प्रविषान्ति ये सुभन्तिमुवासते।

ततो भूव इव ते तमो य उसंमुत्वा छरताः॥”

मानव सृष्टि के प्रारम्भिक काल में मानव जीवन को आनन्दमय बनाने के उद्देश्य से जनशक्ति एकत्र हुई और उत्क्रान्त होकर 'विराड' या वैराज की स्थापना की जिसमें सभी स्त्री-पुरुष प्रत्यक्ष रूप से भाग लेकर नियम बनाते थे। इसे प्रारम्भिक राज्य विहीन शासन कहा जा सकता है। इस वैराज शासन का दर्शन अथर्ववेद में इस प्रकार होता है-

“विराड्वा इद्भग आसीत तस्या जतायाः सर्वभविमेदिय भविष्यतीति”

वैराज्य अथवा राजविहीन शासन में कोई अध्यक्ष नहीं होता था। फलतः सभी व्यक्तियों को स्वतः सभी नियमों का निर्माण करना पड़ता था। जो छोटे गांव या समाज में ही सम्भव था। अतः इसके कार्यान्वयन में कठिनाई महसूस हुई। इन कठिनाईयों को दूर करने के लिए एकत्रित जनशक्ति पुनः उत्क्रान्त हुई और जनसभा में परिणत हुई-

“रसाउद क्रमात या सामायान्व क्रामत”

इस प्रकार ग्राम सभा के अध्यक्षों का निर्वाचन हुआ जो ग्राम का शासन करते थे। इस व्यवस्था में गांव के सभी लोगों के स्थान पर उनके द्वारा निर्वाचित गांव के थोड़े सदस्यों की सभा की ओर गांव के लोग नेतृत्व भाव से देखते थे। साथ ही साथ गांव के सदस्य भी दायित्व के साथ अपने कर्तव्यों का सम्पादन करते थे। ग्राम सभा का कार्यक्षेत्र गांव तक ही सीमित और मर्यादित था, जिसमें जनशक्ति भी कम थी। जनशक्ति को बढ़ाकर बड़े-बड़े कार्यों का सम्पादन करने के विचार से अनेक गांवों को मिलाकर समाज का विस्तार कर समिति बनाने की भावना लोगों में उठी। फलतः जनशक्ति और अधिक उत्क्रान्त होकर समिति में परिणत हुई-

“सोदं क्रामत स समितो न्याक्रामाता”

समिति का अर्थ राष्ट्र समिति से है। जो अनेक गांवों का निरीक्षण करने के लिए अनेक गांवों को मिलाकर बड़ी समिति के रूप में संगठित हुई। अब तक संघीय शक्ति अनेक गांवों में बिखरी हुई थी जो इस समिति के शासन के अन्तर्गत संगठित हो गयी। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा समिति का संगठन हुआ। समिति के संगठन तक राजा के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की गयी थी। शासन व्यवस्था पूरी तरह जनतान्त्रिक था।

राष्ट्र समिति में ग्राम सभा के प्रतिनिधि बैठकर नियम बनाते थे, जिसके कार्यान्वयन के लिए कार्यकारिणी समिति की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः जनशक्ति और अधिक उत्क्रान्त हुई और आमंत्रण अर्थात् मन्त्रिमण्डल में परिणत हुई।

इस प्रकार भारत वर्ष में पंचायत व्यवस्था की प्राचीनता, सृष्टि के प्रारम्भ से ही देखने को मिलती है। इस व्यवस्था के प्रचलन के पर्याप्त साक्ष्य वैदिक साहित्य, उपनिषदों एवं जातक कथाओं में विद्यमान है।

9.2.2 महाकाव्य काल में ग्राम पंचायत

रामायण व महाभारत काल में भी इस प्रकार की सभाओं और समितियों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि शासन के केन्द्रीय स्तर पर तत्कालीन समय में बड़े-बड़े साम्राज्यों का भी वर्णन मिलता है फिर भी प्रशासन के सुविधा के दृष्टि से बड़े-बड़े साम्राज्यों को विभिन्न इकाईयों में विभक्त किया गया था। जिसकी सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' थी, जिसके अधिकारी को 'ग्रामिक' कहते थे। मनु स्मृति भी गांव के अधिकारी को ग्रामिक ही कहा गया है। उसका प्रमुख कार्य कर वसूली करना था।

डॉ० अल्टेकर के अनुसार बौद्ध काल में गणराज्यों में ग्राम की अपनी सीमाएं होती थी। जिनका अधिवेशन गांव के संधागार में होता था। इसमें स्थानीय विषयों पर विचार किया जाता था। इस सभा में गांव के प्रत्येक परिवार को प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

डॉ० डी०डी० शुक्ल ने भी लिखा है कि “बौद्ध कालीन गणराज्यों में भी सभा का महत्व कम नहीं था। सभा के कार्य बहुमत से होते थे। इस काल में गणराज्यों के ग्राम की व्यवस्था ग्राम सभाओं द्वारा होती थी।”

9.2.3 मौर्यकाल में ग्राम पंचायत

मौर्यकाल में कौटिल्य (चाणक्य) द्वारा लिखित ‘अर्थशास्त्र’ भारत में राजनीति पर लिखा गया प्रथम प्रमाणिक ग्रन्थ कहा जाता है। इसके पूर्व की राजनीतिक व्यवस्था का हमारा अधिकांश ज्ञान जातकों एवं धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर की गयी कल्पना पर निर्भर था। कौटिल्य के अनुसार उस समय की सम्पूर्ण व्यवस्था कृषि की आवश्यकता से प्रभावित थी। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय राज्य ग्रामीण जीवन में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। शासन के सुविधा के लिए प्रान्तों के उपविभाग किये गये थे। जो इस प्रकार थे- जनपद, द्रोणमुख, स्वार्वतिक, संग्राम तथा ग्राम/जनपद का अधिकारी मुखिया स्थानिक कहलाता था। ग्राम का अधिकारी ग्रामिक कहलाता था।

सम्राट चन्द्र गुप्त की शासन व्यवस्था का पर्याप्त अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय स्थानीय शासन की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। चन्द्रगुप्त ने स्वायत्त शासन प्रणाली विकसित कर बड़ी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया था। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि सम्राट गुप्त ने यद्यपि भारत में बहुत बड़ा साम्राज्य पाया तथा एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना की परन्तु उसने भी ग्राम समाज के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया। उस समय का प्रत्येक गाँव अपने विषय में स्वतन्त्र तथा स्वायत्तशासी था। प्रत्येक गाँव में अपनी सभा होती थी जो गाँव से सम्बन्धित सभी विषयों पर वाद-विवाद करती थी। समाज में सुव्यवस्था के लिए नियम बनाये गये और उनको तोड़ने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी। सभा गाँव के अनेक रूपी कार्यों का केन्द्र थी। गुप्त काल में भी पंचायत व्यवस्था की गयी। सभा गाँव के अनेक रूपी कार्यों का केन्द्र थी। गुप्त काल में भी पंचायत व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया।

9.2.4 राजपूत काल में ग्राम पंचायत

राजपूत काल में ग्राम पंचायतों का महत्व कम हो गया, क्योंकि उन पर भी सामान्तों की अधिकार-सत्ता छा गयी। सामान्तगण न केवल स्थानीय शासन को कम महत्व देते थे बल्कि वे केन्द्रीय शासन से नियन्त्रण मुक्त होने का भी प्रयत्न करते रहते थे। ग्राम शासन दक्षिण भारत में जितना संगठित था उतना उत्तर भारत में नहीं था। तत्कालीन शासन (राज्य के विशाल होने पर) प्रान्तों, जिलों, अधिष्ठानों और गांवों में विभक्त होता था। इस दृष्टि से राजपूत कालीन पद्धति गुप्त कालीन शासन पद्धति पर ही आधारित थी। राजपूतों के शासन काल के पश्चात सल्तनत शासन काल में भी शासन की सबसे छोटी इकाई गांव थे। गांवों का प्रबन्धभार लम्बरदारों, पटवारियों, पंचायतों आदि पर था। लम्बरदार शान्ति बनाये रखता था और भूमिकार एकत्रित करने में सहायता देता था। इस प्रकार गांवों को अपने मामलों में काफी स्वतन्त्रता मिली हुई थी।

9.2.5 मुगल काल में ग्राम पंचायत

भारतीय शासन के मुगलकालीन इतिहास के पन्नों को पलटने से यह प्रतीत होता है कि इस काल में भी देश में स्थानीय शासन विद्यमान था। मुगल काल में गाँव शासन की सबसे छोटी इकाई थे। परगने गाँवों में विभाजित थे। गाँव के प्रबन्ध पंचायतें करती थीं। यद्यपि मुस्लिम शासकों ने इन पंचायतों के अधिकार क्षेत्र में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की फिर भी उन्हें कम या नष्ट करने का भी प्रयास नहीं किया। इसके विपरीत यह ऐतिहासिक सच्चाई है कि शासन ने जहाँ तक बन पड़ा अपने हित में इन पंचायतों का खूब फायदा उठाया। ग्रामीण शासन व्यवस्था में

जमीनदार या जागीदार व्यवस्था का विकास हुआ। इस प्रथा के अधीन समृद्ध किसान या तो स्वयं कर लेकर या अपने एजेंटों के द्वारा कर वसूल कर अन्य ग्रामीणों पर नियन्त्रण रखते थे। व्यवहारतः ग्राम पंचायतों के क्रियाकलाप इन्हीं जमीनदारों या जागीरदारों द्वारा सम्पन्न किया जाने लगा। इस प्रकार ग्रामीण शासन पूर्ण-रूपेण उनके सामन्ती चपेट में आ गया परन्तु उनका अस्तित्व समाप्त नहीं हुआ, लेकिन पंचायतें विश्रृंखलित हो गयीं।

9.2.6 ब्रिटिश काल में ग्राम पंचायत

यद्यपि भारत में ग्रामीण स्थानीय शासन की व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन काल से है, फिर भी संगठन और कार्यप्रणाली के दृष्टि से उसका व्यवस्थित प्रादुर्भाव ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही हुआ। गाँवों के विकास की ओर सर्वप्रथम ध्यान 1863 ई० में 'शाही स्वच्छता आयोग' की रिपोर्ट के बाद दिया गया। इस रिपोर्ट में भारतीय गाँवों के साफ-सफाई सम्बन्धी दुर्दशा के बारे में बताया गया था और कहा गया कि गाँवों के स्वच्छता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इसके बाद विभिन्न राज्यों में ग्रामीण स्वच्छता अधिनियम पारित किये गये। 14 दिसम्बर 1870 को लार्ड मेयो ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण और स्वायत्त सत्ताशासी संस्थाओं के गठन के लिए कौंसिल में प्रस्ताव पारित करवाया। यह ग्रामीण क्षेत्रों में स्वायत्त शासन स्थापित करने का पहला प्रयास था। इसका उद्देश्य प्रशासनी क्षमता को बढ़ाना तथा वित्तीय साधन जुटाना था। 1907 ई० में चार्ल्स हाबहाऊस की अध्यक्षता में 'रायल कमीशन' की नियुक्ति की गयी। जिसकी रिपोर्ट 1909 ई० में प्रकाशित हुई। आयोग का यह निष्कर्ष था कि स्वायत्त शासन की संस्थाएँ सफल नहीं हो रही हैं, जिसका कारण निर्वाचन का अभाव, वित्तीय उत्तरदायित्व की कमी तथा संस्थाओं के कर्मचारियों पर नियन्त्रण का शैथिल्य था।

कमीशन का विचार था कि स्वायत्त शासन के संस्थाओं की शुरुआत ग्राम स्तर से होनी चाहिए न कि जिला स्तर से जैसा कि प्रचलन में था। उसका यह भी विचार था कि पंचायतें ग्रामीण विकास व दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापों के अलावा न्याय सम्बन्धी कार्य भी करें। जिससे लोगों को कोर्ट कचहरी से दूर रखा जा सके। आयोग ने सिफारिश की कि ग्रामीण जनता अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनें। फौजदारी व दीवानी मुकदमों सुनने के अलावा गाँव की सफाई, तालाब, कुएं एवं सड़कों का निर्माण, प्राथमिक शिक्षा आदि पंचायतों के काम में शामिल किये गये।

इस बात को समझते हुए कि वित्तीय साधनों के अभाव में कार्य सौंपने का कोई अर्थ नहीं है। आयोग ने पंचायतों की वित्तीय स्थिति सुधारने और उनके लिए आय के साधन जुटाने के लिए निम्न सुझाव दिये-

1. भूमि कर (जिसे जिला बोर्डों द्वारा लगाया जाता है) का एक हिस्सा ग्राम पंचायतों को दिया जाय।
2. जिला बोर्ड तथा जिलाधीश द्वारा स्थानीय सुधार के लिए विशेष अनुदान दिया जाय।
3. तालाबों व बाजार आदि से प्राप्त आय पंचायतों को मिले।
4. उन मुकदमों की मामूली फीस भी रखी जाय, जिनकी सुनवाई ग्राम पंचायत करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कमीशन की सिफारिशें पंचायतों को वास्तव में जन प्रतिनिधित्व की संस्थाएँ बनाने और उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत करने की दिशा में सहायनीय कदम था। लेकिन आयोग की सिफारिशें कागज तक ही सीमित रह गयी और उसका कोई नतीजा नहीं निकला, क्योंकि सरकार ने कमीशन के प्रतिवेदन पर कोई निर्णय नहीं किया।

स्वतन्त्रता पूर्व महात्मा गांधी ने गाँवों का शासन गाँव स्तर पर चलाये जाने तथा पंचायती राज कायम करने की बात स्पष्ट की, जो कि उनके इस कथन से स्पष्ट है कि “हमारे गाँवों की सेवा करने से ही सच्चे स्वराष्ट्र की स्थापना होगी, अन्य सभी प्रयत्न निरर्थक होंगे। अगर गाँव नष्ट हो जायेगा तो हिन्दुस्तान नष्ट हो जायेगा, वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायेगा, दुनिया में उसका अपना मिशन खत्म हो जायेगा।” गांधी जी कमोवेश ग्राम पंचायतों को स्थानीय स्वशासन की आदर्श और आत्मनिर्भर इकाई बनाना चाहते थे, पर यह सोच बाकी कांग्रेस नेतृत्व की नहीं रही। अतः राष्ट्रीय नेतृत्व ब्रिटिश प्रशासकों पर पंचायती व्यवस्था के क्रियान्वयन के लिए प्रभावशाली ढंग से कभी जोर

नहीं डाल सका। इस प्रकार ब्रिटिश काल में पंचायतों को सशक्त बनाने के लिए न तो राजनैतिक इच्छा शक्ति थी और न ही प्रशासनिक सहयोग। इस पूरे दौर में यदि कहीं पंचायतें गठित भी हुईं तो उसमें नौकरशाही का बोलबाला रहा। ब्रिटिश काल में गाँवों की राजनीतिक इच्छा को नष्ट करने का प्रयास शुरू था। इस काल में जो न्याय व्यवस्था थी उसमें गाँव के झगड़े दूर न्यायालय में ले जाये जाने लगे। इससे गाँव के निर्भरता में कमी आयी। गाँव के मुखिया, लेखपाल व अन्य अधिकारियों को जो गाँव के प्रतिनिधि माने जाते थे, वेतन देने की प्रथा शुरू की गयी। जिसके कारण ग्रामीण समुदाय ने अपने नेताओं को खो दिया। इसके अतिरिक्त शिक्षा-प्रणाली एवं औद्योगीकरण ने भी ग्रामीण समुदाय को शहरों की ओर आकर्षित करना प्रारम्भ किया। जिसके परिणामस्वरूप गाँव के स्वायत्ता और आत्मनिर्भरता में कमी आयी।

9.2.7 स्वतन्त्र भारत में ग्राम पंचायत

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का विधिवत् शुभारम्भ 1947 में संयुक्त प्रान्त पंचायत राज अधिनियम के रूप में हुआ। कांग्रेस ने पंचायती राज की स्थापना से शीघ्र ही अपने नीतियों एवं व्यवहारों को प्रभावित करना शुरू किया। 1948 में केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री की पहल पर राज्यों के स्वायत्त मन्त्रियों का एक सम्मेलन राजधानी में आयोजित किया गया। इसको सम्बोधित करते हुए तत्कालीन स्वास्थ्य मन्त्री ने कहा कि मुझे विश्वास है कि भारत में इस प्रकार का सम्मेलन इससे पूर्व कभी नहीं बुलाया जा सका, क्योंकि स्थानीय स्वायत्त शासन पूर्ण तथा प्रान्तीय सरकारों के अधिकार क्षेत्र में आता था। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि “स्थानीय स्वायत्त शासन सच्ची प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का आधार है और होना भी चाहिए, क्योंकि हमलोगों की आदत हो गयी है कि हम प्रजातन्त्र को शासन के ऊँचे स्तर पर ही सोचते हैं, नीचे के स्तरों पर नहीं। जब तक नीचे की इन आधारशिलाओं पर प्रजातन्त्र का निर्माण और विकास नहीं किया जाता तब तक वह उच्च स्तरों पर कदापि सफल नहीं हो सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात संविधान निर्माता इस बात से भलीभाँति परिचित थे कि चूँकि देश की 80 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। इसलिए ग्रामीण स्थानीय शासन को संविधान के भाग चार में राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद- 40 में स्थान दिया गया। इसके लिए संविधान के अनुच्छेद-246 (3) में देश के प्रत्येक राज्य की विधानसभाओं को यह अधिकार दिया गया कि वह स्थानीय शासन से सम्बद्ध व्यवस्थाओं के लिए कानून पारित करें, जिससे वे स्वायत्त शासन के इकाई के रूप में कार्य कर सकें।

भारतीय संविधान में पंचायती राज के महत्व को स्वीकार करते हुए हर्ष देव मालवीय ने कहा है कि भारतीय संविधान में पंचायत के विचार को संलग्न करना अत्यन्त महत्व की घटना थी, जिसका राज्य की बनावट पर बड़ा सुदुरगामी प्रभाव होने वाला था। पंचायती राज की अवधारणा को संविधान में शामिल करने का पूरे देश भर में स्वागत किया गया। इसके द्वारा उस सिद्धान्त को मान्यता दे दी गयी जो पहले केवल शब्दों तक सीमित था। राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों में स्थान मिलने के बाद से ही भारत में ग्राम पंचायतों का संगठन किया जाने लगा और शीघ्र ही ये पंचायतें लोकप्रिय होने लगीं। कांग्रेस पार्टी ने भी शीघ्र ही अपनी नीतियों एवं व्यवहारों को प्रभावित किया। पंचायती व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से ही तत्कालीन सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी की कार्य समिति ने मई 1954 में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया, जिसकी संरचना इस प्रकार थी- यह कार्यकारिणी समिति विभिन्न राज्यों में पंचायती राज के स्थापना के महत्व को जानती है। यह न केवल प्राचीन भारत के परम्पराओं को बनाये रखने का एक तरीका है वरन् यह आज की परिस्थितियों में भी उपयुक्त है। आधुनिक राज्य धीरे-धीरे केन्द्रीकरण की तरफ बढ़ते जा रहे हैं। इस प्रवृत्ति को स्थानीय स्वायत्त सरकार की स्थापना करके संतुलित करना चाहिए, ताकि जनता स्वयं अपने शासन में भाग ले सके तथा सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं जैसे- आर्थिक, न्यायिक में भी

सक्रियता से योगदान कर सके। यह सबसे अच्छी प्रकार से तभी किया जा सकता है जबकि भारत के गांवों में पंचायतों का विकास किया जा सके। इन पंचायतों को न्यायिक कार्यों की भाँति प्रशासनिक कार्य भी सौंपे जायेंगे। बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुतियों में त्रिस्तरीय प्रणाली को स्वीकार किया गया। जिसमें सबसे नीचे के स्तर पर ग्राम पंचायत के स्थापना की बात की गयी। बलवन्त राय मेहता समिति के संस्तुतियों के अनुरूप ही अधिकांश राज्यों ने ग्रामीण स्तर पर ग्राम पंचायतों का गठन किया। किन्तु 1977 में गठित अशोक मेहता समिति ने तो अपनी सिफारिश में ग्राम पंचायत के अस्तित्व को ही समाप्त करने की संस्तुति की। इससे पंचायत व्यवस्था के मूल इकाई के ही समाप्त होने का खतरा महसूस किया गया, इसलिए समिति के एक सदस्य सिद्धराज चड्ढा ने इस ओर संकेत करते हुए कहा कि, मुझे जिला परिषद व मंडल पंचायत से आपत्ति नहीं है, किन्तु समिति ने ग्राम सभा की कोई चर्चा नहीं की है, जबकि पंचायती राज संस्थाओं का धरातल तो ग्राम सभा को ही बनाया जाना चाहिए था।

1988 ई0 में कार्मिक लोक सेवा संघ एवं पेंशन मन्त्रालय के तत्वाधान में पी0के0 थुंगन की अध्यक्षता में गठित उप-संसदीय समिति ने भी पंचायतों के त्रिस्तरीय स्वरूप को बनाये रखने की सिफारिश की, जिसमें सबसे निचले स्तर पर ग्राम पंचायत की स्थापना की बात की गयी। इसके साथ ही साथ समिति ने यह भी कहा कि ग्राम पंचायत के न्यायिक कार्यों को पुनर्जीवित किया जाना चाहिए, जिससे साधारण विवाद ग्राम स्तर पर ही सुलझाये जा सकें।

73वें संविधान संसोधन अधिनियम 1992 द्वारा ग्राम पंचायतों को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इस संसोधन के पूर्व पंचायत व्यवस्था का प्रावधान राज्य के नीति निदेश कतत्वों के तहत किया गया था। जिसे लागू करना सरकारों के लिए बाध्यकारी नहीं था। जिसके कारण कभी-कभी इनके चुनावों को 10 से 15 साल टालकर इनको निष्क्रिय बना दिया जाता था। लेकिन इस संसोधन के उपरान्त पंचायतों का गठन सरकारों के लिए संवैधानिक बाध्यता हो गया है। इस लिए अब इनके चुनावों को छः महीने से अधिक नहीं टाला जा सकता है। इसमें पंचायत व्यवस्था का सबसे निचला स्तर ग्राम पंचायत घोषित किया गया। यद्यपि के चुनाव की विधि निश्चित करने का अधिकार राज्यों के विधानमण्डलों को है। इसके द्वारा ग्राम पंचायतों के एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित कर दिया गया है। इस संसोधन के साथ 11वीं अनुसूची जोड़ी गयी है। इसमें कुल 29 विषयों का उल्लेख किया गया है। जिनका क्रियान्वयन गांव स्तर पर ग्राम पंचायतों द्वारा किया जाना है।

भारत सरकार ने संविधान के भाग-9 में उल्लिखित 73वें संविधान संसोधन की पांचवी अनुसूची में वर्णित अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों पर लागू करने के लिए कानून की मुख्य विशेषताओं पर सिफारिश करने हेतु दसवीं लोक सभा के सदस्य दिलीप सिंह भूरिया के अध्यक्षता में कुछ चुने हुए संसद सदस्यों और विशेषज्ञों की समिति जून 1994 में गठित की गयी। जिसने अपनी रिपोर्ट 1995 ई0 में सरकार को सौंपा। जिसमें कहा गया कि पांचवी अनुसूची के अन्तर्गत वर्णित आदिवासी क्षेत्रों में ग्राम पंचायत और पंचायत संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार व स्वतंत्रता दी जाय। यदि किसी ग्राम पंचायत में एक से अधिक गाँव हों तो प्रत्येक गाँव की अपनी ग्राम सभा हो। पुलिस, आबकारी, वानिकी, राजस्व सम्बन्धी विभागों के निचले स्तर के कर्मचारियों की भूमिका आदिवासी क्षेत्रों में कम होनी चाहिए और उन्हें सम्बन्धित पंचायत के अधीन कार्य करना चाहिए। ग्राम सभा को ऐसी शक्तियां दी जानी चाहिए ताकि वे सामुदायिक भूमि, वन (आरक्षित वनों को छोड़कर) जल, हवा व अन्य प्राकृतिक संसाधनों को विनियमित कर सके और उनका इस्तेमाल कर सकें। इन अधिकारों और कार्यों को प्रदान करने से पंचायतें सही मायने में 'स्वशासन' की इकाई के रूप में कार्य कर सकेंगी। स्वशासन के इस नूतन प्रयोग से ग्राम स्वराज का प्रसार होगा। इससे लोकतन्त्र को एक नयी दिशा मिलेगी। जिससे आम जन की सहभागिता का मार्ग प्रशस्त होगा। समिति के रिपोर्ट के आधार पर संसद ने दिसम्बर 1996 ई0 में एक विधेयक पारित किया। इस नये अधिनियम द्वारा पांचवी अनुसूची के आदिवासी क्षेत्रों की पंचायत प्रणाली में ग्राम सभा को ज्यादा शक्तियां प्रदान की गयी है।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि भारत में ग्राम पंचायतों की एक लम्बी परम्परा रही है। समय-समय पर इनके अधिकारों एवं दायित्वों का मूल्यांकन विभिन्न समितियों एवं संस्थाओं द्वारा किया गया। तदुसार इनके स्वरूप में परिवर्तन भी समय-समय पर किया गया। वर्तमान ग्राम पंचायतें उस लम्बी परम्परा के सीख का प्रतिफल कहीं जा सकती हैं, जो वर्तमान में ग्राम शासन की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य कर रही हैं।

9.3 ग्राम पंचायत की संरचना या संगठन

उत्तराखण्ड त्रिस्तरीय पंचायत राज संसोधन अधिनियम संख्या- 8, सन् 2002 के द्वारा उत्तर प्रदेश ग्राम पंचायत विधि में संसोधन करते हुए व्यवस्था की गयी है कि 'उत्तर प्रदेश पंचायत राज अधिनियम 1947' और 'क्षेत्र पंचायत एवं जिला पंचायत अधिनियम 1961' तथा उसके उपरान्त किये गये संसोधनों में जहाँ-जहाँ उत्तर प्रदेश आया है, वहाँ उत्तराखण्ड पढ़ा जायेगा। इसमें ग्राम पंचायत की संरचना हेतु व्यवस्था की गयी है कि पर्वतीय क्षेत्र में न्यूनतम 03 सौ या अधिकतम 01 हजार तथा मैदानी क्षेत्र में न्यूनतम 01 हजार तथा अधिकतम 05 हजार मतदाताओं वाले किसी ग्राम क्षेत्र को ग्राम पंचायत घोषित किया जायेगा। ग्राम पंचायत के निर्वाचन की जिम्मेदारी राज्य निर्वाचन आयोग की होगी। 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति ग्राम पंचायत का मतदाता होगा। इसके लिए सम्पूर्ण ग्राम पंचायत के मतदाताओं की मतदाता सूची राज्य निर्वाचन आयोग के देखरेख में तैयार की जायेगी। ग्राम पंचायत के प्रधान तथा सदस्यों का चुनाव ग्राम पंचायत के इन्हीं मतदाताओं द्वारा किया जायेगा। ग्राम पंचायत प्रधान पद तथा सदस्य पद के प्रत्याशियों में सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाले व्यक्ति को ग्राम पंचायत का प्रधान या सदस्य निर्वाचित घोषित किया जाता है। प्रधान ही ग्राम पंचायत का अध्यक्ष होता है। उप-प्रधान को निर्वाचित करने का कार्य ग्राम पंचायत के सदस्य बहुमत के आधार पर करते हैं, जो ग्राम पंचायत का उपाध्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त ग्राम पंचायत के कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने तथा उसकी देख-रेख के लिए विभिन्न समितियों का भी गठन किया जाता है।

ग्राम पंचायत प्रधान, उप-प्रधान तथा सदस्यों के पदों को अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े-वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षित किया जाता है, किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि इनके लिए पदों का आरक्षण क्रमशः 21, 02 तथा 27 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। कुल पदों का एक तिहाई महिलाओं के लिए आरक्षित होता है। यह आरक्षण अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़े वर्ग के आरक्षित पदों में भी उस वर्ग की महिलाओं को प्राप्त होता है। आरक्षित पदों को प्रत्येक निर्वाचन के पूर्व चक्रानुक्रम में परिवर्तित कर दिया जाता है। अनुसूचित जाति, जनजाति तथा पिछड़े वर्गों के लोगों को आरक्षण का लाभ तभी तक मिलेगा जब तक कि उनको संविधान द्वारा आरक्षण प्रदान किया जायेगा।

ग्राम पंचायत का कार्यकाल उसके प्रथम बैठक के दिनांक से पांच वर्ष होता है। ग्राम पंचायत का चुनाव उसका कार्यकाल समाप्त होने के छः माह के भीतर अनिवार्य रूप से करा लिया जायेगा। यदि किसी ग्राम पंचायत को किसी कारणवश उसके कार्यकाल से पूर्व विघटित कर दिया जाता है तो अगली पंचायत का चुनाव उसके शेष कार्यकाल के लिए ही किया जायेगा। यदि कार्यकाल के अवसान के पूर्व किन्हीं कारणों से चुनाव नहीं कराया जा सका तो राज्य सरकार पंचायतों के कृत्यों का सम्पादन करने के लिए प्रशासक नियुक्त कर सकेगी।

9.4 ग्राम पंचायत और कर्मचारी तथा राज्य सरकार

ग्राम पंचायत में एक सचिव होता है। इसकी नियुक्ति राज्य सरकार के द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त खण्ड विकास स्तर पर सहायक विकास अधिकारी होता है। जो समय-समय पर राज्य सरकार द्वारा निश्चित कर्तव्यों का पालन करते हुए ग्राम पंचायत का पथ प्रदर्शन, नियमन तथा नियन्त्रण करता है।

राज्य सरकार पंचायतों के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। वह ग्राम पंचायत के क्षेत्राधिकार को सीमित या परिवर्तित कर सकती है। वह किसी ग्राम पंचायत का दूसरे ग्राम पंचायत में विलय कर सकती है, उसे समाप्त कर सकती है। उसका नियन्त्रण पंचायत के कार्य के हर क्षेत्र में फैला हुआ है जैसे कर्मचारियों की नियुक्ति, अभिलेखों का प्रबन्ध, वित्तीय प्रशासन, चुनाव इत्यादि। यदि कोई ग्राम पंचायत अपने निर्धारित दायित्वों का निर्वहन करने में असफल रहती तो राज्य सरकार उसे अपना कोई कर्मचारी नियुक्त करके पूरा करा सकती है और उसका खर्च पंचायत से वसूल कर सकती है। राज्य सरकार ग्राम पंचायत से आवश्यक रिपोर्ट तथा अभिलेख मांग सकती है। यदि किसी ग्राम पंचायत के किसी प्रस्ताव को कार्यान्वित करने से सार्वजनिक जीवन, स्वास्थ्य, अथवा सम्पत्ति के लिए खतरा उत्पन्न होता है तो उस प्रस्ताव को स्थागित कर सकती है। विशेष परिस्थितियों में वह किसी ग्राम प्रधान को उसके पद से हटा सकती है। यदि कोई ग्राम पंचायत अपने शक्ति का दुरुपयोग कर रही हो अथवा अपने निर्धारित कर्तव्यों का निर्वहन करने में लगातार असफल रहती है और जनहित में उसका बना रहना वांछनीय न रह जाय तो राज्य सरकार उसे निलम्बित कर सकती है।

9.5 ग्राम पंचायत की वित्तीय व्यवस्था

भारत में ग्राम पंचायतों का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से है लेकिन यह सर्वविदित है कि इन संस्थाओं की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ नहीं रही है जबकि इनकी सफलता काफी हद तक इनके वित्तीय साधनों और शक्तियों पर निर्भर है। इसलिए वर्तमान समय में प्रत्येक ग्राम पंचायत के अधिकारों एवं कार्यों के सुचारू रूप से संचालित करने के लिए प्रत्येक ग्राम पंचायत में एक ग्राम निधि की स्थापना की गयी है। जिसमें मुख्य रूप से दो स्रोतों से वित्त की व्यवस्था की जाती है। प्रथम राज्य सरकार ग्राम पंचायत को ग्राम के विकास हेतु कुछ अनुदान देती है तथा द्वितीय ग्राम पंचायतों को कुछ कर लगाने का भी अधिकार है जिससे वह अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा कर सके। ग्राम निधि में निम्नलिखित धनराशि जमा की जायेगी-

1. इस अधिनियम के अधीन लगाये गये किसी कर की आय।
2. राज्य सरकार द्वारा ग्राम पंचायत को दी गयी समस्त धनराशियां।
3. वे धनराशियां, जिन्हें न्यायालय या किसी अन्य नियम के अन्तर्गत ग्राम निधि में जमा करने का निर्देश दिया गया हो।
4. 'विलेज पंचायत एक्ट' के अधीन पहले से विद्यमान विलेख पंचायत के नाम जमा अवशेष(Balance) यदि कोई हो।
5. धारा- 104 के अधीन प्राप्त समस्त धनराशि।
6. ग्राम पंचायतों के सेवकों द्वारा संग्रहित(Collected) धूल, गन्दगी, गोबर, कूड़ा-करकट, पशुओं के शव आदि के विक्री से प्राप्त धन।
7. नजूल की सम्पत्ति और लगान का हिस्सा, जो राज्य सरकार ग्राम निधि में जमा करने का निर्देश दे।
8. जिला पंचायत अथवा किसी अन्य स्थानीय प्राधिकारी द्वारा ग्राम निधि में अंशदान के रूप में दी गयी धनराशि।
9. ऋण अथवा दान के रूप में प्राप्त धनराशियां।
10. ऐसी अन्य धनराशियां जो राज्य सरकार की किसी सामान्य अथवा विशेष आज्ञा द्वारा ग्राम निधि को अभ्यर्पित की जाय।
11. समस्त धनराशियां, जो धारा- 24 अथवा किसी अन्य विधि के अधीन किसी व्यक्ति अथवा निगम अथवा राज्य सरकार से ग्राम पंचायत को प्राप्त हुई हो।
12. राज्य की संचित निधि से सहायता अनुदान के रूप में प्राप्त समस्त धनराशियां।

ग्राम निधि में से धन का समस्त आहरण और उसका वितरण ग्राम पंचायत के प्रधान और सचिव द्वारा संयुक्त रूप से किया जायेगा।

9.6 ग्राम पंचायत के अधिकार और कार्य

ग्राम पंचायत को प्रायः वे सभी कार्य करने का अधिकार दिया गया है, जिन्हें करने की समान्यतः एक स्थानीय प्रशासन से अपेक्षा की जाती है। ग्राम पंचायत मुख्यतः निम्नलिखित कृत्यों का सम्पादन करेगी-

1. कृषि और बागवानी का विकास और प्रोन्नति।
2. बंजर भूमि और चारागाह भूमि का विकास और उनके अनधिकृत कब्जों की रोकथाम करना।
3. भूमि विकास, भूमि सुधार और भूमि संरक्षण में सरकार और अन्य एजेंसियों की सहायता व चकबन्दी में सहायता करना।
4. लघु सिंचाई परियोजनाओं से जल वितरण में सहायता करना। लघु सिंचाई परियोजनाओं का निर्माण, मरम्मत तथा उनकी सुरक्षा में सहायता करना।
5. पशुपालन, दुग्ध उद्योग, मुर्गीपालन को ग्रामीण क्षेत्र में बढ़ावा देना और पशुओं की नस्लों को सुधारने का प्रयत्न करना।
6. गांव में मछली पालन के विकास में सहायता करना।
7. सड़कों तथा सार्वजनिक भूमि के किनारे वृक्षारोपण करना और उनकी रक्षा करना।
8. लघु वन उत्पादों की उन्नति और विकास करना।
9. लघु उद्योगों के विकास में सहायता करना, तथा स्थानीय बाजारों के उन्नति का प्रयत्न करना।
10. कृषि और अन्य उद्योगों के विकास में सहायता करना, ग्रामीण क्षेत्र में कुटीर उद्योगों की उन्नति को प्रोत्साहन देना।
11. ग्रामीण आवास कार्यक्रमों को लागू करने में सहायता करना तथा आवास स्थलों का वितरण और उनसे सम्बन्धित अभिलेखों को सुरक्षित रखना।
12. पीने, कपड़े धोने, स्नान करने के लिए जल की व्यवस्था करने हेतु कुओं, तालाबों का निर्माण कराना, उनकी मरम्मत और सुरक्षा करना और पीने के पानी के लिए अन्य स्रोतों का विकास करना।
13. ईंधन और चारा से सम्बन्धित पौधों का विकास करना तथा चारा भूमि के अनियमित अन्तरण पर नियन्त्रण रखना।
14. सड़कों, पुलियों, पुलों, नौका घाट, जल-मार्ग और संचार के साधनों का विकास करना तथा सार्वजनिक स्थलों से अतिक्रमणों को हटाना।
15. सार्वजनिक स्थलों तथा मार्गों पर प्रकाश की व्यवस्था और उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करना।
16. ग्राम में गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों के कार्यक्रमों का विकास, प्रोन्नति और सुरक्षा का प्रबन्ध करना।
17. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को लागू करना।
18. प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालय के विकास में सहायता करना और शिक्षा के प्रति सार्वजनिक चेतना पैदा करना।
19. तकनीकी प्रशिक्षण, व्यवसायिक शिक्षा, ग्रामीण कला और शिल्पकारों की उन्नति में सहायता करना।
20. प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से प्रौढ़ साक्षरता की प्रोन्नति करना।
21. सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों की उन्नति करना, विभिन्न त्यौहारों पर सांस्कृतिक संगोष्ठियों का आयोजन करना तथा खेलकूद के लिए ग्रामीण क्लबों की स्थापना करना और उनकी सुरक्षा करना।
22. पुस्तकालयों और वाचनालयों की स्थापना करना तथा उनकी व्यवस्था व सुरक्षा करना।

23. पंचायत की भूमि पर मेलों बाजारों तथा हाटों को लगवाना एवं विनियम करना।
24. ग्रामीण स्वच्छता की व्यवस्था करना, महामारियों तथा बीमारियों की रोकथाम करना, मनुष्य तथा पशुओं को टीका लगवाना, आवारा पशुओं को रोकना, जन्म, मृत्यु तथा विवाह का लेखा-जोखा रखना।
25. परिवार कल्याण कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए व्यवस्थाओं को लागू करने में कर्मचारियों की मदद करना।
26. ग्राम पंचायत क्षेत्र के विकास के लिए योजना तैयार करना और उनके क्रियान्वयन में सहयोग करना।
27. ग्राम पंचायत स्तर पर महिला एवं बाल विकास कार्यक्रमों को लागू करने में सहायता करना, बाल स्वास्थ्य तथा पोषण कार्यक्रमों की उन्नति करना।
28. वृद्धावस्था और विधवा पेंशन योजनाओं में सहायता करना, विकलांगों तथा मानसिक रूप से मन्दबुद्धि के व्यक्तियों के कल्याण को सम्मिलित करते हुए समाज कल्याण कार्यक्रमों में भाग लेना।
29. अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा समाज के अन्य कमजोर वर्गों के लिए विशेष कार्यक्रमों को लागू करने में सहायता करना। सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं तैयार करना और उनको लागू करने में सहायता करना।
30. आवश्यक वस्तुओं के वितरण में भाग लेना और लोगों में सार्वजनिक चेतना पैदा करने का प्रयत्न करना। इनके अतिरिक्त राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए जैसी उसमें विनिर्दिष्ट की जाय कुछ कार्यों को ग्राम पंचायतों को समनुदेशित कर सकती है जिसमें प्रमुख हैं-
 - पंचायत क्षेत्र में स्थित किसी वन की व्यवस्था करना और सुरक्षा की व्यवस्था करना।
 - पंचायत क्षेत्र के भीतर स्थित सरकार की बंजर भूमि, चारागाह भूमि या खाली पड़ी भूमि की व्यवस्था करना।
 - किसी कर या भू-राजस्व का संग्रह और सम्बन्धित अभिलेखों का अनुरक्षण।

9.7 ग्रामीण विकास में ग्राम पंचायत की भूमिका

भारत गांवों का देश है। अतः भारत का विकास तभी होगा जबकि भारतीय गांवों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाय। इसी उद्देश्य से स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात से ही गांवों का शासन गांव के स्तर पर संचालित करने दिशा में मजबूत पहल प्रारम्भ हुई। ग्रामीण विकास की दिशा में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रथम प्रयास सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात समय-समय पर गांवों के विकास की व्यवहारिकता की जांच करने के लिए विभिन्न समितियों की स्थापना की गयी, जिनकी संस्तुतियों के आधार पर ग्रामीण विकास की विभिन्न योजनाएं संचालित की जाती रही है।

ग्रामीण क्षेत्रों के महिलाओं और बच्चों के उत्थान को दृष्टिगत रखकर 1983-84 में एकीकृत ग्राम विकास योजना के उपयोजना के रूप में महिलाओं एवं बच्चों का उत्थान कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया, इसमें गरीबी-रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाली 10-15 महिलाओं का समूह बनाकर उन्हें इच्छित व्यवसायों में प्रशिक्षित कर आय में वृद्धि के लिए स्वावलम्बी बनाया जाता था। इसके लिए उन्हें 25 हजार रुपये 'रिवाल्विंग फंड' की राशि उपलब्ध करायी जाती थी।

ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या को दूर करने, स्थायी प्रकृति की सामुदायिक परिसम्पत्तियां सृजित करने एवं ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन स्तर को बेहतर बनाने के उद्देश्य से वर्ष 1980-81 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम तथा वर्ष 1983-84 से ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये थे। रोजगार कार्यक्रमों की गुणवत्ता में सुधार लाने तथा प्रत्येक गाँव पंचायत को विकसित करने के उद्देश्य से उपरोक्त योजनाओं को समाप्त कर वर्ष

1989-90 में जवाहर रोजगार योजना प्रारम्भ की गयी। जिसमें मिट्टी की सड़क, खडण्जा, नाली, हैण्डपम्प, वृक्षारोपण, पंचायत भवन, साफ-सफाई आदि कार्य किये जाते थे।

गरीबी-रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले ऐसे निर्धन व्यक्तियों जिन्हें वास्तव में रोजगार की आवश्यकता हो रोजगार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से 02 अक्टूबर 1983 में सुनिश्चित रोजगार योजना का सूत्रपात किया गया। इस योजना के अन्तर्गत जल संरक्षण, भू-संरक्षण, मेड़ों द्वारा अवरोध, वनारोपण, कृषि, बागवानी, वन, चारागाह, सिंचाई, सड़क, प्राथमिक स्कूलों में भवनों का निर्माण, आगनबाड़ी के लिए भवनों का निर्माण आदि कार्य किया जाना था।

वर्तमान में मनरेगा के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्र के समस्त विकास कार्यों को गांवों के जाबकार्ड धारक मजदूरों से कराने का निश्चय किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं वर्तमान में ग्राम पंचायत ग्रामीण विकास के सबसे सशक्त साधन के रूप में कार्य कर रही है। आज ग्राम पंचायत के बिना ग्रामीण विकास की कल्पना करना आकाश कुसुम चुनने के समान होगा।

अभ्यास प्रश्न-

1. ऋग्वैदिक काल में ग्राम के अधिकारी को क्या कहा जाता था?
2. रायल कमीशन का गठन कब किया गया था?
3. ग्रामीण स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था संविधान के किस भाग में गयी है?
4. बलवन्त राय मेहता समिति का गठन कब किया गया था?
5. 73वां संविधान संसोधन किससे सम्बन्धित है?
6. क्या उत्तराखण्ड में पंचायत की त्रिस्तरीय व्यवस्था पायी जाती है?
7. ग्राम पंचायत का चुनाव उसका कार्यकाल समाप्त होने के कितने दिनों के भीतर बाध्यकारी रूप से आवश्यक है?
8. ग्राम निधि से पैसों का आहरण एवं वितरण कौन करता है ?
9. पंचायत व्यवस्था की सबसे निचली इकाई कौन है ?

9.8 सारांश

भारत की 80 प्रतिशत आबादी गांवों में निवास करती है, जिनके विकास का उत्तरदायित्व अत्यन्त प्राचीन काल से गांव पंचायतों पर है। इसलिए इनका अस्तित्व वैदिक काल से लेकर अब तक किसी न किसी रूप में बना हुआ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ही महात्मा गांधी के द्वारा गांवों का शासन गांव स्तर पर संचालित करने का प्रबल समर्थन किया। गांधी जी के विचारों को दृष्टिगत रखकर ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गांवों को स्वशासन के इकाई के रूप में स्थापित करने का दायित्व संविधान के अनुच्छेद- 40 (राज्य के नीति निर्देशक तत्वों) के आधीन राज्यों को दिया गया। इनको मजबूत करने के उद्देश्य से समय-समय पर विभिन्न समितियों का गठन किया गया। जिनकी संस्तुतियों के अनुरूप वर्तमान ग्राम पंचायत की व्यवस्था ग्रामीण विकास का प्रबल साधन बन चुकी है। आज गांव पंचायत के विकास की कोई कल्पना गांव पंचायत से हटकर नहीं की जा सकेगी। इसलिए उत्तराखण्ड त्रिस्तरीय पंचायत राज संसोधन अधिनियम संख्या-08, सन् 2002 में पारित किया गया। जिसके द्वारा पूर्व में निर्मित सभी अधिनियमों में संसोधन करके उत्तराखण्ड के परिस्थितियों के अनुकूल ग्राम पंचायत को विकास की धुरी के रूप में स्थापित करने का सम्पूर्ण प्रयास किया गया है। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि भविष्य में ग्राम के विकास की कोई योजना ग्राम पंचायत से पृथक होकर नहीं बनायी जा सकेगी। अर्थात् ग्राम पंचायत ग्रामीण विकास का अतीत, वर्तमान और भविष्य प्रतीत होने लगा है। इसके लिए अधिनियमों के द्वारा ग्राम पंचायत को

इतना अधिकार दिया जा चुका है, जिससे वे अपने विकास के दायित्वों का बखूबी निर्वहन करते हुए ग्रामीण विकास के सपनों को साकार करती हुई प्रतीत हो रही है।

9.9 शब्दावली

वैदिक- वेदों के समय का, महाकाव्य- किसी महापुरुष या उच्च कुलोदभव महापुरुष के जीवन का आद्यन्त वृत्तान्त

स्वतन्त्र- जो अपने नियमों द्वारा संचालित होता हो, अधिकार- सामाजिक जीवन की वह परिस्थिति जिसमें व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त हो, संस्कृति- सभ्य जाति के सदाचार के लक्षण को संस्कृत कहा जाता है, स्वराज्य- अपना राज्य, नीति निदेशक- नीति के निर्धारण हेतु मार्ग-दर्शक, कार्य कारिणी- किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए कुछ प्रमुख व्यक्तियों की समिति, गणराज्य- जिस राज्य का प्रमुख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुना जाता है, संवैधानिक- संविधान के व्यवस्थाओं के अनुकूल, अधिनियम-किसी नियम या विधि के अधीन बनाया गया नियम या उपविधि

9.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग्रामिक , 2. 1901 ई0 में, 3. भाग- 4, 4. 1956, 5. ग्रामीण पंचायतों से, 6. हाँ , 7. छः माह, 8. ग्रामप्रधान और सचिव दोनों, 9. ग्राम पंचायत

9.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. उत्तर प्रदेश पंचायत राज अधिनियम 1947, हिन्द पब्लिशिंग हाउस, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद।
2. उत्तरांचल संसोधन अधिनियम- 7 और 8, सन् 2002,
3. हैबले ई0जी0 द्वारा उद्धृत पंचायती राज, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
4. के0के0 शर्मा, भारत में पंचायती राज, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
5. अवध नारायण दूबे, पंचायती राज का बदलता स्वरूप, मिश्रा ट्रेडिंग कार्पोरेशन, वाराणसी।

9.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. के0के0 शर्मा, भारत में पंचायती राज, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. अवध नारायण दूबे, पंचायती राज का बदलता स्वरूप, मिश्रा ट्रेडिंग कार्पोरेशन, वाराणसी।

9.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में ग्राम पंचायतों के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त उल्लेख करें।
2. ग्राम पंचायत के अधिकार एवं कार्यों का उल्लेख करें।
3. ग्रामीण विकास में ग्राम पंचायत की भूमिका का उल्लेख करें।

इकाई- 10 क्षेत्र पंचायत

इकाई की संरचना

- 10.0 प्रस्तावना
- 10.1 उद्देश्य
- 10.2 क्षेत्र पंचायत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 - 10.2.1 स्वतन्त्रता पूर्व क्षेत्र पंचायत(पंचायत समिति)
 - 10.2.2 स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद क्षेत्र पंचायत
- 10.3 क्षेत्र पंचायत की संरचना
- 10.4 क्षेत्र पंचायत, राज्य सरकार और कर्मचारीगण
- 10.5 क्षेत्र पंचायत की वित्तीय व्यवस्था
- 10.6 क्षेत्र पंचायत के कार्य(अधिकार) और दायित्व
 - 10.6.1 क्षेत्र पंचायत के कार्य
 - 10.6.2 क्षेत्र पंचायत के दायित्व
- 10.7 ग्रामीण विकास और क्षेत्र पंचायत
- 10.8 सारांश
- 10.9 शब्दावली
- 10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 10.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 10.13 निबंधात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

भारत में ग्रामीण स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से देखने को मिलती हैं जो कई स्तरों पर विभाजित थीं। इनके मध्य समन्वय बनाये रखने के लिए तभी से मध्यवर्ती संस्थाओं का अस्तित्व भी देखने को मिलता है। मानव समाज के विकास के साथ-साथ इसका स्वरूप भी परिष्कृत होता रहा है। प्राचीन काल में ये संस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था से जुड़ी हुई थीं और इनकी कार्यप्रणाली अत्यन्त प्रभावशाली तथा सक्रिय थीं। मानव जाति के प्रारम्भिक सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में देखने पर ये अत्यन्त कौतूहल पूर्ण प्रतीत होती है। वर्तमान प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं के सफल संचालन के लिए स्वतन्त्र स्थानीय संस्थाओं का अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है।

1952 ई० में प्रारम्भ किये गये सामुदायिक विकास कार्यक्रम का केन्द्र विकास खण्ड को ही बनाया गया था तथा इसके संचालन का दायित्व विकास खण्ड अधिकारी के कंधों पर डाल दिया गया था। किन्तु अपेक्षित जनसहयोग प्राप्त न होने के कारण यह कार्यक्रम सफल नहीं हुआ। इसलिए सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन व ग्रामीण स्थानीय शासन की इकाइयों को सुदृढ़ स्थिति प्रदान करने के उद्देश्य से बलवन्त राय मेहता समिति का गठन 1956 ई० में किया गया, जिसने अपनी रिपोर्ट 1957 ई० में प्रस्तुत करते हुए मध्य स्तर पर पंचायत समिति के स्थापना की प्रबल संस्तुति की।

समिति की सिफारिशों को दृष्टिगत रखकर ही सन् 1961 में 'उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद अधिनियम' उत्तर प्रदेश विधानमण्डल के द्वारा पारित किया गया। जिसका उद्देश्य, ग्राम स्तर के ऊपर विकास खण्ड स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर पर जिला परिषद की स्थापना कर प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण

सुनिश्चित करना था। बदलते परिदृश्य में 73वें संविधान संसोधन के उपरान्त सन् 1994 में ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत तथा जिला पंचायत का पुनर्गठन किया गया है। वर्तमान में क्षेत्र पंचायत ग्रामीण विकास के क्षेत्र में मील का पत्थर साबित हो रही है। जनता के करीब होने के कारण यह संस्था लोकप्रिय भी होती जा रही है।

यह इकाई क्षेत्र पंचायत से सम्बन्धित है जो पंचायती राज व्यवस्था की मध्यवर्ती संस्था है। इसमें क्षेत्र पंचायत के प्राचीन स्वरूप के साथ-साथ इसकी वर्तमान संरचना (संगठन), वित्तीय व्यवस्था, अधिकार व कृत्य तथा सरकारी कर्मचारियों व सरकार से इसके सम्बन्धों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- क्षेत्र पंचायत की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- पंचायत राज प्रणाली में क्षेत्र पंचायत की भूमिका को जान सकेंगे।
- क्षेत्र पंचायत के उद्देश्य तथा सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- क्षेत्र पंचायत की वर्तमान में व्यवहारिक स्थिति को समझ सकेंगे।
- ग्राम विकास में क्षेत्र पंचायत की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

10.2 क्षेत्र पंचायत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद भारत में मौजूद शासन-व्यवस्थाओं के स्वरूप और संचालन के सन्दर्भ में क्षेत्र पंचायत के इतिहास को जानने का प्रयास करते हैं।

10.2.1 स्वतन्त्रता पूर्व क्षेत्र पंचायत (पंचायत समिति)

क्षेत्र पंचायत (पंचायत समिति) की औपचारिक संरचना तो 'पंचायत समिति तथा जिला परिषद अधिनियम 1961' के द्वारा की गयी, लेकिन ग्रामीण स्थानीय स्वशासन की मध्यवर्ती इकाईयों का अस्तित्व भी भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से देखने को मिलता है। वैदिक काल में ग्राम के अधिकारी को 'ग्रामीक' अनेक गांवों के अधिकारी को 'विषपति' तथा सबसे ऊपर के अधिकारी को 'गोप' कहा जाता था। गोप प्रायः राजा ही होता था। विषपति मध्यवर्ती संस्था का मुखिया होता था हिन्दू राजनीति के प्रसिद्ध लेखक डॉ० के०पी० जायसवाल के अनुसार "प्रारम्भिक काल में जिस राष्ट्रीय जीवन एवं क्रियाओं का अभिलेख मिलता है, वे जनसभाओं तथा संस्थाओं द्वारा सम्पन्न की जाती थीं। ये संस्थाएं भी कई स्तरों पर निर्मित थीं।"

अथर्ववेद में देखने को मिलता है कि ग्रामसभा के अध्यक्षों का निर्वाचन होता था, जिनका कार्यक्षेत्र ग्राम तक ही सीमित एवं मर्यादित था, जिसमें जनशक्ति कम थी। जनशक्ति को बढ़ाकर बड़े-बड़े कार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से अनेक ग्रामों को मिलाकर समिति बनाने की भावना विचारकों में उठी। इस प्रकार अब तक जो संघीय शक्ति अनेक गांवों में बिखरी हुई थी, इस समिति के अन्तर्गत संगठित हो गयी। समिति के संगठन तक राजा के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की गयी थी। समिति के अन्तर्गत प्रत्येक ग्राम सभा के प्रतिनिधि बैठकर नियम बनाते थे। जिसके क्रियान्वयन के लिए कार्यकारिणी समिति अर्थात् मन्त्रिमण्डल की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस प्रकार पंचायत की नीचे से ऊपर तक एक अटूट परम्परा प्राचीन काल से देखने को मिलती है। इसका पर्याप्त साक्ष्य वैदिक साहित्य, उपनिषदों एवं जातक कथाओं में भी विद्यमान है।

रामायण और महाभारत काल के साहित्य में भी इस प्रकार के सभाओं और समितियों का उल्लेख मिलता है। शासन के केन्द्रीय स्तर पर तत्कालीन समय में बड़े-बड़े साम्राज्यों के बावजूद प्रशासन को सुविधा के दृष्टि से विभिन्न इकाईयों में विभक्त किया गया था। सबसे छोटी इकाई ग्राम था। जिसके ऊपर दस ग्राम, विषतिग्राम, शत

ग्राम, सहस्रग्राम तथा राज्य थे। इन इकाईयों के अधिकारियों को क्रमशः ग्रामिक, विषतीय, शतग्रामी, अधिपति व राजा कहते थे। इन पदाधिकारियों का कर्तव्य लगान वसूल करना, अपराधियों को दण्डित करना व अपने कार्यक्षेत्र में शान्ति बनाये रखना था। मनु स्मृति के अनुसार ग्राम का अधिकारी ग्रामिक, दस गांव का अधिकारी दषिक, बीस गांव का अधिकारी विषातीय, सौ गांवों का अधिकारी शतपाल तथा हजार गांव का अधिकारी सहस्रपति कहलाता था।

बौद्ध साहित्य में महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व एवं उनके समय में महाजनपदों के अस्तित्व का पता चलता है। महात्मा बुद्ध के समय अनेक गणतन्त्रात्मक राज्य थे, जिनमें प्रशासन की वास्तविक शक्ति सभा में निहित होती थी जिसके सदस्य मिलकर राज्य की समस्याओं का समाधान करते थे। डॉ० डी०डी० शुक्ल ने लिखा है कि बौद्धकालीन गणराज्यों में भी सभा का महत्व कम नहीं था। सभा के कार्य बहुमत से होते थे। इस काल में राज्यों में महामात्य, बोहारिक, सूत्रधार, अष्टकुल, सेनापति, उपराजा आदि पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है और सम्भवतः ये पदाधिकारी न्याय और प्रशासनिक दोनों प्रकार के कार्य करते रहे होंगे। इस काल के गणराज्यों में गांव की व्यवस्था गांव सभाओं द्वारा होती थी। इस प्रकार की संस्थाएं प्रत्येक स्तर पर मौजूद थीं। उस समय की स्थानीय लोकप्रिय संस्थाओं को अनेक नामों से पुकारा जाता था। उदाहरण के लिए कुल, गण, जाति, पुरा, व्रत, श्रेणी, संघ, समुदाय, समूह, परिषद, चरण आदि।

मौर्यकाल में भी स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं काफी विकसित थीं। शासन की सुविधा के लिए प्रान्तों के उप-विभाग किये गये थे, जो अर्थशास्त्र के अनुसार इस प्रकार थे- जनपद, द्रोणमुख, स्वार्वतिक, संग्राम तथा ग्राम/जनपद। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था का पर्याप्त अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय स्थानीय शासन की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। चन्द्रगुप्त ने शासन में विकेन्द्रीकृत शासन प्रणाली अपनाकर बड़ी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि सम्राट चन्द्रगुप्त ने यद्यपि भारत में बहुत बड़ा साम्राज्य पाया तथा भारत में एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना की परन्तु उन्होंने भी स्थानीय स्वायत्त शासन की इकाईयों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। ये संस्थाएं अपने विषयों में स्वतन्त्र तथा स्वायत्तशासी होती थीं।

राजपूत काल में स्थानीय शासन का महत्व कम हो गया, क्योंकि उन पर सामन्तों की अधिकार सत्ता छा गयी। सामन्तगण न केवल स्थानीय शासन को ही कम महत्व देते थे, बल्कि वे केन्द्रीय शासन से नियन्त्रण मुक्त होने का भी प्रयत्न करते रहते थे। तत्कालीन शासन(राज्य के विशाल होने पर) प्रान्तों, जिलों, अधिष्ठानों और ग्रामों में विभक्त होता था। शासन विकेन्द्रीकरण की भावना पर आधारित होने के कारण केन्द्रीय शक्ति को हमेशा खतरा बना रहता था।

स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से किसी न किसी रूप में विद्यमान रही हैं, फिर भी संगठन एवं कार्यप्रणाली के दृष्टि से उसका व्यवस्थित प्रादुर्भाव ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही हुआ। 1882 ई० में लार्ड रिपन द्वारा पारित प्रस्ताव स्थानीय स्वायत्त शासन आन्दोलन को नया बल प्रदान किया। इस प्रस्ताव से स्थानीय शासन को व्यवस्थित करने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय बोर्डों का विस्तार करने में सहायता मिली। इसलिए इस प्रस्ताव को भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का महालेख (मैग्नाकार्टा) कहा जाता है। 1883 ई० में एक अधिनियम बनाकर पिछड़े इलाकों को छोड़कर प्रत्येक तहसील व जिले में एक लोकल बोर्ड की स्थापना की गयी। इस प्रकार लार्ड रिपन का प्रस्ताव भारतीय शासन को वास्तविकता एवं व्यवहारिकता के निकट लाने का प्रयास था, लेकिन इसे सफलता नहीं मिली। बाद में 1909 में शाही आयोग, 1919 में माण्टेग्यू चैम्स फोर्ड रिपोर्ट आदि के रूप में ग्रामीण जनता की चेतना को जागृत करने का प्रयास किया गया। 1919 के अधिनियम के द्वारा पंचायतों को प्रान्तीय सरकारों सौंप दिया गया। इसी समय 1920-21 के आस-पास गांधी जी की ग्रामोद्योग योजना तथा एम०एन० राय की जनता योजना महत्वपूर्ण थी।

1935 में भारत सरकार अधिनियम के पारित होने के पश्चात प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना हुई। जिससे प्रान्तों में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ तथा देहाती क्षेत्रों में पंचायतों का निर्माण होने लगा और स्थानीय स्वायत्त शासन की संस्थाओं को अधिकाधिक लोकतन्त्रीय बनाये जाने की चेष्टा की गयी। किन्तु 1939 ई० में प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों के त्याग-पत्र देने तथा द्वितीय विश्व युद्ध के कारण स्थानीय संस्थाओं की प्रगति रूक गयी। जिसके फलस्वरूप इन संस्थाओं के पुनर्जीवन के लिए स्वतन्त्र भारत की प्रतीक्षा थी।

10.2.2 स्वतन्त्रता बाद क्षेत्र पंचायत

सूक्ष्म अवलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक स्थानीय स्वायत्त शासन की स्थिति ऊहापोह की रही है। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में विधिवत स्थान प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी इनके उत्थान और पतन की कहानी पूर्व की भाँति दृष्टिगोचर होती है। स्वातन्त्रोत्तर भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन के इतिहास में नये युग का सूत्रपात हुआ और इस दिशा में नये सिरे से 'शासन के विकेन्द्रीकरण की नीति' का आलम्बन किया गया।

1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रारम्भ इस उद्देश्य से किया गया कि जनता के सहयोग से विकास योजनाएं बनायीं व क्रियान्वित की जायेगी। इसी उद्देश्य से 1953 में राष्ट्रीय प्रसार सेवा का भी प्रारम्भ किया गया, जिसमें ग्राम स्तरीय कार्यकर्ताओं और खण्ड विकास अधिकारी दोनों में समन्वय बनाने की कोशिश की गयी। उदाहरणार्थ- खण्ड स्तरीय सलाहकार समिति में ग्राम समितियों के सदस्य, विधानमण्डल व संसद के वे सदस्य जिनके निर्वाचन क्षेत्र में विकास खण्ड था तथा सहकारी समितियों व प्रगतिशील किसानों को सम्मिलित किया गया था। इस तरह यह व्यवस्था शासन के विकेन्द्रीकरण को दृष्टिगत रखते हुए किया गया था, किन्तु इसे अपेक्षित जन सहयोग नहीं मिला।

इसलिए भारत सरकार ने 1956 में बलवन्त राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। मेहता समिति ने पूरे देश में चुने हुए ब्लाकों, स्थानीय जनता, अधिकारियों, जिला स्तरीय अधिकारियों, प्रतिनिधि संगठनों के सदस्यों, विकास विभाग और अन्य विभागों के सचिवों से बातचीत की। तत्पश्चात इस प्रश्न पर विचार किया कि तत्कालीन संस्थाएं कार्य कर सकती हैं या नहीं और यदि नहीं तो कौन सी नयी संस्थाएं किस स्तर तथा किन शक्तियों एवं साधनों के साथ निर्मित की जाय। समिति ने अपनी रिपोर्ट 24 नवम्बर 1957 को सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया।

बलवन्त राय मेहता समिति ने ग्राम स्तर से जिला स्तर तक स्थानीय निकाय के त्रिस्तरीय स्वरूप को मान्यता प्रदान की। समिति ने ब्लाक स्तरीय निकाय को 'पंचायत समिति' का नाम दिया। अपनी त्रिस्तरीय योजना में समिति ने इस निकाय को सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई माना और इसे विकास खण्ड स्तर पर स्थापित किये जाने पर बल दिया। पंचायत समिति के गठन के सम्बन्ध में समिति का सुझाव था कि पंचायत समिति का संगठन ग्राम पंचायतों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से होगा। खण्ड के अन्तर्गत आने वाली ग्राम पंचायतों के समूह को इकाई मानकर उनके सभी पंचों द्वारा निर्धारित संख्या में पंचायत समिति के सदस्यों का चुनाव किया जायेगा। निर्वाचित सदस्यों द्वारा दो महिला सदस्यों का अनुमेलन किया जायेगा। यदि विकास खण्ड में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की जनसंख्या 05 प्रतिशत से अधिक है और इस वर्ग का कोई सदस्य निर्वाचित न हो तो उस दशा में इस वर्ग के भी एक-एक सदस्यों का अनुमेलन किया जायेगा। प्रशासन, सार्वजनिक जीवन और ग्रामीण विकास के क्षेत्र में विशिष्ट अनुभव रखने वाले दो व्यक्तियों को भी पंचायत समिति अनुमेलित कर सकती है। पंचायत समिति का कार्यकाल पांच वर्ष होगा। इसका एक निर्वाचित अध्यक्ष होगा।

मेहता समिति ने पंचायत समिति के कार्यों में कृषि-विकास, बीजों का चुनाव, संरक्षण एवं वितरण, सहकारी बैंकों एवं शासकीय सहायता के साथ स्थानीय कृषि वित्त की व्यवस्था, लघु सिंचाई का विकास, स्थानीय उद्योगों का

विकास, पेयजल आपूर्ति, स्वच्छता और जन स्वास्थ्य, औषधि सहायता, स्थानीय तीर्थ स्थलों एवं उत्सवों के सम्बन्ध में व्यवस्था, प्राथमिक पाठशालाओं की व्यवस्था और प्रशासकीय नियन्त्रण, पिछड़े वर्गों के लोगों का कल्याण, मजदूरी का निर्धारण, ग्राम पंचायतों की सड़कों को छोड़कर स्थानीय महत्व के सड़कों की मरम्मत और निर्माण तथा आकड़ों का संग्रह एवं रख-रखाव आदि को शामिल किया। पंचायत समिति विकास योजनाओं के क्रियान्वयन एवं हस्तान्तरण सम्बन्धी क्रियाकलापों के सम्पादन में राज्य के अभिकरण के रूप में कार्य करेगी।

मेहता समिति ने पंचायत समितियों को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाने पर विशेष बल दिया, जिससे कि वे विकास कार्यक्रमों को प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वित कर सकें, क्योंकि समिति के अनुसार ग्रामीण स्थानीय स्वायत्त शासन की विफलता का एक महत्वपूर्ण कारण उनमें संसाधनों का अत्यधिक अभाव रहा है। समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों के सम्पूर्ण विकास का दायित्व पंचायत समितियों को सौंपने की प्रबल संस्तुति की। समिति ने पंचायत समिति के आय के लिए निम्नलिखित स्रोतों की अनुशंसा की-

1. विकास खण्ड से जो भू-राजस्व राज्य सरकार द्वारा वसूल किया जाय उसका एक निश्चित भाग पंचायत समिति को स्थानान्तरित हो।
2. भू-राजस्व एवं जल कर देने आदि पर विचार।
3. सड़कों एवं पुलों पर चुंगी कर।
4. अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर।
5. व्यवसायों तथा उद्यमों पर कर।
6. घाटों तथा मत्स्य क्षेत्रों से मिलने वाला किराया और लाभा।
7. मनोरंजन के साधनों पर कर।
8. तीर्थ स्थानों पर कर।
9. प्राथमिक शिक्षा पर कर।
10. मोटर गाड़ी पर लगने वाले कर का एक निश्चित भाग भी राज्य सरकार द्वारा पंचायत समिति को स्थानान्तरित हो।
11. मेलों, बाजारों व हाटों से होने वाली आय।
12. जनता से विभिन्न प्रकार की आय।
13. शासन द्वारा दिया गया अनुदान।

पंचायत समिति को ग्रामीण अंचलों में अधिक प्रभावी व उपयोगी बनाने हेतु मेहता समिति द्वारा पर्याप्त शासकीय अनुदान की संस्तुति की गयी। समिति के अनुसार विकास खण्ड में व्यय की जाने वाली समस्त केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की राशि पंचायत समिति को ही सौंप दी जानी चाहिए, जिससे वह ग्रामीण विकास के लिए प्रत्यक्ष रूप से खर्च कर सके।

मेहता समिति के द्वारा त्रिस्तरीय पंचायती राज के प्रथम और द्वितीय सोपान पर क्रमशः ग्राम पंचायत तथा पंचायत समितियों को मुख्य इकाईयां मानते हुए तृतीय सोपान पर जनपद स्तर पर जिला परिषद के गठन की संस्तुति की गयी। समिति के अनुसार जिला परिषद ग्राम पंचायत एवं पंचायत समितियों के मध्य समन्वयात्मक कड़ी के रूप में कार्य करेगी। इसमें जिले के पंचायत समितियों के अध्यक्ष, जनपद के समस्त सांसद तथा विधायक, चिकित्सा, लोक स्वास्थ्य, कृषि, पशु चिकित्सा, अभियन्त्रण, शिक्षा, पिछड़ा वर्ग कल्याण, सार्वजनिक निर्माण तथा अन्य विकास विभागों के जिला स्तरीय अधिकारी सदस्य के रूप में सम्मिलित होने चाहिए। जिला परिषद का कार्य प्रशासकीय नहीं होगा, क्योंकि इससे अन्य स्थानीय संस्थाओं- ग्राम पंचायत एवं पंचायत समिति के कार्य करने की स्वतन्त्रता का हनन होगा। जिला परिषद पंचायत समितियों के बजट की जांच करेगी उसकी मांगों को सरकार की

ओर अग्रसर करेगी, सरकार से प्राप्त धन का खण्डों में वितरण करेगी, योजनाओं में सामंजस्य स्थापित करेगी और उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करेगी तथा उनके गतिविधियों की सामान्य निगरानी करेगी।

बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुतियों और सिफारिशों को केन्द्रीय सरकार और राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात स्वीकार कर लिया गया और राज्य सरकारों को उनकी अनुशंसाओं के आधार पर पंचायती राज की स्थापना करने का निर्देश दे दिया गया। समिति की रिपोर्ट पंचायती राज के कार्य एवं निर्देशन की एक मोटी संरचना थी। वह भारत के स्थानीय शासन का संविधान नहीं थी, जिससे विचलित न हुआ जा सके। भारत सरकार के निर्देशानुसार सत्ता के विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों को दृष्टिगत रखकर उत्तर प्रदेश में क्षेत्र पंचायत तथा जिला परिषद अधिनियम 1961 पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा गांव सभा, क्षेत्र पंचायत और जिला परिषद को एक सूत्र में बांधा गया। यही से क्षेत्र पंचायत की विधिवत स्थापना उत्तर प्रदेश में मानी जा सकती है।

बलवन्त राय मेहता समिति के प्रतिवेदन और संस्तुतियों के आधार पर विभिन्न राज्यों में पंचायत व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया। लगभग एक दशक पश्चात इन संस्थाओं का मूल्यांकन कर इन्हें अधिक प्रभावी बनाने के उद्देश्य से 12 दिसम्बर 1977 को अशोक मेहता के नेतृत्व में एक 13 सदस्यीय समिति का गठन किया गया, जिसने अध्ययनोपरान्त पंचायती राज संस्थाओं के सुधार हेतु विभिन्न सुझाव दिये। इस समिति के द्वारा पंचायत के परम्परागत त्रिस्तरीय ढाँचे के स्थान पर द्विस्तरीय ढाँचे की सिफारिश की गयी। अर्थात् जनपद स्तर पर जिला परिषद तथा निम्न स्तर पर मण्डल पंचायत। इस प्रकार इस समिति ने जिला स्तर के नीचे ब्लाक को विकेन्द्रीकरण का स्तर नहीं माना और गांव तथा ब्लाक के मध्य कई गावों को मिलाकर 15 से 20 हजार की जनसंख्या पर मण्डल पंचायत स्थापित करने की संस्तुति की। इस मण्डल पंचायत को जिला परिषद के बाद विकास के कार्यप्रणाली का द्वितीय सोपान माना। इस समिति के द्वारा ग्राम पंचायत तथा क्षेत्र पंचायत दोनों के अस्तित्व को नकार दिया गया। समिति के संस्तुतियों पर विचार करने के लिए 1979 में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों का सम्मेलन आहूत किया गया। जिसमें अधिकांश राज्यों ने पंचायतों के द्विस्तरीय ढाँचे की सिफारिश को अस्वीकार कर दिया। इसलिए केन्द्रीय स्तर पर समिति के सिफारिशों पर कोई कार्यवाही नहीं की गयी, लेकिन तीन राज्यों- पश्चिम बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक ने अपने-अपने राज्यों में पंचायती राज को सुदृढ़ करने हेतु कदम उठाये।

पांचवी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सघन विकास करने एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के लिए प्रशासनिक प्रबन्ध पर जी0वी0के0 राव की अध्यक्षता में 1985 में एक समिति बनायी गयी। समिति द्वारा स्थानीय स्तर पर राज्य की शक्तियों को हस्तान्तरित करने की आवश्यकता पर बल देते हुए पूरे देश में पंचायती राज संस्थाओं को पुनर्जीवित करने की सिफारिश की गयी। इसमें राज्य विकास परिषद, जिला परिषद, पंचायत समिति तथा ग्राम सभा प्रमुख संस्थाएं होंगी। यद्यपि समिति ने जिला परिषद को प्रमुख निकाय बनाने की अनुशंसा की, फिर भी खण्ड विकास अधिकारी को ऊँचा उठाने तथा विकास खण्ड के विकास को गति प्रदान करने के लिए खण्ड विकास स्तर पर एक सहायक विकास कमिशनर के पद सृजन की भी अनुशंसा की। जिस पर 25 वर्ष से कम आयु के व्यक्ति की नियुक्ति की जाय। मैदानी क्षेत्र में एक लाख तथा पहाड़ी क्षेत्र में 50 हजार की जनसंख्या पर विकास खण्ड बनाया जाय।

31 अक्टूबर 1984 को इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद अचानक राजीव गाँधी जैसे युवा नेता का पदार्पण भारत सरकार के प्रधानमंत्री के रूप में हुआ। पंचायती राज एवं ग्रामीण विकास की दुर्दशा ने राजीव गाँधी के हृदय को झकझोर कर रख दिया। युवा प्रधानमंत्री में महसूस किया कि जब तक सत्ता राजनेताओं के चंगुल में बन्द रहकर फड़फड़ाती रहेगी तब तक देश के क्षितिज पर आम जनता की खुशहाली का स्वर्णिम प्रभात उदित नहीं होगा, इसलिए उन्होंने घोषणा की कि जो सत्ता राजनेताओं को जनता द्वारा मतदान के माध्यम से सौंपी जाती है वह सत्ता जनता को लौटा दी जाय। उन्होंने एक नारे का उद्-घोष किया “जनता को सत्ता सौंप दो।” इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर 1989 में 64वां संविधान संसोधन विधेयक लोकसभा में पेश किया गया। इस विधेयक में 20 लाख

से अधिक आबादी वाले राज्यों में त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत तथा जिला पंचायत का प्रावधान किया गया था, लेकिन कतिपय कारणों से यह विधेयक लोकसभा में पारित होने के बाद राज्य सभा में पारित नहीं हो सका।

73वां संविधान संसोधन अधिनियम 1992 पी0बी0 नरसिंह राव के प्रधानमन्त्रित्व काल में संसद द्वारा पारित किया गया। इस संसोधन के द्वारा संविधान में 9वां भाग जोड़कर यह सुनिश्चित किया गया कि पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना अब संविधान द्वारा राज्यों का अनिवार्य कर्तव्य है। यह अधिनियम 64वें संविधान संसोधन की खामियों को दूर कर बनाया गया था। इसके द्वारा पंचायत की त्रिस्तरीय व्यवस्था, महिलाओं, अनुसूचित जाति, जनजाति के लिए स्थानों का आरक्षण, वित्त आयोग का गठन आदि व्यवस्थाएं की गयीं। जिसके आलोक में 30 प्र0 पंचायत विधि संसोधन विधेयक 1994 प्रवृत्त हुआ। इसके प्रावधानों के अनुरूप त्रिस्तरीय पंचायतों को सौंपे जाने वाले कार्यों एवं दायित्वों का निर्धारण करने हेतु उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा अगस्त 1994 में जे0 एल0 एल0 बजाज की अध्यक्षता में 'प्रशासनिक सुधार एवं विकेन्द्रीकरण समिति' का गठन किया गया। समिति ने क्षमता के अनुसार 32 विभागों के कार्यों को पूर्ण रूपेण पंचायती संस्थाओं को सौंपने की संस्तुति की। समिति ने व्यक्त किया कि प्रत्येक विकास खण्ड में एक किसान सेवा केन्द्र की स्थापना की जानी चाहिए जो वस्तुओं और सेवाओं का निक्षेप करेगी। इस उपयोगी योजना का क्रियान्वयन क्षेत्र पंचायत करेगी तथा ए0डी0ओ0 स्तर का एक अधिकारी इसके संयोजक के रूप में नामांकित किया जायेगा। बजाज समिति के सिफारिशों को क्रियाविन्त करने के पूर्व समिति के सिफारिशों पर विचार करने के लिए दिसम्बर 1995 में पुनः कृषि उत्पादन आयुक्त भोलानाथ तिवारी की अध्यक्षता में एक 'उच्चाधिकार समिति' का गठन किया गया। जिससे विचारोपरान्त बजाज समिति के सिफारिशों को स्वीकृति प्रदान की। 09 नवम्बर 2000 में उत्तराखण्ड के पृथक राज्य के रूप में अस्तित्व में आने के बाद उत्तराखण्ड संसोधन अधिनियम संख्या- 8, सन् 2002 में पारित किया गया। जिसके द्वारा उत्तर प्रदेश पंचायत विधि संसोधन अधिनियम 1994 को स्वीकार करते हुए व्यवस्था की गयी कि उत्तर प्रदेश पंचायत राज अधिनियम 1947 तथा क्षेत्र पंचायत व जिला पंचायत अधिनियम 1961 में जहाँ-जहाँ उत्तर प्रदेश शब्द आया है, वहाँ उत्तराखण्ड पढ़ा जायेगा।

10.3 क्षेत्र पंचायत की संरचना

राज्य सरकार गजट में अधिसूचना द्वारा प्रत्येक खण्ड के लिए एक क्षेत्र पंचायत स्थापित करेगी, जिसका नाम विकास खण्ड के नाम पर होगा। क्षेत्र पंचायत का एक प्रमुख होगा, जो इसका पीठासीन होगा। इसके अलावा खण्ड विकास के समस्त ग्राम पंचायतों के प्रधान, निर्वाचित सदस्य जो पंचायत क्षेत्र के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायेंगे, (प्रादेशिक निर्वाचन पर्वतीय क्षेत्र में 25 हजार तक की जनसंख्या पर 20 तथा 25 हजार से अधिक जनसंख्या पर अधिकतम् 40 होगी एवं मैदानी क्षेत्र में 50 हजार तक की जनसंख्या पर 20 तथा 50 हजार से ऊपर अधिकतम् 40 होंगी। किन्तु किसी क्षेत्र पंचायत के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र में किसी संघटक ग्राम पंचायत का प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र भागतः सम्मिलित नहीं किया जायेगा)। लोक सभा और राज्य की विधान के ऐसे सदस्य जिनका क्षेत्र, क्षेत्र पंचायत सीमा में सम्मिलित हो तथा राज्य सभा और राज्य विधान परिषद के सदस्य जो खण्ड विकास के अन्दर मतदाता के रूप में रजिस्ट्रीकृत है, से मिलकर बनेगी। केवल अविश्वास प्रस्ताव को छोड़कर अन्य सभी कार्यवाहियों में सभी सदस्यों को भाग लेने का अधिकार होगा।

निर्वाचित सदस्यों में अनुसूचित जातियों, जनजातियों के सदस्यों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित होगा। पिछड़े वर्गों के लिए भी उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित होगा लेकिन यह चौदह प्रतिशत से अधिक नहीं होगा। आरक्षित स्थानों की संख्या का आधे से कम स्थान उस वर्ग की महिलाओं के लिए आरक्षित होगा तथा कुल स्थानों के आधे से अन्यून स्थान भी महिलाओं के लिए आरक्षित होगा। यह आरक्षण

चक्रानुक्रम में जैसा नियत किया जाय परिवर्तित होता रहेगा। क्षेत्र पंचायत के निर्वाचित सदस्यों के द्वारा अपने में से ही एक प्रमुख, एक ज्येष्ठ उपप्रमुख तथा एक कनिष्ठ उपप्रमुख का चुनाव किया जाता है। क्षेत्र पंचायत के प्रमुखों के स्थान भी उपर्युक्त वर्णित प्रकार से ही आरक्षित होंगे। किन्तु आरक्षित वर्ग के लोगों को सामान्य स्थानों से चुनाव लड़ने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है।

क्षेत्र पंचायत के कार्यों व दायित्वों के सुचारु व सरल संपादन के लिए निर्माण एवं कार्य समिति, नियोजन एवं विकास समिति, शिक्षा समिति, स्वास्थ्य एवं कल्याण समिति, प्रशासनिक समिति, जल प्रबन्धन समिति और समय-समय पर राज्य सरकार जैसी अपेक्षा करे समितियों का गठन किया जायेगा। इसके अतिरिक्त क्षेत्र पंचायत आवश्यक समझे तो किसी विषय के जांच या परामर्श देने के लिए भी समय-समय पर अधिनियम के अधीन एक या अधिक परामर्श समितियां नियुक्त कर सकती है। समितियों के गठन का उद्देश्य सामूहिक विचार-विमर्श के आधार पर पारदर्शी निर्णय लेने के लिए किया जाता है।

10.4 क्षेत्र पंचायत, राज्य सरकार और कर्मचारीगण

73वें संविधान संसोधन के द्वारा तीनों स्तर की पंचायत संस्थाओं में एक रूपता लाने का प्रयास किया गया है। क्षेत्र-पंचायत अपने दायित्वों का निर्वहन निष्ठा पूर्वक करे, इसके लिए क्षेत्र पंचायत पर राज्य सरकार को नियन्त्रण रखने का अधिकार कुछ निश्चित सीमाओं के तहत दिया गया है। राज्य सरकार को यदि यह प्रतीत हो जाय कि क्षेत्र पंचायत या उसके किसी समिति के द्वारा अपने कार्यों को करने में कोई त्रुटि की गयी है तो वह उसे सुधारने का अवसर एक निश्चित समयावधि में दे सकती है। यदि उस समयावधि में क्षेत्र पंचायत उस कार्य को अच्छे प्रकार से नहीं करती तो राज्य सरकार अपने किसी अधिकारी के माध्यम से उस कार्य को करवा सकती है। ऐसी स्थिति में उस कार्य पर होने वाले खर्च का वहन क्षेत्र पंचायत द्वारा उठाया जायेगा।

यदि क्षेत्र पंचायत के किसी सदस्य या प्रमुख के द्वारा अपने पद पर रहते हुए अपने किसी कृत्य से स्वयं अथवा किसी के व्यवसायिक हित को लाभ पहुँचाया गया हो या वह शारीरिक या मानसिक रूप से अक्षम हो गया हो या उसके किसी कृत्य से क्षेत्र पंचायत को क्षति पहुँची हो तो ऐसे लोगों को नियत रीति से उनके पद से हटाया जा सकता है, किन्तु ऐसा करने से पूर्व उस व्यक्ति को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर अवश्य दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त क्षेत्र पंचायत यदि अधिनियम द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन सुचारु रूप से न करे या अपने अधिकारों का दुरुपयोग करे तो राज्य सरकार उससे स्पष्टीकरण मांग सकती है यदि जाचोपरान्त यह सिद्ध हो जाय कि क्षेत्र पंचायत के आकृत्य उसे विघटित करने के लिए पर्याप्त है तो वह उसे विघटित कर उनके कृत्यों का सम्पादन करने के लिए किसी एक या एक से अधिक व्यक्तियों को नियुक्त कर सकती है। ऐसे विघटन के छः माह के भीतर क्षेत्र पंचायत का नये सिरे से निर्वाचन कराकर गठन करना आवश्यक होता है।

जिलाधिकारी जिले का मुखिया होने के कारण क्षेत्र पंचायत के ऊपर नियन्त्रण रखता है। वह उसके कार्यों का निर्देशन, नियन्त्रण व जांच कर सकता है। क्षेत्र पंचायत का एक पृथक प्रशासनिक तन्त्र होता है जिसका मुख्य कार्यपालक अधिकारी या अगुवा खण्ड विकास अधिकारी होता है, वह क्षेत्र पंचायत के सचिव के रूप में भी कार्य करता है। वह उन विकास अधिकारियों के दल का भी नेता होता है जो पशुपालन, सहकारिता, पंचायती राज, लघु सिंचाई, लोक स्वास्थ्य, उद्योग आदि विभागों में कार्य करते हैं। ये अधिकारी पेशेवर लोक सेवक होते हैं और राज्य सरकार के नौकर के रूप में कार्य करते हैं। खण्ड विकास में क्षेत्र पंचायत के अन्तर्गत खण्ड विकास अधिकारी, प्रसार अधिकारी(कृषि), प्रसार अधिकारी (पशुपालन), प्रसार अधिकारी (सहकारिता), प्रसार अधिकारी (पंचायत), प्रसार अधिकारी (ग्रामीण उद्योग), सर्वेक्षक (ओवरसियर), मुख्य सेविका, ग्राम सेवक, ग्राम सेविकाएं, प्रगति सहायक, लेखाकार एवं भण्डारी, वरिष्ठ लिपिक, रोकड़िया, टंकणकर्ता, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी, पशुपालन

भण्डारी, संदेश वाहक, पशु चिकित्सा, चिकित्साधिकारी, कम्पाउण्डर, सफाई निरीक्षक, महिला स्वास्थ्य निरीक्षक, दाईयां, सफाई कर्मचारी आदि होते हैं।

10.5 क्षेत्र पंचायत की वित्तीय व्यवस्था

क्षेत्र पंचायतों अपने दायित्व का उचित तरीके से निर्वहन कर सके, इसके लिए वित्तीय व्यवस्था परम आवश्यक है, इसलिए प्रत्येक क्षेत्र पंचायत के अधीन एक क्षेत्र निधि की स्थापना की जाती है। जिसमें राज्य सरकार के प्राप्त समस्त अनुदान तथा जिला पंचायत की ओर से प्राप्त की गयी समस्त धनराशियां जमा की जाती हैं। इसके अतिरिक्त क्षेत्र पंचायत नकद अथवा वस्तु के रूप में ऐसा अंशदान स्वीकार कर सकती है जो कोई व्यक्ति सार्वजनिक उपयोगिता के किसी कार्य के लिए देता है। इसे जहाँ कहीं आवश्यक हो, क्षेत्र पंचायत अपने अंशदान सहित कार्य के निष्पादन में लगायेगी। क्षेत्र पंचायत, निधि में से धन का समस्त आहरण और उसका वितरण प्रमुख और खण्ड विकास अधिकारी द्वारा संयुक्त रूप से किया जाता है।

क्षेत्र पंचायत को नियमों के अधीन कुछ कर लगाने व वसूलने का अधिकार भी होता है यथा जलकर- जहाँ वह पीने के पानी, सिचाई या किसी अन्य प्रयोजन के लिए पानी की व्यवस्था या किसी योजना का निर्माण या अनुरक्षण करती है। विद्युतकर, जहाँ वह किसी सार्वजनिक मार्ग या सार्वजनिक स्थान पर प्रकाश की व्यवस्था या उसका अनुरक्षण करती है। तथा कोई अन्य ऐसा कर संविधान द्वारा राज्य को दिया गया हो और राज्य सरकार ने क्षेत्र पंचायत को प्राधिकृत किया हो। क्षेत्र पंचायत उन लाइसेंसों, स्वीकृति या अनुमति के लिए भी शुल्क ले सकती है जो उपविधि द्वारा उसे दिये गये हों। ऐसे बाजार जो क्षेत्र पंचायत द्वारा स्थापित तथा अनुरक्षित हैं उसमें होने वाले व्यवसाय पर शुल्क वसूल सकती हैं।

10.6 क्षेत्र पंचायत के कार्य(अधिकार) और दायित्व

पंचायतीराज व्यवस्था में क्षेत्र पंचायत मध्यम स्तरीय संस्था है। क्षेत्र पंचायत को अधिनियम द्वारा निम्नलिखित अधिकार एवं कृत्य सौंपे गये हैं-

10.6.1 क्षेत्र पंचायत के कार्य

1. कृषि और बागवानी की प्रोन्नति और विकास तथा सब्जियों, फलों एवं पुष्पों की खेती और विपणन की प्रोन्नति।
2. सरकार के भूमि सुधार, भूमि संरक्षण और चकबन्दी कार्यक्रम के कार्यान्वयन में सरकार और जिला पंचायत की सहायता करना।
3. लघु सिचाई कार्यों के निर्माण और अनुरक्षण में सरकार और जिला पंचायत की सहायता करना एवं सामुदायिक और वैयक्तिक सिचाई कार्यों का कार्यान्वयन।
4. पशु सेवाओं का अनुरक्षण, पशु, कुक्कुट और अन्य पशुओं के नस्लों का सुधार, दुग्ध उद्योग, कुक्कुट पालन एवं सूअर पालन की प्रोन्नति।
5. मत्स्य पालन के विकास की प्रोन्नति।
6. सड़कों और सार्वजनिक भूमि के किनारों पर वृक्षारोपण एवं परिरक्षण, सामाजिक वानिकी और रेशम उत्पादन का विकास और प्रोन्नति।
7. लघु वन उत्पादों की प्रोन्नति और उसका विकास।
8. ग्रामीण उद्योग के विकास में सहायता करना, कृषि उद्योगों के विकास की सामान्य जानकारी का सृजन करना।
9. कुटीर उद्योगों के उत्पादों की प्रोन्नति एवं उसके विपणन की व्यवस्था करना।

10. ग्रामीण आवास कार्यक्रम में सहायता देना और उसका कार्यान्वयन।
11. पेयजल की व्यवस्था करना तथा उसके विकास में सहायता देना, प्रदूषित जल को पीने से बचाना, ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देना और उसका अनुश्रवण करना।
12. ईंधन और चारा से सम्बन्धित कार्यक्रमों को प्रोन्नति, पंचायत क्षेत्र में सड़कों के किनारे वृक्षारोपण।
13. गांवों के बाहर सड़कों, पुलियों का निर्माण और उनका अनुरक्षण, पुलों का निर्माण, नौकाघाटों और जलमार्गों के प्रबन्ध में सहायता।
14. ग्रामीण विद्युतीकरण की प्रोन्नति।
15. गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग को बढ़ावा देना और उसकी प्रोन्नति।
16. गरीबी उपशमन कार्यक्रमों का कार्यान्वयन।
17. प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का विकास, प्रारम्भिक और सामाजिक शिक्षा की प्रोन्नति।
18. ग्रामीण शिल्पकारों एवं व्यवसायिक शिक्षा की प्रोन्नति।
19. प्रौढ़ साक्षरता और अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों का पर्यवेक्षण।
20. ग्रामीण पुस्तकालयों की प्रोन्नति और पर्यवेक्षण।
21. सांस्कृतिक कार्यों का पर्यवेक्षण, क्षेत्रीय लोक गीतों, नृत्यों और ग्रामीण खेलकूद की प्रोन्नति एवं आयोजन तथा सांस्कृतिक केन्द्रों का विकास तथा प्रोन्नति।
22. ग्राम पंचायत के बाहर मेलों और बाजारों (जिसमें पशु मेला भी सम्मिलित है) की प्रोन्नति, पर्यवेक्षण और प्रबन्ध।
23. प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और औषधालयों की स्थापना और अनुरक्षण, महामारियों का नियन्त्रण एवं ग्रामीण स्वच्छता एवं स्वास्थ्य कार्यक्रमों का कार्यान्वयन।
24. परिवार कल्याण और स्वास्थ्य कार्यक्रमों की प्रोन्नति।
25. महिलाओं और बाल स्वास्थ्य के विकास एवं पोषण सम्बन्धी कार्यक्रमों में संगठनों की सहभागिता के लिए कार्यक्रमों की प्रोन्नति।
26. समाज कल्याण कार्यक्रमों, जिसके अन्तर्गत विकलांगों एवं मानसिक रूप से मन्द व्यक्तियों के कल्याण भी हैं, में भाग लेना तथा वृद्धावस्था एवं विधवा पेंशन का अनुश्रवण करना।
27. अनुसूचित जातियों और कमजोर वर्गों के कल्याण को प्रोन्नति, सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं तैयार करना और कार्यक्रमों का कार्यान्वयन।
28. आवश्यक वस्तुओं का वितरण।
29. सामुदायिक आस्तियों के परिरक्षण और अनुरक्षण का अनुश्रवण और मार्ग दर्शन करना।
30. आर्थिक विकास के लिए योजनाएं तैयार करना, ग्राम पंचायतों के योजनाओं का पुनर्विलोकन, समन्वय तथा एकीकरण, खण्ड तथा ग्राम पंचायत विकास योजनाओं के निष्पादन को सुनिश्चित करना, सफलताओं तथा लक्ष्यों की नियतकालिक समीक्षा तथा खण्ड योजना के कार्यान्वयन से सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में सामग्री एकत्र करना तथा आंकड़े रखना।
31. नियत प्रक्रिया के अनुसार ग्राम पंचायतों को अनुदानों का वितरण, ग्राम पंचायत के क्रियाकलाप के ऊपर नियमों के अनुसार सामान्य पर्यवेक्षण।
32. प्राकृतिक आपदाओं में सहायता देना।

10.6.2 क्षेत्र पंचायत के दायित्व

उपरोक्त अधिकारों एवं कृत्यों के अतिरिक्त क्षेत्र पंचायत के द्वारा निम्नलिखित दायित्वों का भी निर्वहन किया जाता है-

1. ग्राम पंचायत के प्रधान तथा न्याय पंचायत के पंचों, सरपंचों एवं सहायक सरपंचों के पद की शपथ दिलाना।
2. सिंचाई की छोटी योजनाओं को हाथ में लेना तथा ग्राम पंचायत के प्रस्तावों को स्वीकृत करना।
3. प्राइमरी स्कूल तथा आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक अथवा यूनानी अस्पताल या औषधालय स्थापित तथा अनुरक्षित करने के लिए खण्ड में स्थित पास-पड़ोस के ग्राम पंचायतों के किसी समूह को परस्पर सम्मिलित होने का निर्देश देना।
4. पंचायत द्वारा किसी ऐसे पदों के सृजन का अनुमोदन करना, जिसके लिए उसके बजट में व्यवस्था न हो।
5. पंचायत कर्मचारियों का खण्ड के अन्दर या खण्ड से बाहर स्थानान्तरण करना।
6. न्याय पंचायतों के अधीन सेवकों की नियुक्तियां स्वीकृत करना तथा उनके सम्बन्ध में स्थानान्तरण, दण्ड, पद-मुक्ति तथा पदच्युति के अधिकारों का प्रयोग करना।
7. पंचायत सचिवों पर छुट्टी, स्थानान्तरण तथा अन्य अनुशासन सम्बन्धी अधिकार जिनमें नियुक्ति, पदोन्नति, पदच्युति तथा हटाये जाने सम्बन्धी अधिकार सम्मिलित नहीं है।
8. खण्ड के अन्दर संयुक्त समिति के संघटक इकाईयों के मध्य विवादों को तय करना।
9. गलती से छोड़े गये किसी व्यक्ति पर कर या उप शुल्क लगाने के लिए ग्राम पंचायतों को निर्देश देना।
10. यदि ग्राम पंचायत अपने अदयों की मालगुजारी के बकाया के रूप में वसूल करने के लिए तीन महीने के भीतर संकल्प पारित ना करे तो पंचायत करों का मालगुजारी के बकाया के रूप में वसूल किया जाना प्राधिकृत करना।
11. किसी कर या उप शुल्क से पूर्णतः या अंशतः छूट देने के, ग्राम पंचायत के निर्णय को अनुमोदित करना।
12. उस अनुपात को निर्धारित करना जिसमें न्याय पंचायत के व्यय सर्किल में सम्मिलित ग्राम पंचायत की निधियों (Gaonfunds) पर भारित होंगे।
13. ग्राम पंचायत द्वारा कोई अन्य कर्तव्य या कृत्य किये जाने का निर्देश देना।

10.7 ग्रामीण विकास और क्षेत्र पंचायत

क्षेत्र पंचायत, पंचायती राज व्यवस्था की धुरी है, क्योंकि इसका आकार न तो जिला पंचायत जैसे इतना बड़ा है कि यह जनता के पहुँच से दूर हो जाय और न ही ग्राम पंचायत जैसे इतना छोटा कि वह प्रभावी संस्था के रूप में कार्य न कर सके। बल्कि यह मध्य स्तरीय ऐसी की संस्था है जो जन सामान्य के अत्यन्त नजदीक होती है। इसलिए क्षेत्रीय ग्रामीण विकास और उन्नति का सबसे अधिक दायित्व भी इसी के कंधो पर होता है। 1955 ई० में राष्ट्रीय विकास सेवा के अन्तर्गत समस्त विकास योजनाओं को लागू करने के लिए अविकसित क्षेत्रों में शैडो ब्लाक की स्थापना की गयी। 1967 में उ०प्र० के पूर्व मुख्यमंत्री स्व० चरण चौधरी ने शैडो विकास खण्डों को राष्ट्रीय प्रसार सेवा (NES) में पुनः मिला दिया। विकास प्रक्रिया के प्रथम चरण में कृषि उत्पादन, शिक्षा, स्वास्थ्य, पशुपालन, सहकारिता एवं सिंचाई के मदों पर पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर हरित क्रान्ति लाने का प्रयास किया गया। इसके साथ ही गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले परिवारों के लिए 02 अक्टूबर 1980 से पूरे भारत में एकीकृत ग्राम विकास योजना लागू की गयी जिसके अन्तर्गत कृषि एवं सिंचाई, पशुपालन, उद्योग, व्यवसाय एवं सेवा के क्षेत्रों में लगे लोगों को ऋण व अनुदान की सुविधा प्रदान कर उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया गया।

क्षेत्र पंचायत एक तरफ विकास खण्ड के समस्त ग्राम पंचायतों के कार्यों एवं नीतियों में समन्वय स्थापित करता है तो वहीं दूसरी तरफ खुद क्षेत्र के विकास के लिए योजनाओं का निर्माण और कार्यान्वयन करती है। क्षेत्र पंचायत के अधिकांश सदस्य ग्राम क्षेत्र से निर्वाचित होते हैं, जो ग्रामीण समस्याओं से भली-भाँति अवगत होते हैं। ग्रामीण विकास के लिए प्राप्त अनुदानों को इन्हीं के प्रस्ताव पर खर्च किया जाता है। नयी व्यवस्था के तहत पंचायतों में एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किये गये हैं, जिनको सामाजिक विकास हेतु शिक्षा, स्वास्थ्य और पोषक आहार जैसी सुविधाओं से शैशवावस्था से ही वंचित रखा जाता है। इसका असर निश्चित रूप से उनकी प्रतिभा पर भी पड़ता है। इस व्यवस्था से आधी आबादी के विकास को भी निश्चित रूप से बल मिल रहा है। ग्रामीण विकास की तमाम योजनाओं के क्रियान्वयन में महिलाओं की सहभागिता बढ़ रही है। जिसका प्रभाव निश्चित रूप से उनके जीवन स्तर पर पड़ रहा। क्षेत्र पंचायत द्वारा अपने संसाधनों का प्रयोग वर्तमान में 'महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारन्टी कार्यक्रम' के तहत किया जा रहा है। जिससे एक तरफ जहाँ गांवों में रास्ता, साफ-सफाई, पेयजल, नाली, वृक्षारोपण, सिंचाई आदि से सम्बन्धित कार्यों को मूर्तता प्रदान की जा रही है तो वहीं दूसरी तरफ गरीबी और लाचारी का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को रोजगार मुहैया हो रहा है। जिससे प्राप्त आय उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में महती भूमिका निभा रही है। ग्रामीण जनता के दिन-प्रतिदिन के सम्पर्क में होने के कारण क्षेत्र पंचायत अपने दायित्वों से विमुख होने की स्थिति में भी नहीं है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिला पंचायत और ग्राम पंचायत के बीच अवस्थित होने के कारण निश्चित रूप से क्षेत्र पंचायत का महत्व एवं भूमिका बढ़ जाती है। एक तरफ यह ग्राम पंचायतों के विकास कार्यक्रमों में उनका पथ प्रदर्शन व नियन्त्रण करती है तो दूसरी तरफ ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों तथा योजनाओं को जिला पंचायत की तरफ अग्रेसर भी करती है। मध्यम स्तरीय संस्था होने के कारण यह ग्राम पंचायत तथा जिला पंचायत के बीच कड़ी के रूप में कार्य करते हुए ग्रामीण विकास को गति प्रदान करने में महती भूमिका निभाती है। क्षेत्र पंचायत के बिना वर्तमान ग्रामीण विकास का कल्पना भी अधूरी होगी। क्षेत्र पंचायत के माध्यम से क्षेत्रीय जनता अपनी समस्याओं और उलझनों से निपटने के लिए स्वयं जागरूक एवं चैतन्य रहती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. बौद्धकालीन गणतन्त्रात्मक राज्यों में प्रशासन की वास्तविक शक्ति किसमें निहित होती थी?
2. स्वतन्त्रता पूर्व सर्वप्रथम किस अधिनियम द्वारा पंचायतों को प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया गया?
3. अशोक मेहता समिति का गठन कब किया गया था?
4. पंचायत व्यवस्था के सम्बन्ध में उत्तराखण्ड संसोधन अधिनियम संख्या- 8, किस वर्ष पारित किया गया?
5. क्षेत्र पंचायत का पीठासीन कौन होता है?
6. पर्वतीय क्षेत्र में 25 हजार की जनसंख्या पर क्षेत्र पंचायत के लिए कितने सदस्यों के चुने जाने की व्यवस्था है?
7. मैदानी क्षेत्र में 50 हजार से अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्र पंचायत में निर्वाचित सदस्यों की संख्या अधिकतम कितनी होगी?
8. क्षेत्र पंचायत का सचिव कौन होता है?
9. पंचायत व्यवस्था के मध्य स्तरीय संरचना को क्या कहा जाता है?

10.8 सारांश

भारत में प्राचीनकाल से पंचायतों का गठन कई स्तरों पर होता रहा है, जिसमें उच्च और निम्न स्तर के संस्थाओं के बीच कड़ी के रूप मध्यवर्ती संगठनों का अस्तित्व भी तभी से किसी न किसी रूप में देखने को मिलता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पंचायतों को विधिक स्थिति प्रदान करने के उद्देश्य से 1947 में संयुक्त प्रान्त पंचायत विधि

अधिनियम बनाया गया। 1957 में बलवन्त राय मेहता समिति के द्वारा त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था को स्थापित करने की संस्तुति की गयी। केन्द्रीय सरकार तथा राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वीकृति मिलने के बाद विभिन्न राज्यों ने इसके आधार पर पंचायतों का पुनर्गठन किया। इसी क्रम में 1961 में उत्तर प्रदेश क्षेत्र पंचायत तथा जिला पंचायत अधिनियम विधान मण्डल के द्वारा पारित किया गया। इसका उद्देश्य ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत तथा जिला पंचायत में एकरूपता लाता था। क्षेत्र पंचायत में सुधार के लिए समय समय पर प्रयास किये जाते रहे। लेकिन इस दिशा में 73वां संविधान संसोधन मील का पत्थर साबित हो रहा है। इस अधिनियम के द्वारा क्षेत्र पंचायत को संवैधानिक दर्जा प्रदान कर दिया गया है। अब क्षेत्र पंचायतों को अपने कृत्यों के सम्पादन में काफी स्वायत्तता मिल गयी है। महिलाओं के लिए पदों के आरक्षण के कारण इस आधी आबादी की भी प्रजातन्त्र के आधारभूत स्तर पर सहभागिता सुनिश्चित हो गयी है। इस वर्ग के द्वारा अपने दायित्वों के निर्वहन में निश्चित रूप से रुचि ली जाने लगी है। यद्यपि अभी उनकी भूमिका खुलकर देखने को नहीं मिल रही है। उत्तराखण्ड के उत्तर प्रदेश से पृथक होने पर कुछ मामूली परिवर्तन करते हुए उत्तर प्रदेश पंचायत विधि अधिनियमों को स्वीकार कर लिया गया है। उत्तराखण्ड में महिलाओं को ज्यादा प्रतिनिधित्व देने का भी प्रयास किया गया है जो निश्चित रूप से सराहनीय कदम है। क्षेत्र पंचायत, ग्राम पंचायत और जिला पंचायत की कड़ी के रूप में तो कार्य करता ही है, इसके साथ-साथ यह स्वयं भी ग्रामीण विकास के एक महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में इनके कार्यों में भरपूर सहयोग दे रही है।

10.9 शब्दावली

सभ्यता- मानव के सभ्य होने की समूची प्रक्रिया, रिपोर्ट- सूचनाओं का संग्रह, संविधान संसोधन- संवैधानिक व्यवस्था में समयानुकूल परिवर्तन, अभिलेख- प्राचीन लिखित धरोहर, संस्था- किसी खास उद्देश्य के लिए गठित की गयी इकाई, संघ- कुछ खास व्यक्तियों का समूह जो खास उद्देश्य के लिए कार्य करता हो, साहित्य- एक ऐसी रचना जो लोगों के हित के लिए कार्य करें, अधिकारी- विशेष क्षेत्र में अधिकार प्राप्त व्यक्ति, बहुमत- किसी व्यवस्था के आधे से अधिक लोग, स्वायत्तशासी- जो स्वयं द्वारा शासित हो, स्वतन्त्रता- अपने द्वारा विकसित तन्त्र का शासन, अनुमेलन- किसी पूर्व निर्धारित व्यवस्था में दूसरी व्यवस्था का समायोजन, योजना- किसी कार्य को पूर्ण करने के लिए तैयार की गयी युक्ति।

10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सभा में, 2. 1919 ई० में, 3. 1977 ई० में, 4. 2000 ई० में, 5. क्षेत्र पंचायत प्रमुख, 6. 20 सदस्य, 7. 40, 8. खण्ड विकास अधिकारी, 9. क्षेत्र पंचायत

10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डा० प्रभुदत्त शर्मा, ग्रामीण स्थानीय प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, 1986
2. देवेन्द्र उपाध्याय, पंचायती राज व्यवस्था, जगदीश भारद्वाज सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली।
3. अरूण श्रीवास्तव, भारत में पंचायती राज, आर०बी०एस०ए० पब्लिशर्स, जयपुर।
4. महीपाल, पंचायती राज- अतीत, वर्तमान और भविष्य, सारांश प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली।
5. के०के० राय, उ०प्र० एवं उत्तरांचल के लिए, क्षेत्र पंचायत तथा जिला पंचायत अधिनियम 1961, एलिया लॉ एजेंसी, इलाहाबाद।
6. डॉ० निकुंज, पंचायती राज व्यवस्था एक दृष्टि एवं दृष्टिकोण, निकुंज प्रकाशन, बड़वानी, 1995 (सम्पादन)

10.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डा० प्रभुदत्त शर्मा, ग्रामीण स्थानीय प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, 1986
 2. देवेन्द्र उपाध्याय, पंचायती राज व्यवस्था, जगदीश भारद्वाज सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली।
 3. अरूण श्रीवास्तव, भारत में पंचायती राज, आर०बी०एस०ए० पब्लिशर्स, जयपुर।
 4. महीपाल, पंचायती राज- अतीत, वर्तमान और भविष्य, सारांश प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली।
-

10.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. क्षेत्र पंचायतों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षेप में उल्लेख करें।
2. क्षेत्र पंचायत के अधिकार एवं शक्तियों पर एक निबन्ध लिखें।

इकाई- 11 जिला पंचायत

इकाई की संरचना

- 11.0 प्रस्तावना
- 11.1 उद्देश्य
- 11.2 जिला पंचायत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 - 11.2.1 स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व जिला पंचायत(परिषद)
 - 11.2.2 स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जिला पंचायत
- 11.3 जिला पंचायत की संरचना
- 11.4 जिला पंचायत, राज्य सरकार और कर्मचारीगण
- 11.5 जिला पंचायत की वित्तीय व्यवस्था
- 11.6 जिला पंचायत के कार्य(अधिकार) और दायित्व
 - 11.6.1 जिला पंचायत के कार्य(अधिकार)
 - 11.6.2 जिला पंचायत के दायित्व
- 11.7 ग्रामीण विकास में जिला पंचायत की भूमिका
- 11.8 सारांश
- 7.9 शब्दावली
- 11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 11.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 11.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 11.13 निबंधात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

भारत में पंचायतों का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। ग्राम स्तरीय संस्थाएं सबसे निचले स्तर पर थीं। इनको नियन्त्रित व निर्देशित करने के लिए किसी उच्च संस्था की आवश्यकता प्रारम्भ से ही महसूस की जा रही थी। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ मानव जीवन की जटिलताएं भी उत्तरोत्तर बढ़ती गयीं। अतः पंचायत के स्वरूप में भी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गयी। जिसे देखते हुए मध्य स्तर और उच्च स्तर के संस्थाओं की स्थापना की गयी।

बौद्ध साहित्य में महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व एवं उनके समय में महाजनपदों के अस्तित्व का पता चलता है। महात्मा बुद्ध के समय अनेक गणतन्त्रात्मक राज्य थे, जिनका वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में बौद्ध संघों की प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था का विस्तृत वर्णन है। उस समय छोटे-छोटे गणराज्य थे, जिसका अध्यक्ष चुनाव के द्वारा निश्चित समय के लिए चुना जाता था।

मौर्यकाल में स्थानीय स्वशासन काफी विकसित था। शासन की सुविधा के लिए प्रान्तों के उपविभाग किये गये थे, जो अर्थशास्त्र के अनुसार इस प्रकार थे- जनपद, द्रोणमुख, स्वार्वतिक, संग्राम। जनपद का अधिकारी मुखिया 'स्थानिक' कहलाता था। शासन को सुविधाजनक व उपयोगी बनाने के लिए प्रारम्भ से ही भारत में प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण देखने को मिलता है। जिसमें ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम, तथा हजार गांव का संगठन प्रमुख था। इस प्रकार उच्च स्तर, मध्य स्तर और निम्न स्तर पर प्रशासन का लोकतान्त्रिक संगठन प्राचीन काल से ही देखने को मिलता है।

यह इकाई जिला पंचायत से सम्बन्धित है जो ग्रामीण पंचायत व्यवस्था की सबसे ऊपरी संस्था है। इसमें जिला पंचायत के प्राचीन स्वरूप जिला समिति या जिला बोर्ड के साथ-साथ वर्तमान में इनकी संरचना (संगठन) अधिकार व कार्य, वित्तीय प्रबन्ध तथा राज्य सरकार व उसके अधिकारियों के साथ सम्बन्ध का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- जिला पंचायत की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- पंचायत व्यवस्था में जिला पंचायत की स्थिति को समझ सकेंगे।
- जिला पंचायत के उद्देश्य व सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- वर्तमान में जिला पंचायत की व्यवहारिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- ग्रामीण विकास में जिला पंचायत की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

11.2 जिला पंचायत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जिला पंचायत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन सुविधा की दृष्टि ने निम्नांकित शीर्षकों के आधार पर कर सकते हैं-

11.2.1 स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व जिला पंचायत

यद्यपि अपने वर्तमान स्वरूप में जिला पंचायत स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की संस्था है। लेकिन उसकी स्थिति या उसके जैसे संगठन का अस्तित्व भी भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से देखने को मिलता है। वैदिक काल में ग्राम पंचायतों को नियन्त्रित व निर्देशित करने के लिए उसके ऊपर की संस्थाओं का अस्तित्व देखने को मिलता है। गांवों के ऊपर अनेक गांवों का समूह या संगठन 'विष' कहलाता था जिसका अधिकारी 'विषपति' कहा जाता था। अनेक विष मिलकर 'जन' की रचना करते थे। जन के प्रधान अधिकारी को 'गोप' कहते थे।

मनु स्मृति के अनुसार गांव के अधिकारी को 'ग्रामिक' कहते थे तथा गांवों का सबसे बड़ा अधिकारी सहस्रपति होता था, जिसके अधीन लगभग एक हजार गांव होते थे। उस समय स्थानीय कार्यकलाप यथा प्रशासन व न्याय सुव्यवस्थित समितियों या पंचायतों के द्वारा राज्य के आदेश से प्रशासित होता था। इस समय के शिलालेख बताते हैं कि स्थानीय समस्याओं को निपटाने के लिए बाग, तालाब तथा स्वर्ण निरीक्षण समितियों का गठन किया जाता था।

1857 ई० में स्वतन्त्रता संग्राम के प्रारम्भ के उपरान्त भारत का शासन प्रबन्ध ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर सीधे ब्रिटिश महारानी के हाथों में आ गया। अब भारतीय प्रशासन सीधे ब्रिटिश सरकार के अधीन होने के कारण स्वायत्त शासन संस्थाओं के विकास का मार्ग भी खुल गया। इसके अतिरिक्त आर्थिक कारणों एवं अन्य भौतिक आवश्यकताओं से विवश होकर अंग्रेजों को भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहन देना पड़ा। 1861 ई० में बंगाल में हैजे का प्रकोप हुआ, जिसका उपचार जनता के सहयोग के बिना असम्भव था। इसलिए 1861 ई० में इण्डिया कौंसिल एक्ट पारित करके ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रशासन में स्वायत्त शासन को प्रोत्साहित किया। आगे चलकर 'टाऊन इम्प्रुवमेंट एक्ट' तथा 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एक्ट' भी पारित किये गये।

1870 ई० में लार्ड मेयो के द्वारा शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के माध्यम से भारतीय जनता को प्रशासन से सम्बद्ध करने का प्रस्ताव पारित किया गया। यह ग्रामीण क्षेत्रों में स्वायत्त शासन की संस्थाएं स्थापित करने का प्रथम

प्रयास था। इसका उद्देश्य प्रशासनिक क्षमता को बढ़ाना तथा वित्तीय साधन जुटाना था। इस प्रस्ताव को ध्यान में रखकर केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा, चिकित्सा सेवाओं, सड़कों के रख-रखाव और निर्माण आदि का काम प्रान्तीय सरकारों को हस्तान्तरित करने तथा इस हेतु उन्हें अनुदान देने का निर्णय किया। इस प्रकार 1871 ई० के अधिनियम के अनुसार बम्बई, बंगाल, पंजाब व उत्तर पश्चिमी प्रान्तों में मयों के प्रस्ताव के बाद स्थानीय स्वायत्त प्रशासनों की स्थापना हुई। इन अधिनियमों के प्रावधानों के अनुसार सेस को कानूनी दर्जा दिया गया था तथा व्यय को बढ़ाने के लिए उन्हें बढ़ाया भी जा सकता था। इसमें जिला समिति के गठन की व्यवस्था तथा सरकारी एवं गैर-सरकारी सभी सदस्यों के मनोनयन आदि का उल्लेख था। जिला समिति का अध्यक्ष सरकारी व्यक्ति को बनाने का प्रावधान था। लेकिन यह लोकप्रिय पंचायतों की स्थापना नहीं कर सका, क्योंकि इसमें जन प्रतिनिधियों का प्रतिनिधित्व न के बराबर था।

स्वायत्त शासन की संस्थाएं स्थापित करने में 1882 ई० का लार्ड रिपन का प्रस्ताव मील का पत्थर सिद्ध हुआ। लार्ड रिपन चाहते थे कि सभी स्थानीय संस्थाओं में गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रहे और इनको अपने-अपने क्षेत्र में काम करने के लिए कुछ स्वायत्तता भी प्राप्त हो। इस उद्देश्य से प्रत्येक जिले में दो स्वशासित संथाओं की व्यवस्था की गयी। जिला स्तर पर जिला बोर्ड तथा तहसील स्तर पर तहसील बोर्ड। लार्ड रिपन के इस प्रस्ताव को तत्कालीन नौकरशाही ने सुरुचिपूर्ण नहीं पाया, जिसके कारण यह पूर्ण रूप से क्रियान्वित नहीं हो सका। नतीजा यह हुआ कि सरकारी अधिकारी ही बोर्डों के अध्यक्ष बनाये गये।

1907 ई० में चार्ल्स हॉबहाऊस की अध्यक्षता में शाही विकेन्द्रीकरण आयोग का गठन किया गया। आयोग ने आम राय जानने के बाद पाया कि लोग विकेन्द्रीकरण चाहते हैं और वे सरकारी अधिकारियों के वर्चस्व से खिन्न हैं। आयोग ने स्वायत्त शासन के संस्थाओं का प्रारम्भ जिला स्तर के स्थान पर ग्राम स्तर से करने पर बल दिया। इस बात को महसूस करते हुए कि वित्तीय साधनों के अभाव में कार्य सौंपने का कोई अर्थ नहीं है। आयोग ने पंचायतों की वित्तीय स्थिति सुधारने और उनके लिए आय के साधन जुटाने हेतु निम्न सुझाव दिये-

1. भूमिकर जो जिला बोर्डों द्वारा लगाया जाता है का एक हिस्सा ग्राम पंचायतों को दिया जाय।
2. जिला बोर्डों व जिलाधीश द्वारा स्थानीय सुधार के लिए विशेष अनुदान दिया जाय।
3. उन मुकदमों की फीस मामूली रखी जाय जिनकी सुनवाई पंचायतें करें।

लेकिन आयोग द्वारा प्रस्तुत सिफारिशों का नतीजा कुछ नहीं निकला। इसलिए 13 मार्च 1912 को गोखले ने कहा कि जिला प्रशासन वहीं का वहीं है, जहाँ वह सौ साल पहले था तथा स्वायत्त शासन की संस्थाएं भी वहीं की वहीं हैं, जहाँ वे 30 साल पहले लार्ड रिपन के समय में थीं।

यह ब्रिटिश राज के विरुद्ध जन आन्दोलन का दौर था। देश में पैदा हुई राजनीतिक जागृति के कारण 1917 में ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न स्तरों पर भारतीयों को भागीदारी देने तथा पंचायतों को कारगर व सशक्त बनाने का एलान किया। इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ब्रिटिश सरकार ने 1919 के भारत सरकार अधिनियम में पंचायतों के गठन का दायित्व प्रान्तीय सरकारों को सौंपा। माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड आयोग की संस्तृतियों के उपरान्त ग्राम्य क्षेत्र के स्वायत्त शासन में क्षेत्रीय जनता को सक्रिय रूप से भागीदार बनाने के दृष्टि से उत्तर प्रदेश में यूनाइटेड प्राविन्शियल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एक्ट 1922 लागू किया गया। इस अधिनियम के द्वारा निर्धारित संख्या में जनपद के ग्रामीण क्षेत्र से चुने हुए प्रतिनिधियों और उनके द्वारा चुने हुए प्रेसीडेंट को एक्ट के प्रावधानों के अनुसार विभिन्न क्रियाकलापों और नीति निर्धारित तथा क्रियान्वित करने का दायित्व सौंपा गया। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एक्ट में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एक्ट के दायित्व तथा उन कृत्यों का विवेचन था जो जिला बोर्ड के विवेक पर आधारित थे। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के कार्य क्षेत्र में जूनियर बेसिक व सीनियर बेसिक विद्यालयों का पूरा प्रबन्ध, ग्राम्य क्षेत्र के चिकित्सालयों एवं औषाधलयों का प्रबन्ध, ग्राम्य क्षेत्र के पशु चिकित्सालयों का प्रबन्ध, ग्राम्य क्षेत्र के अधिकांश सड़कों का रख-

रखाव आदि प्रमुख था। ग्रामीण क्षेत्र में बिमारियों की रोकथाम हेतु टीकाकरण डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा ही कराया जाता था। इस प्रकार ग्राम्य क्षेत्र के सार्वजनिक जीवन में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अपनी महत्वपूर्ण सेवा अर्पित करता था। भारत शासन अधिनियम 1935 ई० द्वारा प्रान्तीय स्वायत्तता स्थापित की गई। राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास से भारत में स्थानीय शासन का स्वरूप बदला। अब स्थानीय शासन एक प्रयोग की अपेक्षा सम्पूर्ण स्वशासन का एक अभिन्न अंग बन गया।

11.2.2 स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जिला पंचायत

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नवनिर्मित संविधान में पंचायतों को स्थान देने को लेकर डॉ० भीम राव अम्बेडकर ने प्रबल विरोध जताया, लेकिन अन्य सदस्यों के परामर्श पर अन्ततः इसे संविधान में स्थान दिया गया। संविधान निर्मात्री सभा के अनुभव के अनुसार देश के 05 लाख 75 हजार गांवों का शासन दिल्ली (केन्द्र) से कर पाना सम्भव नहीं था। इसलिए लोकतान्त्रिक शासन को सफल व सुदृढ़ बनाने के लिए प्रशासनिक कार्यों के विकेन्द्रीकरण पर बल दिया। नवनिर्मित संविधान के प्रवर्तित होने के पश्चात स्थानीय स्वशासन को राज्य-सूची का विषय घोषित किया गया।

संविधान के अनुच्छेद- 40 में राज्य के नीति निदेशक तत्वों के तहत पंचायतों को स्थान दिये जाने के बाद भी इनका विकास सन्तोषजनक नहीं था। सरकार द्वारा 1952 में शुरू किया गया 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' तथा 1953 में 'राष्ट्रीय प्रसार सेवा' के परिणाम भी सन्तोषजनक नहीं थे। इसलिए 1956 में बलवन्त राय मेहता समिति का गठन भारत सरकार ने किया। समिति ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि तत्कालीन स्थानीय संस्थाएं कार्य कर सकती हैं अथवा नहीं, यदि नहीं तो कौन सी नयी संस्थाएं किस क्षेत्र, किन शक्तियों और साधनों के साथ निर्मित की जायें। तत्कालीन जिला बोर्डों के अध्ययन करते हुए समिति ने उनकी अयोग्यताओं पर प्रकाश डाला। जिला बोर्ड उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर रहे थे जिनके लिए उनको स्थापित किया गया था। उन्हें लोगों को स्वशासन की शिक्षा देनी चाहिए थी लेकिन यह उनकी परम्परा नहीं रही, क्योंकि उनके पास ऐसे साधन नहीं थे। उन्हें कार्य तो सौंप दिया गया था लेकिन उन्हें इतना साधन सम्पन्न नहीं किया गया था, जिससे वे अपनी समस्याओं पर पूरा ध्यान दे सकें। अध्यक्ष व सदस्य इस स्थिति में नहीं थे कि वे तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने के लिए समय दे सकें। वे अधिकांश कार्यों को अधिकारियों पर छोड़ने के लिए बाध्य थे। राज्यों की प्रवृत्ति भी जिला बोर्डों से कार्य वापस लेने की रही, क्योंकि वहाँ दोहरे शासन की स्थिति पायी जाती थी।

समिति ने प्राथमिक शिक्षा को जिला बोर्ड को देने के विचार को भी पसन्द नहीं किया, क्योंकि वे स्वयं सरकार पर निर्भर थे। इसलिए वे उनकी समस्याओं पर बहुत कम ध्यान देते थे। पंचायतों को भी जिला बोर्डों से जोड़ने का विचार श्रेयस्कर नहीं था। समिति के अनुसार पंचायतों को जिला बोर्ड से सीधे जोड़ना न तो सरल होगा, न सुविधाजनक और न ही व्यवहारिक। बहुत से राज्यों में एक जिले में कई सौ ग्राम पंचायतें हैं और उनमें से कई का क्षेत्र बहुत बड़ा है। उनकी बड़ी संख्या भी असुविधानक है। ऐसी स्थिति में जिला बोर्ड और पंचायतों के बीच सामंजस्य नहीं हो सकता है।

जिला परिषद में जिले के सभी पंचायत समितियों के अध्यक्ष, सांसद, विधायक, चिकित्सा, लोक स्वास्थ्य, कृषि, पशु चिकित्सा, अभियन्त्रण, शिक्षा, पिछड़े वर्ग का कल्याण, सार्वजनिक निर्माण तथा अन्य विकास विभागों के जिला स्तरीय अधिकारी सदस्य के रूप में सम्मिलित होने चाहिए। समिति का मानना था कि जिला परिषद के कार्य प्रशासनिक नहीं होने चाहिए, क्योंकि इससे अन्य स्थानीय संस्थाओं यथा ग्राम पंचायत और क्षेत्र पंचायत के कार्य करने की स्वतन्त्रता का हनन होगा। जिला परिषद पंचायत समितियों के बजट की जांच करेगी और उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करेगी तथा पंचायत समितियों के गतिविधियों की सामान्य निगरानी करेगी।

बलवन्त राय मेहता समिति की संस्तुतियों और सिफारिशों को केन्द्रीय सरकार और राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात स्वीकार कर लिया गया और राज्य सरकारों को उनकी अनुशंसाओं के आधार पर पंचायती राज की स्थापना करने का निर्देश दे दिया गया। जिसके आलोक में उत्तर प्रदेशविधान सभा के द्वारा उत्तर प्रदेशपंचायत समिति तथा जिला परिषद अधिनियम 1961, पारित किया गया। यहीं से जिला परिषद ने एक संवैधानिक निकाय के रूप में अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया। इस अधिनियम के अनुसार ग्राम सभा, क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद इकाईयों को एक सूत्र में बांधा गया। यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात पंचायती राज संस्थाओं का महत्वपूर्ण ढाँचा अस्तित्व में लाया गया, किन्तु व्यवहार में इसकी प्रभावशीलता सीमित रही और पंचायती राज की उपयोगिता नगण्य प्रतीत होने लगी।

अतः पंचायती राज संस्थाओं को पुनर्जीवित करने और उन्हें सुदृढ़ बनाने हेतु केन्द्र सरकार ने दिसम्बर 1977 में अशोक मेहता के नेतृत्व एक 13 सदस्यीय समिति का गठन किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट 1978 में सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की। जिसमें पंचायत के द्विस्तरीय, जिला स्तर पर जिला परिषद तथा निम्न स्तर पर मण्डल पंचायत स्थापित करने का सुझाव दिया गया था। समिति का मानना था कि राज्य स्तर के नीचे विकेन्द्रीकरण का आधार जनपद को बनाया जाय, क्योंकि इस स्तर पर ही नियोजन, विकास कार्यक्रमों में समन्वय, मार्ग दर्शन एवं तकनीकी क्षमता सम्पन्न प्रबन्धन उपलब्ध हैं। पंचायती राज संस्थाओं में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को उनकी जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाय। जिला परिषद के अध्यक्ष का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होना चाहिए तथा इसका कार्यकाल 04 वर्ष होना चाहिए। समिति का सुझाव था कि जिला परिषद में छः प्रकार के सदस्य होने चाहिए। जिला पंचायत निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचित सदस्य, पंचायत समितियों के प्रमुख, नगरपालिकाओं के निर्दिष्ट व्यक्ति, दो महिलाएं, तथा दो अनुमेलित सदस्य, जिसमें एक ग्रामीण विकास में रुचि रखने वाला तथा दूसरा कालेज या विश्वविद्यालय का अध्यापक हो। जिला परिषद अपने दायित्वों का निर्वहन करने के लिए विभिन्न समितियों का गठन करेगी। जिला परिषद के सभी सदस्यों तथा जनपद के सभी सांसदों व विधायकों को मिलाकर योजना निर्माण एवं सामाजिक समीक्षा के लिए जिला स्तर पर नियोजन समिति का गठन किया जायेगा।

अशोक मेहता समिति की सिफारिशों को लागू करने के लिए विभिन्न राज्यों के राय को जानने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने राज्यों के मुख्यमन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया। जिसमें अधिकांश राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों ने अशोक मेहता समिति के सिफारिशों पर असहमति प्रकट की। इसलिए केन्द्रीय स्तर पर समिति के सिफारिशों पर कोई कार्यवाही नहीं की गयी लेकिन तीन राज्यों- पश्चिम बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक ने अपने-अपने राज्यों में पंचायती राज को सुदृढ़ बनाने हेतु कदम उठाये। जिसमें जिला परिषद को अति महत्वपूर्ण स्तर पर रखा गया।

1985 ई० में जी०वी०के० राव की अध्यक्षता में ग्रामीण विकास एवं गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम के लिए प्रशासनिक प्रबन्ध पर एक समिति बनायी गयी। समिति द्वारा स्थानीय स्तर पर राज्य की शक्तियों को हस्तान्तरित करने की सिफारिश की गयी। इसने जिला परिषद को प्रमुख निकाय बनाने की अनुशंसा करते हुए कहा कि जिला परिषद को जिले स्तर पर नीति निर्धारण और कार्यान्वयन का पूर्ण दायित्व दिया जाना चाहिए। जिससे जिले स्तर के सभी प्रकार के विकास योजनाओं का क्रियान्वयन आसानी से हो सके।

1988 ई० में कार्मिक लोक सेवा संघ एवं पेंशन मन्त्रालय के तत्वाधान में पी०के० थुंगन की अध्यक्षता में जिला नियोजन के प्रशासकीय-तन्त्र के बारे में सुझाव देने के लिए एक उप-संसदीय समिति गठित की गयी। इस समिति की प्रमुख संस्तुतिया थीं-

- पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा मिले।

- योजना एवं विकास का दायित्व जिला परिषद को दिया जाय।
- सांसद व विधायक जिला परिषद से सम्बन्धित हों।
- अनुसूचित जाति, जनजाति एवं महिलाओं को पंचायत राज में यथोचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।
- पंचायत संस्थाओं से सम्बन्धित व्यक्तियों को प्रशिक्षण दिया जाय।
- पंचायत संस्थाओं का कार्यकाल पांच वर्ष का हो।

पी0के0 थुंगन उपसमिति के सिफारिशों के पश्चात 27 जनवरी से 30 जनवरी 1989 तक दिल्ली में चार दिवसीय सम्मेलन आयोजित किया गया। जिसमें उत्तरी एवं पश्चिमी राज्यों के पंचायत राज प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि जिला विकास जैसी संस्थाओं को जिला परिषद के अधीन कार्य करना चाहिए। पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिए वेतन भत्ता आदि की व्यवस्था की जाय। इन संस्थाओं को अधिक शक्तियां दे दी जाय और जो शक्ति जिला, ब्लाक एवं गांव स्तर की संस्थाओं को दी जाय, उन्हें किसी तरह से समाप्त न की जाय और न ही वापस ली जाय। 1989 में पंचायत संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान करने के उद्देश्य से प्रधानमन्त्री राजीव गांधी के काल में 64वां संविधान संसोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया था। जिसमें 20 लाख से अधिक आबादी वाले राज्यों तथा संघ शासित प्रदेशों में त्रिस्तरीय (ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत तथा जिला पंचायत) व्यवस्था का प्रावधान था। सभी स्तरों पर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था थी। इसका चुनाव केन्द्रीय निर्वाचन आयोग के देखरेख कराने की व्यवस्था थी। यह प्रस्ताव लोकसभा में तो पारित हो गया, लेकिन राज्य सभा ने इसे अस्वीकृत कर दिया। अतः यह प्रयास विफल हो गया।

1990 में गठित हरलाल सिंह खर्चा समिति ने ग्रामीण सुविधाओं और आवश्यकताओं से जुड़े सभी प्रशासनिक मामलों विशेषकर शिक्षा, आयुर्वेद, स्वास्थ्य, हैण्डपम्प आदि में पंचायती राज संस्थाओं का नियन्त्रण आवश्यक बताया। जिला परिषदों एवं जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के विलय का प्रस्ताव भी समिति ने किया। आर्थिक सुदृढ़ता स्थापित करने के लिए समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को दी जाने वाली प्रति व्यक्ति राजकीय सहायता में वृद्धि करने की भी संस्तुति की।

सन् 1991 में प्रधानमन्त्री पी0बी0 नरसिम्हा राव ने 64वें संविधान संसोधन की खामियों को दूर करते हुए पंचायती राज संस्थाओं को उपयोगी और गतिशील बनाने हेतु एक नया संसोधन विधेयक लाने का फैसला किया। 24 अप्रैल 1993 को यह संसोधन प्रस्ताव राष्ट्रपति की संस्तुति प्राप्त कर लिया। इसके द्वारा भी पंचायतों के त्रिस्तरीय ढाँचे को स्वीकृति प्रदान की गयी, लेकिन उन राज्यों के लिए जिनकी 20 लाख से कम थी यह ढाँचा बाध्यकारी नहीं था। इसके द्वारा पंचायत संस्थाओं के प्रत्येक स्तर पर अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण का प्रावधान किया गया। प्रत्येक स्तर पर एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिए भी आरक्षित किये गये। इनका चुनाव प्रत्येक पांच वर्ष के उपरान्त कराने का प्रावधान किया गया। यदि किन्हीं परिस्थितियों में इनको भंग किया जाता है तो अधिकतम छः माह के भीतर अनिवार्य रूप से चुनाव कराना निश्चित किया गया।

संविधान के 73वें संसोधन के अनुक्रम में उत्तर प्रदेश पंचायत विधि (संसोधन) विधेयक 1994 से प्रदेश में प्रवृत्त हुआ। जिसमें संयुक्त प्रान्त पंचायत राज अधिनियम 1947 तथा उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद अधिनियम 1961 में संसोधन कर राज्य की तीनों स्तर की पंचायतों में एकरूपता लाने, पंचायतों (ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और जिला पंचायत) का संगठन, संरचना, अनुसूचित जाति, जनजाति, महिलाओं और पिछड़े-वर्ग के लिए आरक्षण, पंचायतों का निश्चित कार्यकाल, निर्वाचन आयोग तथा वित्त आयोग की स्थापना, पंचायतों के

कृत्य, शक्तियां और उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में व्यापक व्यवस्था की गयी। उत्तर प्रदेश से अलग उत्तराखण्ड राज्य के निर्माण के पश्चात उत्तराखण्ड संशोधन अधिनियम संख्या- 08, में सन् 2002 द्वारा व्यवस्था की गयी कि उत्तर प्रदेश पंचायती राज अधिनियम 1947 तथा क्षेत्र पंचायत व जिला परिषद अधिनियम 1961 में जहाँ-जहाँ उत्तर प्रदेश आया है, वहाँ उत्तराखण्ड पढा जायेगा।

11.3 जिला पंचायत की संरचना

उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति तथा जिला परिषद अधिनियम 1961 में उत्तर प्रदेश अधिनियम संख्या- 9, सन् 1994 के द्वारा किये गये संशोधन के उपरान्त जिला पंचायत की संरचना जिले के समस्त क्षेत्र पंचायत प्रमुख, निर्वाचित सदस्य जो जिला पंचायत के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते हैं, जो लगभग 50 हजार की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। राज्य सरकार नैनीताल, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, टिहरी, पौड़ी, देहरादून, चमोली या उत्तरकाशी के पर्वतीय जिलों में उसके द्वारा निर्मित विनिर्दिष्ट ग्राम केन्द्र से एक किमी के अर्द्धव्यास (चौदह किमी के व्यास) के भीतर के क्षेत्र या उसके बराबर के किसी क्षेत्र को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र घोषित कर सकती है। भले ही इसकी जनसंख्या 50 हजार से कम हो। लोक सभा और राज्य विधान सभा के सदस्य जिनका निर्वाचन क्षेत्र जिला पंचायत में समाविष्ट हो तथा राज्य सभा और विधान परिषद के ऐसे सदस्य जो जिला पंचायत क्षेत्र के भीतर निर्वाचक के रूप में रजिस्ट्रीकृत हो से मिलकर होती है। इन सदस्यों को जिला पंचायत के कार्यवाहियों में भाग लेने और बैठकों में मत देने का अधिकार तो होता है, लेकिन जिला पंचायत अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के निर्वाचन व उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव में केवल निर्वाचित सदस्यों को ही मत देने का अधिकार होता है।

जिला पंचायत में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था उनके जनसंख्या के अनुपात में की गयी है, लेकिन प्रतिबन्ध यह है कि पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित सीटें 27 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। कुल स्थानों का एक तिहाई महिलाओं के लिए आरक्षित होता है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित स्थानों में भी एक तिहाई स्थान उन वर्गों की स्त्रियों के लिए आरक्षित होता है।

जिला पंचायत के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अपने में से एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव किया जाता है। जिला पंचायत अध्यक्षों के पद भी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित होते हैं। कुल स्थानों जिसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित स्थान भी शामिल हैं, में से एक तिहाई स्थान स्त्रियों के लिए आरक्षित होते हैं।

जिला पंचायत के द्वारा अपने दायित्वों का उचित रूप में निर्वहन करने के लिए कार्य समिति, वित्त समिति, शिक्षा एवं जनस्वास्थ्य समिति, कृषि, उद्योग एवं निर्माण समिति तथा समता समिति आदि का गठन किया जाता है। इसके अतिरिक्त जिला पंचायत के द्वारा समय-समय पर आवश्यकतानुसार अधिनियम के अधीन रहते हुए अन्य समितियां भी नियुक्त कर सकती है।

11.4 जिला पंचायत राज्य सरकार और कर्मचारीगण

73वें संविधान संशोधन के व्यवस्थाओं के अनुरूप जिला पंचायत को प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की धुरी मानते हुए अधिकारों का प्रत्यायोजन किया गया है। इसके मूल में यह कल्पना रही है कि इससे प्रशासकीय क्षमता बढ़ाने, नागरिकों में स्थानीय समस्याओं के प्रति रुचि पैदा करने तथा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में आसानी होगी। इसलिए स्थानीय स्तर (जिले स्तर) की समस्याओं का समाधान उन्हीं के द्वारा किया जाना चाहिए, क्योंकि स्थानीय लोगों को क्षेत्रीय समस्याओं की अधिक जानकारी और अनुभव होता है। लेकिन राज्य सरकार को यह

अधिकार प्राप्त है कि जिला पंचायत या उसके किसी समिति के कार्य सम्पादन में कोई चूक पाती है तो वह उसे पूर्ण करने के लिए एक समय-सीमा निर्धारित कर सकती है। यदि उस समय सीमा के भीतर जिला पंचायत उसे पूर्ण नहीं करती है तो राज्य सरकार जिला मजिस्ट्रेट या किसी अन्य प्राधिकारी को उस कार्य के सम्पादन का दायित्व सौंप सकती है। उस कार्य पर होने वाला खर्च जिला पंचायत के द्वारा ही चुकाया जाता है।

राज्य सरकार द्वारा जिला पंचायत के किसी सदस्य को भी उसके पद से हटाया जा सकता है, यदि उसने जिला पंचायत सदस्य के रूप में कहीं चर्चा में भाग लेकर या मत देकर अपना कोई निजी हित अथवा किसी को व्यवसायिक लाभ पहुँचाया है। इसके अतिरिक्त शारिरिक या मानसिक दृष्टि से अक्षम साबित होने या अपने पांच वर्ष के कार्यकाल या पूर्ववर्ती अवधि में उसके किसी ऐसे कृत्य के लिए जिससे जिला पंचायत को क्षति पहुँची हो तो उसके पद से हटा सकती है। लेकिन ऐसा करने से पूर्व वह सदस्य को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर अवश्य देती है।

किसी समय राज्य सरकार को यह प्रतीत या विश्वास हो जाय कि जिला पंचायत ने राज्य सरकार के आदेशों या अधिनियम द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का पालन करने में शिथिलता बरती है या चूक की है या अपने अधिकारों का अतिक्रमण या दुरुपयोग किया है तो वह उससे स्पष्टीकरण मांग सकती है। विचारोपरान्त यदि स्पष्ट हो जाय कि जिला पंचायत को विघटित करना आवश्यक है तो राज्य सरकार जिला पंचायत को विघटित कर सकती है। इसके उपरान्त राज्य सरकार किसी एक या एक से अधिक व्यक्तियों को जिला पंचायत के अधिकारों तथा कर्तव्यों के सम्पादन हेतु नियुक्त कर सकती है। परन्तु विघटन के दिनांक से छः माह के भीतर निर्धारित रीति से निर्वाचन कराना आवश्यक होता है।

जिला पंचायत तथा जिलाधिकारी के मध्य कैसा सम्बन्ध हो, यह पंचायती राज व्यवस्था के अन्तर्गत एक जटिल प्रश्न है एक जले की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था है तो दूसरा जिले का सर्वोच्च सरकारी प्रतिनिधि या प्रशासनिक अधिकारी। इसलिए प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के समय यह प्रश्न उठा कि जिलाधीश की शक्तियों और प्रभावों को जिला पंचायत में क्या रूप दिया जाय। पंचायत व्यवस्था पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम गठित बलवन्त राय मेहता समिति की राय थी कि जिलाधीश जिले के विकास विभागों के अधिकारियों का कप्तान होगा और योजनाओं के निर्माण और कार्यान्वयन के आवश्यक समन्वय का उत्तरदायी होगा। समिति ने जिलाधीश को जिला पंचायत का चेयरमैन बनाये जाने की बात भी कही थी। किन्तु उसकी इस संस्तुति का अधिकांश राज्यों ने अपने-अपने ढंग से प्रयोग किया। उत्तर प्रदेश तथा उत्तराखण्ड में जिलाधिकारी को जिला पंचायत तथा उसकी समितियों के बैठकों में सम्मिलित होने का अधिकार है, वह इस बैठकों के विचार-विमर्श में भाग ले सकता है, किन्तु उसे मतदान का अधिकार नहीं है।

जिलाधिकारी राज्य सरकार की ओर से जिला पंचायत को निर्देश देता है। जिला पंचायत या उसकी किसी समिति द्वारा प्रयुक्त या अध्यासित किसी चल सम्पत्ति अथवा उसके निर्देशाधीन किये जाने वाले किसी कार्य का निरीक्षण कर सकता है या करा सकता है। समय-समय पर समुचित नोटिस के पश्चात जिला पंचायत के नियोजन तथा विवरण विषयक बजट अनुदान से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा करने के लिए बैठक बुला सकता है, जिसमें वह स्वयं अध्यक्ष तथा अधिकारी होगा। वह राज्य सरकार को कार्यों के विवरण की त्रैमासिक प्रगति प्रतिवेदन भेजता है।

जिला पंचायत जिले के मुख्य प्रतिनिधि संस्था होने के कारण जिले के अन्य अधिकारियों से भी जुड़ी होती है। जिला पंचायत के सदस्यों तथा अध्यक्ष का इन अधिकारियों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध हो यह भी एक महत्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु है कि जिला पंचायत को उसके कार्यों में सहयोग देने के लिए अपर जिला मजिस्ट्रेट (नियोजन) या जिला नियोजन अधिकारी, जिला स्वास्थ्य अधिकारी, विद्यालय उपनिरीक्षक, जिला पंचायत राज अधिकारी, सहायक अभियन्ता (लघु सिंचाई) जिला पशुधन अधिकारी, जिला कृषि अधिकारी, जिला सहायक

निबन्धक क्रमशः जिला पंचायत के अधीन मुख्य अधिकारी, स्वास्थ्य अधिकारी, शिक्षा अधिकारी, पंचायत राज अधिकारी, सिंचाई अधिकारी, पशुधन अधिकारी, कृषि अधिकारी और सहकारिता अधिकारी के पद धारण करेंगे। अपर जिला मजिस्ट्रेट (नियोजन) अथवा जिला नियोजन अधिकारी जिला पंचायत का मुख्य अधिकारी होता है। जिला पंचायत के कार्यों में वृद्धि तथा मुख्य अधिकारों के दायित्वों के निर्वहन में सहयोग देने तथा जिला पंचायत कार्यालय के अन्तर्गत कार्यरत कर्मचारियों को नियन्त्रित करने के लिए एक अतिरिक्त मुख्य अधिकारी का पद सृजित है। जिला पंचायत का मुख्य अधिकारी जिले का विकास अधिकारी भी होता है, जिससे उसका कार्यभार बढ़ जाता है। जिससे वह जिला पंचायत के कार्यों में पर्याप्त समय नहीं दे पाता है। इसलिए वर्तमान में जिला पंचायत के मुख्य अधिकारी के प्रत्येक अधिकार का प्रयोग अतिरिक्त मुख्य अधिकारी ही करता है।

11.5 जिला पंचायत की वित्तीय व्यवस्था

जिला पंचायत (जिला बोर्ड) की स्थापना यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ही कर दी गयी थी, लेकिन प्रारम्भ से ही इनकी वित्तीय व्यवस्था बहुत सुदृढ़ नहीं रही। जिसके कारण सन् 1935 में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने स्थानीय निकायों के अधिवेशन में इन संस्थाओं की शोचनीय दशा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि “ऐसा कहा जाता है कि मताधिकार व्यापक कर दिया गया है और स्थानीय निकायों को विस्तृत अधिकार दे दिये गये हैं। यह सच है और मैं इसे स्वीकार करता हूँ, पर जब तक स्थानीय निकायों की वित्तीय स्थिति का पहले बन्दोबस्त नहीं होगा तब तक इन उपायों से क्या लाभ मिलेगा, मताधिकार की व्यापकता तथा कृत्यों के विस्तार से वही स्थिति होगी, जैसी एक मृत व्यक्ति को परिधान पहनाने से होती है।”

प्रत्येक जिला पंचायत के अधिकारों एवं कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए जिला पंचायत निधि की स्थापना की गयी है। जिसमें जिला पंचायत या उसकी ओर से प्राप्त की गयी सभी धनराशियाँ या राज्य की संचित निधि से प्राप्त अनुदान सहित सभी ऋण जमा किये जाते हैं। जिला पंचायत नकद अथवा वस्तु के रूप में ऐसा अशुद्धान स्वीकार कर सकती है जो किसी व्यक्ति या संस्था द्वारा किसी सार्वजनिक उपयोग के लिए दिया जाय। जिला पंचायत के वित्तीय व्यवस्था के दो तरह के स्रोत देखने को मिलते हैं- प्रथम राज्य सरकार संचित निधि से दिया जाने वाला अनुदान तथा द्वितीय जिला पंचायत द्वारा लगाया जाने वाला कर। जिला पंचायत आय के प्रमुख स्रोत- विभव एवं सम्पत्ति पर कर, सम्पत्ति से आय, घाटों से प्राप्त आय, कांजी हाउस से प्राप्त आय, मेलों तथा प्रदर्शनियों से आय, पशु बाजार से आय, दुकानों के लाइसेंस, ईट-भट्टे के लाइसेंस, आटा, तेल, धान, रूई, दाल, आदि मशीनों का लाइसेंस, पशु वधशाला पर लाइसेंस, हड्डी, चमड़ा खुर, सींग के लाइसेंस पर शुल्क आदि हैं।

11.6 जिला पंचायत के कार्य(अधिकार) और दायित्व

नये अधिनियम के तहत जिला पंचायत को प्रभावी एवं सशक्त बनाने के दृष्टिकोण से निम्नलिखित अधिकार एवं कार्य सौंपे गये हैं-

11.6.1 जिला पंचायत के कार्य(अधिकार)

1. कृषि उत्पादन बढ़ाने के उपायों की अभिवृद्धि, गोदामों की स्थापना और उनका अनुरक्षण करना।
2. सरकार द्वारा सौंपे गये भूमि सुधार, भूमि संरक्षण तथा चकबन्दी कार्यक्रमों की योजनाओं का कार्यान्वयन।
3. लघु सिंचाई और अन्तरखण्ड जल परियोजनाओं का निर्माण और अनुरक्षण, जल वितरण का प्रबन्ध, भूमिगत जल का विकास और जलाच्छादन का विकास करना।
4. पशुपालन और पशु चिकित्सा सेवाओं की स्थापना और अनुरक्षण, नस्लों का सुधार, दुग्ध उद्योग, कुक्कुट पालन तथा सूअर पालन की प्रोन्नति करना।
5. सिंचाई कार्यों में मत्स्य पालन का विकास तथा मछुआरा कल्याण कार्यक्रमों का कार्यान्वयन।

6. सामाजिक और फार्मवानीकी, ईंधन, वृक्षारोपण और रेशम उत्पादन की प्रोन्नति तथा बंजर भूमि का विकास करना।
7. लघु वन उत्पाद के कार्यक्रमों की प्रोन्नति और उनका क्रियान्वयन करना।
8. लघु उद्योग और खाद्य प्रसंस्करण इकाई की प्रोन्नति करना।
9. ग्रामीण और कुटीर उद्योग में प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना एवं अनुरक्षण तथा जिला स्तर पर पंचायत उद्योगों की स्थापना करना।
10. ग्रामीण आवास कार्यक्रमों की प्रोन्नति और विकास, अनावासीय क्षेत्र में ग्रामीण आवास का कार्यान्वयन, सामुदायिक केन्द्रों और विश्राम गृहों का निर्माण, ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों द्वारा किये गये ग्रामीण आवास कार्य का अनुश्रवण करना।
11. सार्वजनिक प्रयोग के लिए पीने के पानी का अनुरक्षण तथा जल प्रदूषण की रोकथाम और नियन्त्रण करना।
12. ईंधन और चारा कार्यक्रमों का अनुश्रवण और विकास, ईंधन और चाराक्षेत्र के लिए पौधों का अनुरक्षण और विकास तथा ग्राम पंचायतों एवं क्षेत्र पंचायतों द्वारा विनियमित किये गये कार्यक्रमों का अनुश्रवण करना।
13. जिले की ग्रामीण सड़कों, पुलियों, पुलों और जल मार्गों का विकास और अनुरक्षण, नदी के किनारों का अनुरक्षण सड़क पर दिशाओं और चिन्हों को अंकित करना तथा सड़कों और सार्वजनिक स्थानों पर अतिक्रमण हटाने में मदद करना।
14. ग्रामीण विद्युतीकरण में ग्राम पंचायतों तथा क्षेत्र पंचायतों की सहायता करना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रकाश के वितरण में मदद करना।
15. गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों का विकास तथा ग्राम पंचायतों व क्षेत्र पंचायतों के कार्यक्रमों में सहायता करना।
16. गरीबी उनमुलन कार्यक्रमों की योजना, अनुश्रवण और पर्यवेक्षण करना तथा अन्य विभागों के साथ कार्यक्रमों का समन्वय।
17. प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयों का निर्माण, अनुरक्षण और पर्यवेक्षण, जिले में सभी के लिए शिक्षा उपलब्ध कराना तथा जिले में प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का सर्वेक्षण और पर्यवेक्षण करना।
18. तकनीकी और व्यवसायिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना और उनका अनुश्रवण करना।
19. प्रौढ़ साक्षरता और अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रमों का नियोजन और कार्यान्वयन।
20. खण्ड स्तर और जिले में पुस्तकालयों और वाचनालयों का निर्माण और अनुरक्षण तथा कार्यक्रमों का कार्यान्वयन।
21. सांस्कृतिक क्रियाकलापों की प्रोन्नति, क्षेत्रीय सांस्कृतिक और खेलकूद क्रियाकलापों की प्रोन्नति और पर्यवेक्षण तथा विशेष अवसरों पर लोक सांस्कृतिक क्रियाकलापों की व्यवस्था करना।
22. ग्रामीण बाजारों, मेलों(जिसके अन्तर्गत पशु मेले भी है) का पर्यवेक्षण एवं अनुरक्षण तथा ग्राम पंचायतों एवं क्षेत्र पंचायतों द्वारा किये गये बाजारों और मेलों से सम्बन्धित कार्यों का पर्यवेक्षण और अनुश्रवण करना।
23. महामारियों की रोकथाम और नियन्त्रण में क्षेत्र पंचायतों की सहायता करना और उपयुक्त रूप से वित्त पोषण करना, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और औषद्यालयों की स्थापना, अनुश्रवण और प्रबन्ध तथा पेयजल सुविधाएं उपलब्ध कराना।
24. परिवार कल्याण कार्यक्रमों का कार्यान्वयन, पर्यवेक्षण और अनुश्रवण करना।

25. प्रसूति एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रमों का कार्यान्वयन तथा विद्यालय स्वास्थ्य एवं पोषण कार्यक्रमों की प्रोन्नति करना।
26. समाज कल्याण कार्यक्रमों, जिसके अन्तर्गत विकलांगों और मानसिक रूप से मन्द व्यक्तियों का कल्याण भी है में भाग लेना, वृद्धावस्था और विधवा पेंशन योजनाओं के समाज कल्याण कार्यक्रमों की प्रोन्नति करना।
27. अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और कमजोर वर्गों के कल्याण की प्रोन्नति, ऐसी जातियों का सामाजिक अन्याय और शोषण से संरक्षण, छात्रावासों की स्थापना और प्रबन्ध तथा सामाजिक न्याय के लिए योजना तैयार करना तथा उनका कार्यान्वयन करना।
28. ग्रामीण वस्तुओं के वितरण का नियोजन और अनुश्रवण।
29. विकास योजनाओं का समन्वय और एकीकरण तथा सामुदायिक आस्तियों का परीक्षण और अनुरक्षण करना।
30. आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार करना, क्षेत्र पंचायत की योजनाओं का पुनर्विलोकन, समन्वय और एकीकरण, खण्ड और ग्राम स्तर पर योजनाओं के निष्पादन को सुनिश्चित करना, सफलताओं और लक्ष्यों की नियतकालिक समीक्षा और जिले के भीतर के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में समस्त विषयों पर सामग्री संग्रह करना और आकड़ों का अनुरक्षण करना।
31. दुर्भिक्ष निवारणार्थ निर्माण, मरम्मत और अनुरक्षण, सहायता कार्यों और सहायता गृहों की स्थापना और उनका अनुरक्षण और दुर्भिक्ष और दुष्प्राप्यता के समय ऐसी सहायता की व्यवस्था करना जो आवश्यक समझी जाय तथा निर्धन गृहों, शरणालयों, अनाथालयों, बाजारों और विश्राम गृहों की स्थापना, प्रबन्ध अनुरक्षण और निरीक्षण करना।

11.6.2 जिला पंचायत के दायित्व

1. पूर्व निर्मित अथवा अनिर्मित क्षेत्रों में नयी सार्वजनिक सड़कों का विन्यास तथा तदर्थ एवं उक्त सड़कों से लगे हुए भवनों और अहातों के निर्माणार्थ भूमि अर्जित करना।
2. अस्वास्थ्यकर क्षेत्रों का सुधार करना।
3. स्कूलों की स्थापना तथा अनुरक्षण से भिन्न उपायों द्वारा शैक्षिक उद्देश्यों को आगे बढ़ाना।
4. जनगणना करना और ऐसी सूचना के लिए पारितोषिक देना जिससे जन्म-मरण के आंकड़ों की ठीक-ठीक प्रविष्टि हो सके।
5. ट्राम-पथों, हवाई राज-पथों तथा यातायात के अन्य साधनों का निर्माण, उन्हें आर्थिक सहायता देना या उनके विषय में प्रत्याभूति देना।
6. कोई क्षोभकर, खतरनाक या घृणित व्यापार, व्यवसाय या कार्य करने के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त करना अथवा प्राप्त करने में सहायता देना।
7. अपने क्षेत्राधिकार के भीतर नदियों और जल संभरण के अन्य स्रोतों का संरक्षण तथा उन्हें क्षति पहुँचाए जाने या दूषित अथवा कलुषित होने से बचाना।
8. पर्यटन की उन्नति करना।
9. जिले के भीतर अथवा बाहर कोई ऐसा कार्य करना, जिस पर होने वाला व्यय राज्य सरकार द्वारा या राज्य सरकार की स्वीकृति से जिला पंचायत द्वारा जिला निधि पर उपयुक्त रीति से भारित व्यय घोषित किया गया है।

11.7 ग्रामीण विकास में जिला पंचायत की भूमिका

73वें संविधान संसोधन के उपरान्त प्रायः सभी राज्यों ने जिला पंचायत को प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की धुरी मानते हुए जिले के विकास के लिए सबसे उपयुक्त संस्था माना है। इसलिए वर्तमान में उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड में जिले के ग्रामीण विकास के लिए स्थापित जिला ग्रामीण विकास अभिकरण का अध्यक्ष जिला पंचायत के अध्यक्ष को बनाया गया है। प्रत्येक जिले में जिला नियोजन समिति की स्थापना की गयी है, जिसका प्रमुख जिले का प्रभारी मन्त्री होता है। समिति के द्वारा निर्मित योजनाओं को क्रियान्वित करने में जिला ग्रामीण विकास अभिकरण की भूमिका प्रमुख होती है। इसका अध्यक्ष जिला पंचायत अध्यक्ष के होने के कारण जिले के समस्त विकास सम्बन्धी विभागों पर भी उसका नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

सरकार द्वारा ग्रामीण विकास के लिए संचालित सभी योजनाओं का क्षेत्र पंचायत और ग्राम पंचायत स्तर पर समन्वित और संचालित करने में जिला पंचायत की प्रमुख भूमिका होती है। जिला पंचायत के अधिनियम की अनुसूची-2 के भाग 'क' के अन्तर्गत जिले के 32 विभागों के जिला स्तरीय कार्यों को सम्पादित करने का अधिकार दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त जिला पंचायत अपने सीमित साधनों से जिले में कच्ची व पक्की सड़कों का निर्माण कराता है। किसी क्षोभकर खतरनाक या घृणित व्यापार या कार्य करने के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त करता है या प्राप्त करने में सहयोग देता है। अपने अधिकार क्षेत्र में नदियों तथा अन्य जल स्रोतों का संरक्षण तथा उन्हें दूषित होने से बचाता है। फैक्ट्रियों, स्कूलों तथा सार्वजनिक समागम के अन्य स्थानों के लिए शौचालयों की व्यवस्था करता है।

इसके अतिरिक्त जिला पंचायत द्वारा क्षेत्र पंचायत तथा ग्राम पंचायत के बीच समन्वय स्थापित करने तथा उनकी योजनाओं को स्वीकृति देने का भी कार्य किया जाता है। इस प्रकार कहा जाता है कि जिला पंचायत जहाँ ग्रामीण विकास सम्बन्धी अनेको कार्यों को स्वयं सम्पन्न करती है तो वही तमाम योजनाओं के सम्बन्ध में वह क्षेत्र पंचायत तथा ग्राम पंचायत में समन्वय बनाये रखते हुए उनके माध्यम से संचालित करवाती है। जिससे ग्रामीण विकास की अवधारणा वर्तमान में तेजी के साथ पल्लवित तथा पुष्पित हो रही है। आवश्यकता है जिला पंचायत को और अधिक वित्तीय शक्तियां प्रदान करने की जिससे वह सचमुच जिले के विकास के प्रतिदर्श के रूप में कार्य कर सके।

अभ्यास प्रश्न-

1. मनु स्मृति में गांवों का सबसे बड़ा अधिकारी सहस्रपति के अधीन कितने गांव होते थे?
2. स्वायत्त शासन की संस्थाएं स्थापित करने हेतु लार्ड रिपन द्वारा प्रस्ताव किस सन् में पारित किया गया?
3. उत्तर प्रदेश यूनाइटेड प्राविन्शियल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एक्ट 1922 कब लागू किया गया था?
4. उत्तर प्रदेश में जिला पंचायत को कानूनी रूप से व्यवस्थित करने का श्रेय किस अधिनियम को दिया जाता है?
5. भारत में पंचायती राज संस्थाओं के द्वि-स्तरीय ढाँचे की सिफारिश किस समिति के द्वारा की गयी थी?
6. क्या जिले के सभी क्षेत्र पंचायत प्रमुख भी जिला पंचायत के सदस्य होते हैं?
7. राज्य सरकार की ओर से उसके निर्देश जिला को पंचायत कौन देता है?
8. जिला पंचायत के अधिकारों और दायित्वों का निर्वहन करने के लिए किस निधि की स्थापना की गयी है?

11.8 सारांश

उच्च स्तरीय ग्रामीण संस्थाएं भी भारत में प्राचीन काल से देखने को मिलती हैं। किन्तु अपने वर्तमान स्वरूप में जिला पंचायत (जिला परिषद) क्षेत्र पंचायत एवं जिला पंचायत अधिनियम 1961 के द्वारा अस्तित्व में आयी।

इसका अद्यतन स्वरूप उत्तर प्रदेश पंचायत विधि अधिनियम 1994 एवं उत्तराखण्ड संसोधन अधिनियम संख्या-08, सन् 2002 की देन है। यह जिले में प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की धुरी है। इसलिए इसके कुछ सदस्यों को प्रत्यक्ष रूप से जिला पंचायत क्षेत्र की जनता के द्वारा चुने जाने की व्यवस्था की गयी है। इसके अध्यक्ष को जिला ग्रामीण विकास अभिकरण का अध्यक्ष बनाने के पीछे भी उद्देश्य यही है कि जनता के प्रतिनिधियों को ही जिले के विकास का दायित्व सौंपा जाय।

जिला पंचायत को कुछ वित्तीय शक्तियां भी दी गयी हैं, जिससे व सीमित साधनों की व्यवस्था कर आत्मनिर्भर बन सके। ग्रामीण विकास की योजनाओं को नियन्त्रित व समन्वित करने में भी इसकी भूमिका प्रमुख मानी जाती है। जिला पंचायत मनमाने या निरंकुश तरीके से कार्य न कर सके, इसके लिए इस पर राज्य सरकार के द्वारा आयुक्त एवं जिलाधिकारी के माध्यम से नियन्त्रण भी रखा जाता है। ग्रामीण विकास की योजनाओं को समन्वित व संचालित करने में भी जिला पंचायत की प्रमुख भूमिका होती है। यह अपने सीमित साधनों द्वारा गांवों के साफ-सफाई, नाली, खडन्जा, कच्ची-पक्की सड़क, वृक्षारोपण आपदा प्रबन्धन आदि के कार्यों को भी सम्पन्न करती है। इसके अलावा यह ग्राम योजनाओं को स्वीकृत करने उसके प्रधान, उपप्रधान के त्याग पत्र को स्वीकारने आदि से सम्बन्धित कार्यों को भी करती है। ग्रामीण विकास में जिला पंचायत के सहभागिता को नकारने का काम वर्तमान परिदृश्य में कोई भी नहीं कर सकता है।

11.9 शब्दावली

गणतन्त्रात्मक- जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों का शासन, प्रजातन्त्र- वह शासन व्यवस्था जिसमें जनता की अधिक से अधिक सहभागिता हो, शिलालेख- पत्थर पर अंकित आलेख, भौतिक- सांसारिक जीवन से सम्बन्धित, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड- जिला स्तरीय कार्यकारिणी व्यवस्था, अनुदान- सरकार द्वारा दी जाने वाली वह राशि जिसे वापस नहीं करना पड़ता है। सम्मेलन- जहाँ बहुत से लोग किसी निश्चित उद्देश्य के लिए इकट्ठा हों, संसदीय- संसद के अनुरूप, आयोग- एक अधिकार सम्पन्न संस्था, सार्वजनिक- जो समाज के सभी लोगों से सम्बन्धित हो, नियतिकालिक- जिसका समय निश्चित हो

11.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लगभग एक हजार गांव, 2. 1882 ई0 में, 3. हाँ, 4. पंचायत समिति एवं जिला परिषद अधिनियम 1961, 5. अशोक मेहता समिति, 6. हाँ, 7. जिलाधिकारी, 8. जिला निधि

11.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 अशोक शर्मा भारत में स्थानीय प्रशासन, आर0बी0एस0ए0 पब्लिशर्स, सवाई मान सिंह हाइवे, जयपुर।
2. प्रो0 अवधनारायण दूबे, पंचायती राज का बदलता स्वरूप, मिश्रा ट्रेडिंग कार्पोरेशन, वाराणसी।
3. तिलक रघुकुल, लोकतन्त्र स्वरूप और समस्याएं, लखनऊ।
4. के0के0राय क्षेत्र पंचायत व जिला पंचायत अधिनियम, एलिया लॉ एजेंसी इलाहाबाद।

11.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डा0 प्रभुदत्त शर्मा, ग्रामीण स्थानीय प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, 1986
2. देवेन्द्र उपाध्याय, पंचायती राज व्यवस्था, जगदीश भारद्वाज सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली।
3. अरूण श्रीवास्तव, भारत में पंचायती राज, आर0बी0एस0ए0 पब्लिशर्स, जयपुर।

11.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. जिला पंचायत के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक निबन्ध लिखे।
2. जिला पंचायत के संगठन तथा अधिकार व कृत्यों का उल्लेख करें।
3. जिला पंचायत की वित्तीय स्थिति का उल्लेख करते हुए ग्रामीण विकास में उसकी भूमिका को रेखांकित कीजिये।

इकाई- 12 पंचायती राज और तिहत्तरवां(73वां) संविधान संशोधन अधिनियम

इकाई की संरचना

- 12.0 प्रस्तावना
- 12.1 उद्देश्य
- 12.2 पंचायती राज
- 12.3 स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के रूप में पंचायती राज
- 12.4 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज
- 12.5 स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में पंचायती राज
- 12.6 पंचायतों के विकास के लिए गठित समितियाँ
 - 12.6.1 बलवंत राय मेहता समिति
 - 12.6.2 अशोक मेहता समिति
 - 12.6.3 जी०वी०के० समिति
 - 12.6.4 डॉ० एल०एम० सिंघवी समिति
 - 12.6.5 सरकारिया आयोग और पी० के० थुंगर समिति
- 12.7 तिहत्तरवें संविधान संशोधन की सोच
- 12.8 तिहत्तरवां संविधान अधिनियम
- 12.9 तिहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम की मुख्य बातें
- 12.10 तिहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम की विशेषताएँ
- 12.11 सारांश
- 12.12 शब्दावली
- 12.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 12.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 12.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 12.16 निबंधात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

शासन प्रणालियों के विकास क्रम में मनुष्य ने अनेक प्रकार की शासन प्रणालियों को अपनाया। शासन प्रणालियों का कोई भी स्वरूप- चाहे वह तानाशाही शासन हो, राजशाही शासन, सैनिक शासन, साम्यवादी शासन या लोकतांत्रिक शासन प्रणाली, ये सभी शासन प्रणालियाँ भौगोलिक परिस्थितियों के परिणाम ना होकर व्यक्ति के विचारों और सिद्धान्तों का परिणाम हैं। शासन प्रणालियों के विकास क्रम में ज्यादातर समय राजशाही व तानाशाही शासन प्रणाली का रहा, किन्तु एक बेहतर जीवन की खोज में व्यक्ति का संघर्ष लगातार जारी रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति ने अपने ऊपर शासन के लिए स्वयं को शासक बनाने का निश्चय किया और लोकतंत्र या प्रजातंत्र शासन प्रणाली का स्वरूप सामने आया। लोकतंत्र में भी सबसे निचले स्तर तक के व्यक्ति के हाथों में सत्ता की पहुँच हो और वो शासन के कार्यों में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सके इसके लिए शासन-सत्ता का एक जगह केन्द्रीकरण ना करके इसके विकेन्द्रीकरण को अपनाया गया। सत्ता विकेन्द्रीकरण की सोच ने स्थानीय स्वशासन को जन्म दिया और सबसे निचले स्तर पर पंचायती और नगरीय शासन का स्वरूप सामने

आया। लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में ही सत्ता का विकेन्द्रीकरण सम्भव है। आज हम सभी भारत में पंचायती राज और नगरीय शासन से अच्छी तरह परिचित हैं।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- पंचायती राज के सम्बन्ध में जान पाओगे।
- स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद भारत में पंचायती राज की स्थिति के बारे में जान पायेंगे।
- 73वें संविधान संशोधन के पीछे क्या सोच थी, इस विषय में जान पायेंगे।
- 73वें संविधान संशोधन और इस संविधान में मौजूद मुख्य बातों(उपबन्धों) के विषय में जान पायेंगे।

12.2 पंचायती राज

पंचायती राज का इतिहास कोई नया नहीं अपितु यह आदिकाल से हमारी पुरातन धरोहर है। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में सामुदायिकता की भावना प्राचीन काल से विद्यमान रही है। इसी सामुदायिकता व परम्परागत संगठन के आधार पर पंचायत व्यवस्था का जन्म हुआ। इसीलिए हमारे देश में पंचायतों की व्यवस्था भी सदियों से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति के विकास के साथ-साथ पंचायती व्यवस्था का जन्म और विकास हुआ। पंचायत शब्द पंच+आयत से बना है। 'पंच' का अर्थ है, समुदाय या संस्था तथा 'आयत' का अर्थ है विकास या विस्तार। अतः सामूहिक रूप से गाँव का विकास ही पंचायत का वास्तविक अर्थ है। ये संस्थाएँ हमारे समाज की बुनियादी संस्थाएँ हैं और किसी न किसी रूप में ये संस्थाएँ हमारी संस्कृति व शासन-प्रणाली का अभिन्न हिस्सा रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास, प्रशासन व न्याय की जिम्मेदारी इन्हीं संस्थाओं की थी। राजा, महाराजा भी स्थानीय स्तर पर काम-काज के संचालन हेतु इन्हीं संस्थाओं पर निर्भर रहते थे। स्थानीय स्तर पर सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में न रह कर सामूहिक रहती थी। इसीलिए इन्हें गणतन्त्र की स्थानीय इकाईयों के रूप में मान-सम्मान दिया जाता था। ग्राम पंचायत ग्रामीण क्षेत्रों में शासन प्रबन्ध, शान्ति और सुरक्षा की एकमात्र संस्थाएँ रही हैं। डाक्टर राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है कि ये समस्त जनता की सामान्य सभा के रूप में अपने सदस्यों के समान अधिकारों, स्वतंत्रताओं के लिए निर्मित होती हैं, ताकि सब में समानता, स्वतंत्रता तथा बुधुत्व का विचार दृढ़ रहे। अतः यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में पंचायती राज का गौरवशाली अतीत रहा है।

प्राचीन काल में पंचायतों का स्वरूप कुछ और था। यद्यपि इन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा नहीं प्राप्त था लेकिन गाँवों से जुड़े विकास व न्याय सम्बन्धित निर्णयों के लिए ये संस्थाएँ पूर्ण रूप से जिम्मेदार थीं। प्राचीन काल में गाँवों में पंच परमेश्वर की प्रणाली मौजूद थी। गाँव में सर्वसहमति से चुने गये पाँच गणमान्य व बुद्धिमान व्यक्तियों को गाँव में न्याय व्यवस्था बनाये रखने व गाँव के विकास हेतु निर्णय लेने का अधिकार था और उन्हें तो पंच परमेश्वर तक कहा जाता था। पंच परमेश्वर द्वारा न्याय को सरल और सुलभ बनाने की प्रथा काफी मजबूत थी। उस समय ये पंच एक संस्था के रूप में कार्य करते थे। गाँव के झगड़े, गाँव की व्यवस्थायें सुधारना जैसे मुख्य कार्य पंच-परमेश्वर संस्था किया करती थी। उसके कायदे-कानून लिखित नहीं होते थे फिर भी उनका प्रभाव समाज पर ज्यादा होता था। पंचों के फैसले के खिलाफ जाने की कोई सोच भी नहीं सकता था। पंचों का सम्मान बहुत था व उनके पास समाज का भरोसा और ताकत भी थी। लोग पंचों के प्रति बड़ा विश्वास रखते थे और उनका निर्णय सहज स्वीकार कर लेते थे। पंच परमेश्वर भी बिना किसी पक्षपात के निर्णय किया करती थी। मुंशी प्रेमचन्द ने अपनी कहानी पंच परमेश्वर द्वारा प्राचीन काल में स्थापित इस पंच प्रणाली को काफी सरल तरीके से समझाया है। प्राचीन काल में जातिगत व कबाइली पंचायतों का भी जिक्र भी मिलता है। इन पंचायतों के प्रमुख गाँव के विद्वान

व कबीले के मुखिया हुआ करते थे। इन पंचायतों में कोई भी निर्णय लेने हेतु तब तक विचार-विमर्श किया जाता था जब तक कि सर्वसहमति से निर्णय न हो जाये।

12.3 स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के रूप में पंचायत व्यवस्था

राजा-महाराजा काल में स्थानीय स्वशासन को काफी महत्व दिया गया। उनके द्वारा भी जनता को सत्ता सौंपने की प्रथा को अपनाया गया। भारत जैसे विशाल देश को एक केन्द्र से शासित करना राजाओं व सम्राटों के लिए सम्भव नहीं था। अतः राज्य को सूबों, जनपदों, ग्राम समितियों अथवा ग्राम सभाओं में बांटा गया। वेदों, बौद्ध ग्रन्थों, जातक कथाओं, उपनिषदों आदि में इस व्यवस्था के रूप में पंचायतों के आस्तित्व के पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। मनुस्मृति तथा महाभारत के 'शांति-पर्व' में ग्राम सभाओं का उल्लेख है। रामायण में इसका वर्णन जनपदों के नाम से आता है। महाभारत काल में भी इन संस्थानों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वैदिक कालीन तथा उत्तर-वैदिक कालीन इतिहास के अवलोकन में यह बात स्पष्ट हो गई है कि प्राचीन भारत का प्रत्येक ग्राम एक छोटा सा स्वायत्त राज्य था। इस प्रकार के कई छोटे-छोटे गाँवों और छोटे-छोटे प्रादेशिक संघ मिलकर बड़े संघ बन जाते थे। संघ, पूर्णतः स्वावलम्बी थे तथा एक-दूसरे से बड़ी अच्छी तरह जुड़े हुए तथा सम्बन्धित थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गाँवों के छोटे-छोटे गणराज्यों की बात कही गई है। सर चार्ल्स मैटकाफ ने तो पंचायतों को गाँव के छोटे-छोटे गणतन्त्र कहा था जो स्वयं में आत्मनिर्भर थे। बौद्ध व मौर्य काल के समय पंचायतों के आस्तित्व की बात कही गई है। बौद्ध काल के संघों की कार्य-पद्धति ग्राम राज्य की प्रथा को दर्शाती है। बौद्ध संघों के शासन की प्रणाली वस्तुतः भारत की ग्राम पंचायतों तथा ग्राम संघों से ही ली गई थी। गुप्त काल में भी ग्राम समितियाँ, पंचायतों के रूप में कार्य करती थीं। चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मैगस्थनीज के वृत्तान्त से उसके बारे में काफी सामग्री मिलती है। मैगस्थनीज के वृत्तान्त से उस समय के नगर प्रशासन तथा ग्राम प्रशासन पर खासा प्रकाश पड़ता है। नगरों का प्रशासन भी पंचायत-प्रणाली से ही होता था और पाटलिपुत्र का प्रशासन उसकी सफलता का सूचक है। मैगस्थनीज के अनुसार नगर प्रशासन भी ग्राम प्रशासन की भाँति ही होता था। नगर का शासन एक निर्वाचित संस्था के हाथ में होता था, जिसमें 30 सदस्य होते थे। सदस्य 06 समितियों में विभक्त होते थे। प्रत्येक समिति अलग-अलग विषयों का प्रबन्धन करती थी। कुछ विषय अवश्य ऐसे थे जो सीधे राजकीय नियंत्रण में होते थे।

प्राचीन काल में राजा लोग महत्वपूर्ण निर्णय लेते समय इन पंचायतों से पूर्ण विचार-विमर्श करते थे। स्थानीय स्वशासन की ये संस्थाएँ, स्थानीय स्तर पर अपना शासन खुद चलाती थीं। लोग अपने विकास के बारे में खुद सोचते थे, अपनी समस्याएँ स्वयं हल करते थे एवं अपने निर्णय स्वयं लेते थे। वास्तव में जिस स्वशासन की बात हम आज कर रहे हैं, असली स्वशासन वही था। यह कह सकते हैं कि हमारे गाँव का काम गाँव में और गाँव का राज गाँव में था। पंचायतें हमारे गाँव समाज की ताकत थी।

ग्रामों के इस संगठनों की सफलता का रहस्य केवल यह था कि ग्रामीण अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों की अधिक चिन्ता करते थे। इस तरह भारत के ग्रामों के संगठन की परम्परा उत्पन्न हुई, पनपी और इसमें दीर्घकाल तक की सफलता से देश के ग्रामीणों को समृद्ध, सुसम्पन्न तथा आत्मनिर्भर बनाया। पंचायतों के कारण ही काफी समय तक विदेशी अपना आर्थिक प्रभुत्व जमाने में असमर्थ रहे।

मध्य काल में पंचायतों के विकास पर खास ध्यान नहीं दिया गया। इस दौरान समय-समय पर विदेशियों के आक्रमण भारत में हुए। मुगलों के भारत में आधिपत्य के साथ ही शासन प्रणाली में नकारात्मक बदलाव आये। लोगों की अपनी बनाई हुई व्यवस्थाएँ चरमराकर धराशायी हो गई। समस्त सत्ता व शक्ति बादशाह व उसके खास कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी। यद्यपि मुगल बादशाह अकबर द्वारा स्थानीय स्वशासन को महत्व दिया गया और उस समय ग्राम स्तरीय समस्त कार्य पंचायतों द्वारा ही किया जाता था। लेकिन अन्य शासकों के शासनकाल में पंचायत व्यवस्था का धीरे-धीरे विघटन का दौर शुरू हुआ जो ब्रिटिश काल के दौरान भी अंग्रेजों की

केन्द्रीकरण की नीति के कारण चलता रहा। पंच-परमेश्वर प्रथा की अवहेलना से पंचायतों व स्थानीय स्वशासन को गहरा झटका लगा, जिसके परिणाम स्वरूप जो छोटे-छोटे विवाद पहले गाँव में ही सुलझ जाया करते थे, अब वह दबाये जाने लगे व सदियों से चली आ रही स्थानीय स्तर पर विवाद निपटाने की प्रथा का स्थान कोर्ट-कचहरी ने लेना शुरू किया। जिन प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा व उपयोग गाँव वाले स्वयं करते थे वे सब अंग्रेजी शासन के अर्न्तगत आ गये और उनका प्रबन्धन भी सरकार के हाथों चला गया। स्थानीय लोगों के अधिकार समाप्त हो गये। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन की परम्परा प्राचीन काल में काफी मजबूत थी। स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ जन-समुदाय की आवाज हुआ करती थी। वर्तमान की पंचायत व्यवस्था का मूल आधार हमारी पुरानी सामुदायिक व्यवस्था ही है। यद्यपि मध्यकाल व ब्रिटिश काल में पंचायती राज व्यवस्था लड़खड़ा गई थी, लेकिन भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात स्थानीय स्वशासन को मजबूत बनाने के लिए पुनः प्रयास शुरू हुए और पंचायती राज व्यवस्था भारत में पुनः स्थापित की गई। जिसके बारे में आप आगे विस्तार से अध्याय करेंगे।

12.4 स्वतंत्रता पूर्व भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता पूर्व पंचायतों की मजबूती व सुधार हेतु विशेष प्रयास नहीं हुए जिस कारण पंचायती राज व्यवस्था लड़खड़ाती रही। मध्य काल में मुस्लिम राजाओं का शासन भारत के विभिन्न हिस्सों में फैल गया। यद्यपि स्थानीय शासन की संस्थाओं का मजबूती के लिए विशेष प्रयास नहीं किये गये, परन्तु मुस्लिम शासन ने अपने हितों में पंचायतों का काफी उपयोग किया। जिसके फलस्वरूप पंचायतों के मूल स्वरूप को धक्का लगा और वे केन्द्र के हाथों की कठपुतली बन गये। सम्राट अकबर के समय स्थानीय स्वशासन को पुनः मान्यता मिली। उस काल में स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ कार्यशील बनीं। स्थानीय स्तर पर शासन के सारे कार्य पंचायतें ही करती थीं और शासन उनके महत्व को पूर्णतः स्वीकार करता था। लेकिन मुस्लिम काल के इतिहास को अगर समग्र रूप में देखा जाए तो इस काल में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को मजबूती नहीं मिल सकी।

ब्रिटिश काल के दौरान भी प्राचीन पंचायत व्यवस्था लड़खड़ाती रही। अंग्रेजों शासन काल में सत्ता का केन्द्रीकरण हो गया और दिल्ली सरकार पूरे भारत पर शासन करने लगी। केन्द्रीकरण की नीति के तहत अंग्रेज तो पूरी सत्ता अपने कब्जे में करके एक-क्षत्र राज चाहते थे। भारत की विकाेन्द्रीकरण की व्यवस्था उन्हें अपने मनसूबों को पूरा करने में एक रुकावट लगी। इसलिये अंग्रेजों ने हमारी सदियों से चली आ रही स्थानीय स्वशासन की परम्परा व स्थानीय समुदाय की ताकत का तहस-नहस कर शासन की अपनी व्यवस्था लागू की। जिसमें छोटे-छोटे सूबे तथा स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ कमजोर बना दी गयी या पूरी तरह समाप्त कर दी गयी। धीरे-धीरे सब कुछ अंग्रेजी सरकार के अधीन होता गया। सरकार की व्यवस्था मजबूत होती गयी और समाज कमजोर होता गया। परिणाम यह हुआ कि यहाँ प्रशासन का परम्परागत रूप करीब-करीब समाप्तप्राय हो गया और पंचायतों का महत्व काफी घट गया। अंग्रेजी राज की बढ़ती ताकत व प्रभाव से आम आदमी दबाव में था। समाज में असंतोष बढ़ने लगा, जिसके कारण 1909 में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक विकाेन्द्रीकरण कमीशन की नियुक्ति की गयी। 1919 में “मांटेस्क्यू चेम्सफोर्स सुधार” के तहत एक अधिनियम पारित करके पंचायतों को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया। अंग्रेजों की नियत तब उजागर हुई, जब एक तरफ पंचायतों को फिर से स्थापित करने की बात कही गई और दूसरी तरफ गाँव वालों से नमक बनाने तक का अधिकार छुड़ा लिया। इसी क्रम में 1935 में लार्ड वैलिंग्टन के समय भी पंचायतों के विकास की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया गया लेकिन कुल मिलाकर ब्रिटिशकाल में पंचायतों को फलने-फूलने के अवसर कम ही मिले।

हम नब्बे के दशक में भारत सरकार द्वारा पंचायतों को नया स्वरूप देने के उद्देश्य से भारतीय संविधान में किये गये 73वें संशोधन अधिनियम के बारे में पढ़ेंगे। प्राचीन समय में भी देश के गांवों का पूरा कामकाज पंचायतें ही चलाती

थीं। लोग इस संस्था को गहरी आस्था व सम्मान की की दृष्टि से देखते थे, इसलिये इसका निर्णय भी सब को मान्य होता था। इसी धारणा को ध्यान में रख कर व सामान्य व्यक्ति की शासन में भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए पंचायतों को संवैधानिक स्थान देने की आवश्यकता हुई। जिसके लिए संविधान का 73वां संविधान संशोधन किया गया। जिसका विस्तृत अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे।

12.5 स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में पंचायती राज

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात पंचायतों के पूर्ण विकास के लिये प्रयत्न शुरू हुए। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी स्वराज और स्वावलम्बन के लिये पंचायती राज के प्रबलतम समर्थक थे। गाँधी जी ने कहा था- “सच्चा स्वराज सिर्फ चंद लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने से नहीं बल्कि इसके लिये सभी हाथों में क्षमता आने से आयेगा। केन्द्र में बैठे बीस व्यक्ति सच्चे लोकतन्त्र को नहीं चला सकते। इसको चलाने के लिये निचले स्तर पर प्रत्येक गाँव के लोगों को शामिल करना पड़ेगा।” गाँधी जी की ही पहल पर संविधान में अनुच्छेद- 40 शामिल किया गया। जिसमें यह कहा गया कि राज्य ग्राम पंचायतों को सुदृढ़ करने हेतु कदम उठायेगा तथा पंचायतों को प्रशासन की इकाई के रूप में कार्य करने के लिये आवश्यक अधिकार प्रदान करेगा। यह अनुच्छेद राज्य का नीति निर्देशक सिद्धान्त बना दिया गया। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिये विभिन्न कमीशन नियुक्त किये गये, जिन्होंने पंचायती राज व्यवस्था को पुर्नजीवित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत में सन् 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थापित किये गये। किन्तु प्रारम्भ में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिल सकी, इसका मुख्य कारण जनता का इसमें कोई सहयोग व रुचि नहीं थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सरकारी कामों के रूप में देख गया और गाँववासी अपने उत्थान के लिए स्वयं प्रयत्न करने के स्थान पर सरकार पर निर्भर रहने लगी। इस कार्यक्रम के सूत्रधार यह आशा करते थे कि जनता इसमें आगे आये और दूसरी ओर उनका विश्वास था कि सरकारी कार्यवाही से ही यह कार्यक्रम सफल हो सकता है। कार्यक्रम जनता ने चलाना था, लेकिन वे बनाये उपर से जाते थे। जिस कारण इन कार्यक्रमों में लोक कल्याण के कार्य तो हुए लेकिन लोगों की भागीदारी इनमें नगण्य थी। ये कार्यक्रम लोगों के कार्यक्रम होने के बजाय सरकार के कार्यक्रम बनकर रह गये। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के असफल होने के कारणों का अध्ययन करने के लिए एक कमेटी गठित की गयी, जिसका नाम बलवंत राय मेहता समिति था।

12.6 पंचायतों के विकास के लिए गठित समितियाँ

पंचायतों के विकास के लिए समय-समय पर अनेक समितियाँ गठित की गयी-

12.6.1 बलवंत राय मेहता समिति

1957 में सरकार ने पंचायतों के विकास पर सुझाव देने के लिए श्री बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए पंचायती राज संस्थाओं की तुरन्त स्थापना की जानी चाहिए। इसे लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का नाम दिया गया। मेहता कमेटी के अपनी निम्नलिखित शिफारिशें रखी-

1. ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड(ब्लाक) स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद। अर्थात् पंचायतों की त्रिस्तरीय संरचना बनायी जाये।
2. पंचायती राज में लोगों को सत्ता का हस्तान्तरण किया जाना चाहिए।
3. पंचायती राज संस्थाएँ जनता के द्वारा निर्वाचित होनी चाहिए और सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अधिकारी उनके अधीन होने चाहिए।
4. साधन जुटाने व जन सहयोग के लिए इन संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार दिये जाने चाहिए।

5. सभी विकास सम्बन्धी कार्यक्रम व योजनाएँ इन संगठनों के द्वारा लागू किये जाने चाहिए।

6. इन संगठनों को उचित वित्तीय साधन सुलभ करवाये जाने चाहिए।

राजस्थान वह पहला राज्य है जहाँ पंचायती राज की स्थापना की गयी। 1958 में सर्वप्रथम पंडित जवाहर लाल नेहरू ने 02 अक्टूबर को राजस्थान के नागौर जिले में पंचायती राज का दीपक प्रज्ज्वलित किया और धीरे-धीरे गाँवों में पंचायती राज का विकास शुरू हुआ। सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दिशा में यह पहला कदम था। 1959 में आन्ध्र प्रदेश में भी पंचायती राज लागू किया गया। 1959 से 1964 तक के समय में विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं को लागू किया गया और इन संस्थाओं ने कार्य प्रारम्भ किया। लेकिन इस राज से ग्रामीण तबके के लोगों का नेतृत्व उभरने लगा जो कुछ स्वार्थी लोगों की आँखों में खटकने लगा, क्योंकि वे शक्ति व अधिकारों को अपने तक ही सीमित रखना चाहते थे। फलस्वरूप पंचायती राज को तोड़ने की कोशिशें भी शुरू हो गयीं। कई राज्यों में वर्षों तक पंचायतों में चुनाव ही नहीं कराये गये। 1969 से 1983 तक का समय पंचायती राज व्यवस्था के ह्रास का समय था। लम्बे समय तक पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव नहीं करवाये गये और ये संस्थाएँ निष्क्रिय हो गयीं।

12.6.2 अशोक मेहता समिति

जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद पंचायतों को मजबूत करने के उद्देश्य से 12 दिसम्बर 1977 को पंचायती राज संस्थाओं में आवश्यक परिवर्तन सुझाने के लिए में श्री “अशोक मेहता” की अध्यक्षता में 13 सदस्यों की कमेटी गठित की गयी। समिति ने पंचायती राज संस्थाओं में आई गिरावट के लिए कई कारणों को जिम्मेदार बताया। इसमें प्रमुख था कि पंचायती राज संस्थाओं को ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों से बिल्कुल अलग रखा गया है। अशोक मेहता समिति ने महसूस किया कि पंचायती राज संस्थाओं की अपनी कमियाँ स्थानीय स्वशासन को मजबूती नहीं प्रदान कर पा रही हैं। इस समिति द्वारा पंचायतों को सुदृढ़ बनाने के लिए निम्न सुझाव दिये गये-

1. समिति ने दो स्तरों वाले ढाँचे, जिला परिषद को मजबूत बनाने और ग्राम पंचायत की जगह मण्डल पंचायत की सिफारिश की। अर्थात् पंचायती राज संस्थाओं के दो स्तर हों, जिला परिषद व मंडल परिषद।
2. जिले को तथा जिला परिषद को समस्त विकास कार्यों का केन्द्र बनाया जाए। जिला परिषद ही आर्थिक नियोजन करें और जिले में विकास कार्यों में सामन्जस्य स्थापित करें और मंडल पंचायतों को निर्देशन दें।
3. पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचन में जिला परिषद को मुख्य स्तर बनाने और राजनैतिक दलों की सक्रिय भागीदारी पर बल दिया।
4. पंचायतों के सदस्यों के नियमित चुनाव की सिफारिश की। राज्य सरकारों को पंचायती चुनाव स्थगित न करने व चुनावों का संचालन मुख्य चुनाव आयुक्त के द्वारा किये जाने का सुझाव दिया।
5. कमेटी ने यह सुझाव भी दिया कि पंचायती राज संस्थाओं को मजबूती प्रदान करने के लिये संवैधानिक प्रावधान बहुत ही आवश्यक हैं।
6. पंचायती राज संस्थाएँ समिति प्रणाली के आधार पर अपने कार्यों का सम्पादन करें।
7. राज्य सरकारों को पंचायती राज संस्थाओं के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।
8. देश के कई राज्यों ने इन सिफारिशों को नहीं माना, अतः तीन स्तरों वाले ढाँचे को ही लागू रखा गया।

इस प्रकार अशोक मेहता समिति ने पंचायती राज व्यवस्था में सुधार लाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण शिफारिशें की, किन्तु ग्राम पंचायतों को समाप्त करने की उनकी शिफारिश पर विवाद पैदा हो गया। ग्राम पंचायतों की समाप्ति का मतलब था, ग्राम विकास की मूल भावना को ही समाप्त कर देना। समिति के सदस्य सिद्धराज चड्ढा ने इस विषय पर लिखा कि “मुझे जिला परिषदों और मंडल पंचायतों से कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु समिति ने ग्राम सभा

की कोई चर्चा नहीं की, जबकि पंचायती राज संस्थाओं की आधारभूत इकाई तो ग्राम सभा को ही बनाया जा सकता था।”

12.6.3 जी0वी0के0 समिति

पंचायतों के सुदृढ़ीकरण(विकास) की प्रक्रिया में सन् 1985 में ‘जी0वी0के0 राव समिति’ गठित की गयी। समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को अधिक अधिकार देकर उन्हें सक्रिय बनाने पर बल दिया। साथ ही यह सुझाव भी दिया कि योजना निर्माण और उसके संचालन करने के लिये जिला मुख्य इकाई होना चाहिये। समिति ने पंचायतों के नियमित चुनाव की भी सिफारिश की।

12.6.4 डॉ0 एल0एम0 सिंघवी समिति

1986 में डॉ0 एल0एम0 सिंघवी समिति का गठन किया गया। सिंघवी समिति ने ‘गाँव पंचायत’ (ग्राम-सभा) की सिफारिश करते हुये संविधान में ही नया अध्याय जोड़ने की बात कही, जिससे पंचायतों की अवहेलना ना हो सके। उन्होंने ने गाँव के समूह बना कर न्याय पंचायतों के गठन की भी सिफारिश की।

12.6.5 सरकारिया आयोग और पी0 के0 थुंगर समिति

1988 में सरकारिया आयोग बैठाया गया, जो मुख्य रूप से केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों से जुड़ा था। इस आयोग ने भी नियमित चुनावों और ग्राम पंचायतों को वित्तीय व प्रशासनिक शक्तियाँ देने की सिफारिश की। 1988 के अंत में ही पी0 के0 थुंगर की अध्यक्षता में संसदीय परामर्श समिति की उपसमिति गठित की गयी। इस समिति ने पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा देने की सिफारिश की।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व0 राजीव गाँधी की सरकार ने गाँवों में पंचायतों के विकास की ओर अत्यधिक प्रयास करने शुरू किये। श्री राजीव गाँधी का विचार था कि जब तक गाँव के लोगों को विकास प्रक्रिया में भागीदार नहीं बनाया जाता, तब तक ग्रामीण विकास का लाभ ग्रामीण जनता को नहीं मिल सकता। पंचायती राज के द्वारा वे गाँव वालों के खासकर अनुसूचित जाति, जनजाति तथा महिलाओं की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में बदलाव लाना चाहते थे। उन्होंने इस दिशा में कारगर कदम उठाते हुये 64वां संविधान विधेयक संसद में प्रस्तुत किया। लोक सभा ने 10 अगस्त 1988 को इस विधेयक को अपनी मंजूरी दे दी। मगर राज्य सभा में सिर्फ पांच मतों की कमी रह जाने से यह पारित न हो सका। फिर 1991 में तत्कालीन सरकार ने 73वां संविधान संशोधन विधेयक को संसद में पेश किया। लोक सभा ने 02 दिसम्बर 1992 को इसे सर्व सम्मति से पारित कर दिया। राज्य सभा ने अगले ही दिन इसे अपनी मंजूरी दे दी। उस समय 20 राज्यों की विधान सभाएँ कार्यरत थीं। 20 राज्यों की विधान सभाओं में से 17 राज्यों की विधान सभाओं ने संविधान संशोधन विधेयक को पारित कर दिया। 20 अप्रैल 1993 को राष्ट्रपति ने भी इस विधेयक को मंजूरी दे दी। तत्पश्चात 73वां संविधान संशोधन अधिनियम 24 अप्रैल से लागू हो गया।

12.7 तिहतरवें संविधान संशोधन की सोच

पंचायतों को मजबूत, अधिकार सम्पन्न व स्थानीय स्वशासन की इकाई के रूप में स्थापित करने हेतु संविधान में 73वां संशोधन अधिनियम एक क्रान्तिकारी कदम है। 73वें संविधान संशोधन के पीछे निम्न सोच है-

- निर्णय को विकेन्द्रीकृत करना तथा स्थानीय स्तर पर संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक प्रक्रिया शुरू करना।
- स्थानीय स्तर पर पंचायत के माध्यम से निर्णय प्रक्रिया, विकास कार्यों व शासन में लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करना।
- ग्राम विकास प्रक्रिया के नियोजन, क्रियान्वयन तथा निगरानी में गांव के लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करना व उन्हें अपनी जिम्मेदारी का अहसास कराना।

- लम्बे समय से हासिये पर रहने वाले तबकों जैसे महिला, दलित एवं पिछड़ों को ग्राम विकास व निर्णय प्रक्रिया में शामिल करके उन्हें विकास की मुख्य धारा से जोड़ना।
- स्थानीय स्तर पर लोगों की सहभागिता बढ़ाना व लोगों को अधिकार देना।

12.8 तिहत्तरवा संविधान संशोधन अधिनियम

स्वतन्त्रता पश्चात देश को सुचारू रूप से चलाने के लिये हमारे नीति निर्माताओं द्वारा भारतीय संविधान का निर्माण किया गया। इस संविधान में नियमों के अनुरूप व एक नियत प्रक्रिया के अधीन जब भी कुछ परिवर्तन किया जाता है या उसमें कुछ नया जोड़ा जाता है अथवा हटाया जाता है तो यह संविधान संशोधन अधिनियम कहलाता है। भारत में सदियों से चली आ रही पंचायत व्यवस्था जो कई कारणों से काफी समय से मृतप्रायः हो रही थी, को पुर्नजीवित करने के लिये संविधान में संशोधन किये गये। ये संशोधन तिहत्तरवां व चौहत्तरवां संशोधन अधिनियम कहलाये। तिहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज व्यवस्था की स्थापना की गई। इसी प्रकार चौहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा भारत के नगरीय क्षेत्रों में नगरीय स्वशासन की स्थापना की गई। इन अधिनियमों के अनुसार भारत के प्रत्येक राज्य में नयी पंचायती राज व्यवस्था को आवश्यक रूप से लागू करने के नियम बनाये गये। इस नये पंचायत राज अधिनियम से त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने व स्थानीय स्तर पर उसे मजबूत बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस अधिनियम में जहाँ स्थानीय स्वशासन को प्रमुखता दी गई है व सक्रिय किये जाने के निर्देश हैं, वहीं दूसरी ओर सरकारों को विकेन्द्रीकरण हेतु बाध्य करने के साथ-साथ वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिये वित्त आयोग का भी प्रावधान किया गया है।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम अर्थात् 'नया पंचायती राज अधिनियम' प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र को जनता तक पहुँचाने का एक उपकरण है। गाँधी जी के स्वराज के स्वप्न को साकार करने की पहल है। पंचायती राज स्थानीय जनता का, जनता के लिये, जनता के द्वारा शासन है।

12.9 तिहत्तरवें संविधान संशोधन अधिनियम की मुख्य बातें

लोकतंत्र को मजबूत करने के लिये नई पंचायत राज व्यवस्था एक प्रशंसनीय पहल है। गांधी जी का कहना था कि 'देश में सच्चा लोकतंत्र तभी स्थापित होगा जब भारत के लाखों गांवों को अपनी व्यवस्था स्वयं चलाने का अधिकार प्राप्त होगा। गांव के लिये नियोजन, प्राथमिकता चयन लोग स्वयं करेंगे। ग्रामीण अपने गांव विकास सम्बन्धी सभी निर्णय स्वयं लेंगे। ग्राम विकास कार्यक्रम पूर्णतया लोगों के होंगे और सरकार उनमें अपनी भागीदारी देगी।' गांधी जी के इस कथन को महत्व देते हुये तथा उनके ग्राम-स्वराज के स्वप्न को साकार करने के लिये भारतीय सरकार ने पंचायतों को बहुत से अधिकार दिये हैं। तिहत्तरवें संविधान अधिनियम में निम्न बातों को शामिल किया गया है -

1. 73वें संविधान संशोधन के अन्तर्गत पंचायतों को पहली बार संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। अर्थात् पंचायती राज संस्थाएं अब संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थाएं हैं।
2. नये पंचायती राज अधिनियम के अनुसार ग्राम सभा को संवैधानिक स्तर पर मान्यता मिली है। साथ ही इसे पंचायत व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बना दिया गया है।
3. यह तीन स्तरों- ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और जिला पंचायत पर चलने वाली व्यवस्था है।
4. एक से ज्यादा गांवों के समूहों से बनी ग्राम पंचायत का नाम सबसे अधिक आबादी वाले गांव के नाम पर होगा।

5. इस अधिनियम के अनुसार महिलाओं के लिये त्रिस्तरीय पंचायतों में एक तिहाई सीटों पर आरक्षण दिया गया है।
6. अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिये भी जनसंख्या के आधार पर आरक्षण दिया गया है। आरक्षित वर्ग के अलावा सामान्य सीट से भी ये लोग चुनाव लड़ सकते हैं।
7. पंचायतों का कार्यकाल पांच वर्ष तय किया गया है तथा कार्यकाल पूरा होने से पहले चुनाव कराया जाना अनिवार्य किया गया है।
8. पंचायत 06 माह से अधिक समय के लिये भंग नहीं रहेगी तथा कोई भी पद 06 माह से अधिक खाली नहीं रहेगा।
9. इस संशोधन के अन्तर्गत पंचायतें अपने क्षेत्र के अर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण की योजनाएं स्वयं बनायेंगी और उन्हें लागू करेंगी। सरकारी कार्यों की निगरानी अथवा सत्यापन करने का भी अधिकार उन्हें दिया गया है।
10. 73वें संशोधन के अन्तर्गत पंचायतों को ग्राम सभा के सहयोग से विभिन्न जनकल्याणकारी योजनाओं के अन्तर्गत लाभार्थी के चयन का भी अधिकार दिया गया है।
11. हर राज्य में वित्त आयोग का गठन होता है। यह आयोग हर पांच साल बाद पंचायतों के लिये सुनिश्चित आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर वित्त का निर्धारण करेगा।
12. उक्त संशोधन के अन्तर्गत ग्राम प्रधानों का चयन प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा तथा क्षेत्र पंचायत प्रमुख व जिला पंचायत अध्यक्षों का चयन निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुना जाना तय है।
13. पंचायत में जबाबदेही सुनिश्चित करने के लिये छः समितियों (नियोजन एवं विकास समिति, शिक्षा समिति तथा निर्माण कार्य समिति, स्वास्थ्य एवं कल्याण समिति, प्रशासनिक समिति, जल प्रबन्धन समिति) की स्थापना की गयी है। इन्हीं समितियों के माध्यम से कार्यक्रम नियोजन एवं क्रियान्वयन किया जायेगा।
14. हर राज्य में एक स्वतंत्र निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है। यह आयोग निर्वाचन प्रक्रिया, निर्वाचन कार्य, उसका निरीक्षण तथा उस पर नियन्त्रण भी रखेगा।

अतः संविधान के 73वें संशोधन ने नयी पंचायत व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल पंचायतों को केन्द्र एवं राज्य सरकार के समान एक संवैधानिक दर्जा दिया है अपितु समाज के कमजोर व शोषित वर्ग को विकास की मुख्य धारा से जुड़ने का भी अवसर दिया है।

12.10 तिहत्तरवें संविधान संशोधन की मुख्य विशेषताएं

73वां संविधान संशोधन पंचायती राज से सम्बन्धित है, जिसमें पंचायतों से सम्बन्धित व्यवस्था का पूर्ण विधान किया गया है। इसकी निम्न लिखित विशेषताएं हैं।

1. संविधान में “ग्राम सभा” को पंचायती राज की आधारभूत इकाई के रूप में स्थान मिला है।
2. पंचायतों की त्रिस्तरीय व्यवस्था की गयी है। ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, क्षेत्र स्तर पर (ब्लाक स्तर) क्षेत्र-पंचायत व जिला स्तर पर जिला पंचायत की व्यवस्था की गयी है।
3. प्रत्येक स्तर पर पंचायत के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष मतदान के द्वारा की जाने की व्यवस्था है। लेकिन क्षेत्र व जिला स्तर पर अध्यक्षों के चुनाव चुने हुए सदस्यों में से, सदस्यों द्वारा किये जाने की व्यवस्था है।
4. 73वें संविधान संशोधन में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए उस क्षेत्र की कुल जनसंख्या में उसके प्रतिशत के अनुपात से सीटों के आरक्षण की व्यवस्था है। महिलाओं के लिए कुल सीटों का एक-तिहाई भाग प्रत्येक स्तर पर आरक्षित किया गया है। अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के

लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में ही आरक्षण की व्यवस्था है। प्रत्येक स्तर पर अध्यक्षों के कुल पदों का एक-तिहाई भाग महिलाओं के लिए आरक्षित किया गया है।

5. अधिनियम में पंचायतों का कार्यकाल(पांच वर्ष) निश्चित किया गया है। यदि कार्यकाल से पहले ही पंचायत भंग हो जाय तो 06 माह के भीतर चुनाव कराने की व्यवस्था है।
6. अधिनियम के द्वारा पंचायतों से सम्बन्धित सभी चुनावों के संचालन के लिए राज्य चुनाव आयोग को उत्तरदायी बनाया गया है।
7. अधिनियम के द्वारा प्रत्येक राज्य में राज्य वित्त आयोग का गठन किया गया है, ताकि पंचायतों के पास पर्याप्त साधन उपलब्ध हो, जिससे विभिन्न विकास कार्य किये जा सकें।

अभ्यास प्रश्न-

1. 73वें संविधान संशोधन का सम्बन्ध किससे है?
2. किस संविधान संशोधन ने पंचायतों को पहली बार संवैधानिक दर्जा प्रदान किया?
3. 73वें संविधान संशोधन द्वारा महिलाओं को पंचायतों में कितने प्रतिशत आरक्षण दिया गया है?
4. 1919 के किस सुधार के तहत एक अधिनियम पारित करके पंचायतों को फिर से स्थापित करने का काम प्रान्तीय शासन पर छोड़ दिया?
5. भारत में किस सन् में सामुदायिक विकास कार्यक्रम स्थापित किये गये?
6. बलवंत राय समिति का गठन कब किया गया?
7. पंचायतों के विकास के लिए गठित किस समिति ने त्री-स्तरीय पंचायती राज की बात कही?
8. वह कौन सा पहला राज्य है, जहाँ पंचायती राज की स्थापना की गयी?
9. राजस्थान के किस जिले में 02 अक्टूबर 1958 को पंचायती राज की शुरूआत की गयी?
10. किस समिति ने पंचायतों की दो स्तरीय व्यवस्था की सिफारिश की थी?
11. 0जी0वी0 राव समिति कब गठित की गयी?
12. किस समिति ने गाँव के समूह बना कर न्याय पंचायतों के गठन की सिफारिश की थी?

12.11 सारांश

वैदिक काल से चली आ रही पंचायत व्यवस्था देश में लगभग मृतप्राय हो चुकी थी, जिसे गाँधी जी, बलवन्त राय मेहता समिति, अशोक मेहता समिति, जी0के0वी0 राव समिति, एल0एम0 सिंघवी रिपोर्ट के प्रयासों ने नवजीवन दिया। जिसके फलस्वरूप 73वां संविधान संशोधन विधेयक संयुक्त संसदीय समिति की जाँच के बाद पारित हुआ। 73वें संविधान संशोधन से गाँधी जी के ग्राम स्वराज के स्वप्न को एक नई दिशा मिली है। गाँधी जी हमेशा से गाँव की आत्मनिर्भरता पर जोर देते रहे। गाँव के लोग अपने संसाधनों पर निर्भर रह कर स्वयं अपना विकास करें, यही ग्राम स्वराज की सोच थी। 73वें संविधान संशोधन के पीछे मूलधारणा भी यही थी कि स्थानीय स्तर पर विकास की प्रक्रिया में जनसमुदाय की निर्णय स्तर पर भागीदारी हो। 73वां संविधान संशोधन अधिनियम वास्तव में एक मील का पत्थर है जिसके द्वारा आम जन को सुशासन में भागीदारी करने का सुनहरा मौका प्राप्त हुआ है। पंचायतों के माध्यम से हम विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को साकार रूप दे सकते हैं।

73वां संविधान संशोधन स्थानीय स्वशासन को मजबूती प्रदान करने और आम जन की शासन सत्ता में सीधी भागीदारी के लिए एक महत्वपूर्ण कदम है। 73वें संविधान संशोधन ने ग्राम स्तर पर लोगों को नीति निर्माण की प्रक्रिया में भागीदारी, जनहित के कार्यों में सक्रिय सहयोग का मौका दिया। 73वां संविधान संशोधन ग्राम स्तर पर लोकतंत्र को मजबूती प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है।

12.12 शब्दावली

दशक- दस वर्ष का समय, विकेन्द्रीकृत- किसी चीज का केन्द्र या एक स्थान पर न होना, जन कल्याणकारी योजनाएँ- आम लोगों के हित की योजनाएं, सुदृढीकरण- सुधार और मजबूत करने की प्रक्रिया, प्रबलतम- मजबूत, स्वावलम्बन- आत्मनिर्भरता, नगण्य- नहीं के बराबर (अनुपस्थित), हस्तांतरण- एक स्थान से दूसरे स्थान पर, त्रिस्तरीय- तीन स्तर पर (ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत व जिला पंचायत)

12.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग्रामीण विकास और पंचायती राज व्यवस्था, 2. 73वाँ संविधान संशोधन द्वारा, 3. 33 प्रतिशत, 4. मांटेस्क्यू चेम्सफोर्स सुधार, 5. 1952, 6. 1960, 7. बलवंत राय मेहता समिति, 8. राजस्थान, 9. नागौर जिला, 10. अशोक मेहता समिति, 11. सन् 1985, 12. सिंघवी समिति

12.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम।
2. पंचायत सन्दर्भ सामाग्री, हिमालयन एक्शन रिसर्च सेन्टर।
3. भारत में पंचायती राज- के०के० शर्मा।
4. भारत में स्थानीय शासन- एस०आर० माहेश्वरी।

12.15 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत में पंचायती राज- के०के० शर्मा।
2. भारत में स्थानीय शासन- एस०आर० माहेश्वरी।
3. भारतीय प्रशासन- अवस्थी एवं अवस्थी।

12.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम किससे सम्बन्धित है, इस अधिनियम में मौजूद मुख्य बातों को स्पष्ट करें?
2. पंचायती राज से आप क्या समझते हैं? इसके उत्थान के लिए किए गये प्रयासों पर विस्तृत चर्चा कीजिए।

इकाई- 13 नगरीय शासन का विकास

इकाई की संरचना

- 13.0 प्रस्तावना
- 13.1 उद्देश्य
- 13.2 भारत में नगरीय शासन का महत्व
- 13.3 नगरीय शासन का विकास
 - 13.3.1 प्राचीन भारत में नगरीय शासन
 - 13.3.2 मध्यकालीन भारत में नगरीय शासन
 - 13.3.3 आधुनिक भारत (ब्रिटिश काल) में नगरीय शासन
 - 13.3.3.1 सन् 1687 से 1881 का काल
 - 13.3.3.2 सन् 1882 से 1909 का काल
 - 13.3.3.3 सन् 1927 से 1937 का काल
 - 13.3.3.4 सन् 1937 से 1947 का काल
- 13.4 स्वतंत्र भारत में नगरीय स्वशासन का विकास
 - 13.4.1 केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों द्वारा गठित समितियां और आयोग
 - 13.4.2 नगरीय विकास मंत्रालय
- 13.5 सारांश
- 13.6 शब्दावली
- 13.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 13.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 13.10 निबंधात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

लोकतंत्र का तात्पर्य यह है कि इस शासन व्यवस्था में लोगों स्वयं अपने स्वामी होते हैं, अर्थात् वे स्वयं अपनी समस्याओं के समाधान हेतु स्वयं पर शासन करते हैं। लोककल्याणकारी राज्य की संकल्पना के विकास के साथ ही साथ लोकतंत्र में लोगों की केन्द्रीयता और भी बढ़ गई। राज्य के कार्यक्षेत्र में विस्तार ने इस बात पर विशेष बल दिया कि लोग स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान करें, क्योंकि केवल केन्द्र सरकार या राज्य सरकार से हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि उनके माध्यम से सभी समस्याओं का ससमय और सटीक समाधान किया जा सके। स्थानीय समस्याओं का समाधान स्थानीय लोगों के अलावा किसी और के द्वारा सटीक तरीके से कर पाना सम्भव नहीं है। अतः इसके लिए यह आवश्यक हो गया कि हम स्थानीय स्वशासन के माध्यम से न केवल स्थानीय समस्याओं का स्थानीय समाधान निकाले बल्कि इसके माध्यम से लोकतंत्र के जड़ों को और भी अधिक मजबूत बनाएं।

स्थानीय स्वशासन की संकल्पना लोकतंत्र के विस्तार के लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसे लोकतंत्र का आधार व आधारशिला भी कहा जाता है, क्योंकि यही वह माध्यम है जिसके द्वारा नागरिकों को अपने ही मामले में प्रबन्धन करने का अवसर प्राप्त होता है। भारत में स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं कोई नई नहीं हैं बल्कि प्राचीनकाल से भारत में स्थानीय स्वशासन किसी न किसी रूप में विद्यमान रही हैं। भारत में, ब्रिटिशकाल में

स्थानीय स्वशासन शुरूआत सन् 1687 से मानी जाती है जब मद्रास कॉरपोरेशन की स्थापना हुई। स्वतंत्र भारत में स्थानीय स्वशासन की संरचना बहुत हद तक ब्रिटिश ढाँचे से मिलती जुलती है। भारत में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को दो वर्गों में विभाजित किया गया है- ग्रामीण और शहरी। ग्रामीण क्षेत्रों में त्रिस्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था अपनाई गई है- जिला परिषद्, पंचायत समिति और ग्राम पंचायत जिसे पंचायती राज कहते हैं तथा नगरों में नगर निगम (बड़े नगरों में) और नगरपालिका (छोटे नगरों में) के रूप में स्थापित किया गया है। स्वतंत्र भारत में स्थानीय स्वशासन की इकाइयों का विकास बड़ी ही तीव्र गति से हुआ है। भारत में स्थानीय शासन को संघीय व्यवस्था के अंतर्गत केन्द्र व राज्य में शक्तियों के बंटवारे में राज्य सूची के अधीन रखा गया है तथा 1993 में दो संविधान संशोधनों- 73वाँ और 74वाँ, के माध्यम से संवैधानिक दर्जा भी प्रदान कर दिया गया है।

लोकतंत्र की सबसे महत्वपूर्ण विशिष्टता यह है कि यह शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर बल देती है और शक्ति के विकेन्द्रीकरण की जब बात होती है तो स्थानीय स्वशासन की संकल्पना महत्वपूर्ण हो जाती है, जिसके बिना विकेन्द्रीकरण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को बृहद रूप से दो वर्गों में विभाजित कर समझा जा सकता है- ग्रामीण स्वशासन तथा शहरी अथवा नगरीय स्वशासन। इस इकाई में हम स्थानीय स्वशासन के अंतर्गत भारत में नगरीय स्वशासन के विकास का अध्ययन करेंगे।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नगरीय स्वशासन के महत्व को जान सकेंगे।
- भारत में नगरीय स्थानीय स्वशासन के विकास को समझ सकेंगे।
- भारत के वर्तमान नगरीय स्थानीय स्वशासन की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।

13.2 भारत में नगरीय शासन का महत्व

भारत में नगरीय शासन का इतिहास बहुत ही पुराना रहा है जिसके सन्दर्भ में पिछली इकाई में चर्चा की जा चुकी है। नगरीय शासन में समय-समय पर कई परिवर्तन भी किए गए, इसलिए नगरीय शासन का इतिहास कई उतार-चढ़ाव से गुजरा है। भारत में लोकतंत्र की स्थापना का आधार कहे जाने वाले स्वशासन की इकाइयों में नगरीय शासन अत्यंत ही महत्वपूर्ण माना जाता रहा है। विकास के दौर में भारत भी विश्व के अन्य देशों के समकक्ष आगे बढ़ रहा है और समय के साथ-साथ भारत में भी शहरों का निरंतर विकास और प्रसार हो रहा है, जिसके कारण नगरीय शासन के अंतर्गत नवीन चुनौतियाँ भी आ रही हैं। वर्तमान में भारत में लगभग सौ से भी अधिक नगर निगम, 14 सौ से अधिक नगरपालिकाएं तथा 02 हजार से भी अधिक नगर पंचायत हैं। प्रत्येक पांच वर्ष में 32 लाख से भी अधिक सदस्यों का चुनाव इन निकायों में होता है, जिनमें से लगभग 10 लाख महिला प्रतिनिधि भी हैं। यदि भारत में कुल विधान सभाओं और संसद को मिला लिया जाए तब भी कुल जन प्रतिनिधियों की संख्या मात्र 05 हजार है। अतः नगरीय स्वशासन के निकायों ने बड़े पैमाने पर जन प्रतिनिधित्व को बढ़ावा दिया है। इतना ही नहीं बल्कि वर्तमान में लगभग 30 महिला मेयर हैं, नगरपालिकाओं में 05 सौ से भी अधिक महिला अध्यक्ष हैं तथा नगर पंचायतों में भी लगभग 650 नगर पंचायत महिलाओं के नेतृत्व में हैं। भारत में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की जनसंख्या क्रमशः 16.2 तथा 8.2 प्रतिशत है और आरक्षण की व्यवस्था के माध्यम से वर्तमान में लगभग 6.6 लाख प्रतिनिधि नगरीय स्वशासन की इकाइयों में निर्वाचित हैं। इन नगरीय स्वशासन की इकाइयों ने न केवल लोकतंत्र का प्रसार किया है, बल्कि इनके माध्यम से महिलाओं तथा समाज के वंचित वर्गों का सशक्तिकरण भी सम्भव हो सका है। ऐसे में नगरीय शासन के वर्तमान स्वरूप को समझना और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है जिसके लिए सर्वप्रथम नगरीय स्वशासन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा इसके विकास को

समझना अत्यंत आवश्यक है। इस इकाई में हम नगरीय स्वशासन के विकास को चरणबद्ध तरीके से समझने का प्रयास करेंगे।

13.3 भारत में नगरीय शासन का विकास

भारत में नगरीय शासन के विकास को समझने के लिए इसे मुख्यतः तीन चरणों में विभाजित करके देखा जा सकता है- प्रथम, प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन; द्वितीय, मध्यकालीन भारत में स्थानीय स्वशासन; तृतीय, आधुनिक भारत में नगरीय स्थानीय स्वशासन। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रथम तथा द्वितीय चरण में नगरीय स्वशासन के विकास को दर्शाना कठिन हो जाता है जबकि तृतीय चरण में नगरीय स्वशासन के विकास को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, क्योंकि प्रथम दो चरणों में भारत मुख्यतः गाँवों का देश ही था। यद्यपि शहरों के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता परन्तु प्राचीन तथा मध्यकाल में कुछ गिने-चुने नगर ही थे जो अत्यंत ही समृद्ध थे। शहरों का विकास स्पष्ट रूप से ब्रिटिश शासन के अंतर्गत ही हो सका जब ब्रिटिश शासन के द्वारा शहरों के विकास पर बल दिया गया। अतः इकाई के इस भाग में हम प्राचीन भारत तथा मध्य भारत में स्थानीय स्वशासन के विकास को दर्शाने के क्रम में नगरीय स्वशासन की इकाइयों के विकास को समझने का प्रयास करेंगे तथा आधुनिक भारत (ब्रिटिश काल) में नगरीय स्वशासन की इकाइयों के विकास को चरणबद्ध प्रकार से समझने का प्रयास करेंगे।

13.3.1 प्राचीन भारत में नगरीय शासन

रामायण के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में भारत में स्थानीय स्वशासन कितना महत्वपूर्ण और समृद्ध था। उस काल में प्रशासन दो भागों में विभाजित हुआ करता था- 'पुर' और 'जनपद'। ग्रामों की गणना जनपद में की जाती थी तथा वहाँ के निवासी 'जानपदा' कहलाते थे। इसके साथ ही 'ग्राम', 'महाग्राम' तथा 'घोष' का भी उल्लेख रामायण में मिलता है। ग्राम के निकट स्थित नगरों को 'पट्टन' कहा जाता था, जो कि उस समय जनपदों के लिए मंडी का काम करते थे। रामायण में 'श्रेणी' तथा 'नैगम' जैसी संस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु उनके संगठन पर विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है। महाभारत के शांतिपर्व में उल्लिखित है कि शासन की सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' होगी, जिसके ऊपर क्रमशः दस, बीस, शत तथा सहस्र ग्राम-समूहों की इकाइयाँ होंगी। ग्रामों के अतिरिक्त राज्य में कुछ छोटे व बड़े नगर भी थे। इन नगरों के शासन का अधिकारी अथवा प्रमुख 'चिन्तक' कहलाता था। उसका कार्य अपने अधीनस्थों के कार्यों का निरीक्षण करना था। चिन्तक यह सुनिश्चित करता था कि उसके अधीनस्थों के द्वारा प्रजा के प्रति अन्याय न हो तथा उसका यह भी दायित्व था कि वह प्रजा की रक्षा भी करे। शांतिपर्व में सचिव का भी उल्लेख मिलता है, जो सभी प्रादेशिक अधिकारियों के कार्यों का निर्देशन करता था। ग्राम तथा ग्रामों के प्रधान के साथ ही साथ निगमों व उनके प्रधानों का भी उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति में मनु ने भी स्थानीय स्वशासन के व्यवस्थित स्वरूप पर बल दिया था तथा शासन की शक्तियों एवं कार्यों के विकेन्द्रीकरण के महत्व को स्पष्ट करते हुए इस बात पर बल दिया कि प्रजा में स्वशासन के गुणों का विकास भी होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने राजा को एक पृथक उत्तरदायी मंत्री के पद सृजन का भी परामर्श दिया था। कौटिल्य ने अपनी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में नगर के लिए 'पुर' शब्द का प्रयोग किया था तथा पुर के प्रधान अधीक्षक को नागरिक कहा है। नागरिक को नगर की संपूर्ण कानून व्यवस्था तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए उत्तरदायी माना है। कौटिल्य ने नगर को कई भागों में विभक्त कर नगर के प्रत्येक एक चौथाई भाग को जिस अधिकारी के अधीन रखा उसे 'स्थानिक' नाम दिया गया तथा प्रत्येक दस, बीस, चालीस परिवारों पर एक 'गोप' की नियुक्ति की व्यवस्था बताया, जिसका कार्य न केवल इन परिवारों के स्त्री व पुरुषों की जाति, गोत्र, नाम तथा व्यवसाय की जानकारी रखना था, अपितु उनकी आय एवं व्यय की जानकारी रखना भी था। ये स्थानीय संस्थायें सम्राट के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से मुक्त हुआ करती थीं।

चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में भी शासन के विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाया गया। मेगस्थनीज के उस समय के पाटलिपुत्र नगर के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि नगर का कार्यभार पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियों में विभक्त था, जिनका कार्य उचित बाट एवं माप, व्यापार व वाणिज्य का निरीक्षण, जन्म-मृत्यु के अभिलेखों को रखना, विदेशियों का स्वागत-सत्कार, बिक्रीकर की वसूली आदि था। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत में सातवाहन शासनकाल में नगरों व ग्रामों में स्थानीय राजनीतिक संस्थाएँ हुआ करती थीं। पश्चिमोत्तर भारत के कुषाण व अवन्ति के महाक्षत्रपों तथा गुप्त साम्राज्य के बीच में भद्रगण से लेकर खरपारिक गण तक छोटे-छोटे गणराज्य हुआ करते थे। गुप्तकाल में भी राजतंत्र में अनेक गणतंत्र थे, जो अपने आंतरिक मामलों में काफी हद तक स्वतंत्र हुआ करते थे।

13.3.2 मध्यकालीन भारत में नगरीय शासन

मध्यकालीन भारत में भी स्थानीय स्वशासन प्रचलित था। मध्यकाल का प्रारम्भ जो कि सल्तनत काल कहलाता है, इसमें दिल्ली के सुल्तान को इस बात का ज्ञात था कि इतने बड़े साम्राज्य को एक केन्द्र से संचालित कर पाना सम्भव नहीं है और न ही पूरे साम्राज्य पर सीधा नियंत्रण रख पाना सम्भव है। अतः उस काल में उन्होंने भी अपने साम्राज्य को विभिन्न प्रान्तों में विभाजित किया था। प्रान्त के प्रमुख को 'अमीर' अथवा 'वाली' कहा जाता था। उनका दर्जा अर्ध स्वतंत्र शासक के समकक्ष होता था। अर्थात् उनके कार्यों में सम्राट द्वारा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। इन प्रान्तों को भी छोटी इकाईयों 'शिक' में विभक्त किया गया था और 'शिक' के प्रमुख को 'शिकदार' कहा जाता था। शिक के उपरान्त छोटी इकाई के रूप में 'परगना' हुआ करती थी और परगने के बाद की इकाई 'मोंगा' अथवा 'गाँव' थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारत में भी प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण पर बल दिया गया था और स्थानीय निकायों को स्वायत्ता भी प्राप्त थी। हालांकि नगरीय शासन और ग्रामीण शासन में विभेद कर पाना कठिन था।

13.3.3 आधुनिक भारत (ब्रिटिश काल) में नगरीय शासन

ब्रिटिश शासनकाल में स्थानीय शासन का आरम्भ 1687 से मानी जाती है जब मद्रास में एक नगर निगम की स्थापना की गई। 1687 से उसका इतिहास कई उतार-चढ़ाव से प्रभावित रहा है। हर काल की अपनी एक विष्टिता रही है तथा कुछ निश्चित उद्देश्य रहे हैं।

13.3.3.1 सन् 1687 से 1881 का काल

भारत में नगरीय शासन की प्रारम्भ सन् 1687 से माना जाता है, जब इस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा सन् 1687 में मद्रास में नगर निगम की स्थापना की गई। इसे करों के संग्रह के अलावा दीवानी व फौजदारी मामलों का अभिलेख न्यायालय भी बनाया गया था। सन् 1726 में बम्बई तथा कलकत्ता में भी नगरपालिका निकायों की स्थापना की गई। सन् 1773 में रेग्युलेंटिंग एक्ट के अंतर्गत प्रेसीडेन्सी नगरों में 'जस्टिश ऑफ पीस' की नियुक्ति की गई, जिनका कार्य अपने नगरों की सफाई व्यवस्था और स्वास्थ्य की व्यवस्थाओं का पर्यवेक्षण करना था। सन् 1793 के अधिकार-पत्र अधिनियम द्वारा इन प्रेसीडेन्सी नगरों में नगर प्रशासन की स्थापना का उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल को सौंपा गया। उसे इस हेतु मद्रास, बम्बई व कलकत्ता में शांति दण्डाधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार भी दिया गया। सन् 1863 में कलकत्ता में भी नगर निगम की स्थापना की गई। वर्ष 1870 स्थानीय शासन के विकास की दृष्टि से अत्यंत ही महत्वपूर्ण रहा। सन् 1970 के रॉयल चार्टर के माध्यम से भारत के तीनों प्रेसीडेन्सी नगरों मद्रास, बाम्बे तथा कलकत्ता में मेयर कोर्ट की स्थापना की गई। ये कोर्ट प्रशासनिक कम और न्यायिक अधिक थे। सन् 1842 में बंगाल अधिनियम पारित हुआ, जिसके माध्यम से नगर समिति का गठन किया गया। इसका उद्देश्य नगर की सफाई व्यवस्था की देख-रेख करना था, परन्तु यह सफल न हो सका। सन् 1850 में सम्पूर्ण भारत के लिए

एक अधिनियम पारित किया गया, जिसका उद्देश्य नागरिकों के आवेदन के आधार पर स्थानीय समितियों का गठन करना था, जो कि स्वास्थ्य तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करें। परन्तु यह समिति भी ऐच्छिक ही थी, जो कि स्थानीय लोगों की मांगों के आधार पर बनाई जानी थी।

सन् 1863 में रॉयल आर्मी सेनिटेशन आयोग के द्वारा सरकार का ध्यान शहरों में फैलती गंदगी की ओर आकृष्ट किया गया, जिसके उपरान्त सरकार ने विभिन्न प्रान्तों के गवर्नरों को यह अधिकार सौंप दिया कि वे अपने प्रांत के अधीन आने वाले नगरों में निगमों की स्थापना कर सकते हैं। वे इन निगमों के सदस्य के रूप में न्यूनतम पांच तथा उससे भी अधिक सदस्यों की नियुक्ति कर सकते हैं।

सन् 1870 में लॉर्ड मेयो के प्रस्ताव को प्रकाशित किया गया, जिसमें यह कहा गया कि शासन का विकेन्द्रीकरण करने के लिए प्रान्तों को अधिक शक्तियाँ दी जाये तथा भारतीयों का प्रतिनिधित्व भी बढ़ाया जाए। इस प्रस्ताव के अंतर्गत स्थानीय निकायों में चुनाव कराए जाने के सिद्धान्त को भी लागू करने पर बल दिया गया। इस सिद्धान्त के लागू होने पर न केवल नगरीय स्थानीय स्वशासन को बढ़ावा मिला, बल्कि स्थानीय वित्त की व्यवस्था भी सुनिश्चित की गई। परन्तु व्यवहार में चुनाव के सिद्धान्त को कहीं आंशिक तो कहीं-कहीं पूर्ण रूप से अपनाया गया और अधिकतम मामलों में सदस्य मनोनीत ही किए जाते रहे। यह स्थानीय शासन की व्यवस्था तो कहीं से भी नहीं बन पायी, परन्तु इतना अवश्य सम्भव हो गया कि कुछ स्थानीय प्रबुद्ध वर्गों को सरकार द्वारा मनोनीत कर लिया गया, जिससे स्थानीय समस्याओं का समाधान किया जा सके। परन्तु सरकार पूर्ण रूप से इन निगमों पर अपना नियंत्रण स्थापित किए हुए थी।

लॉर्ड मेयो के प्रस्ताव में शक्तियों के विकेन्द्रीकरण तथा भारतीयों को प्रशासन से सम्बद्ध करने की आवश्यकता पर बल देते हुए इस हेतु नगर प्रशासन को सर्वाधिक उपयुक्त मानकर म्युनिसिपल संस्थाओं को सशक्त बनाने का सुझाव दिया गया। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि इस काल में स्थानीय शासन को केन्द्र तथा प्रान्तों के वित्तीय बोझ को हल्का करने का साधन माना जाता रहा और इसी रूप में उसका प्रयोग किया जाता रहा। इस काल में निगमों के विकास को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार की मंशा कहीं से भी स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को सशक्त करना नहीं थी, बल्कि इनका प्रयोग केवल सरकार के हितों में ही किया गया, जिससे सरकार पर पड़ रहे अतिरिक्त वित्तीय बोझ को हल्का किया जा सके। इन इकाइयों में ब्रिटिश लोगों का प्रतिनिधित्व अधिकतम था और भारतीयों को केवल नाममात्र प्रतिनिधित्व दिया गया।

13.3.3.2 सन् 1882 से 1909 का काल

1880 में लॉर्ड रिपन भारत के वाइसराय बनें। भारत में नगरीय शासन के विकास का अगला चरण लॉर्ड रिपन के प्रसिद्ध प्रस्ताव से होती है जो 18 मई 1882 में दिया गया। इनके शासनकाल का सबसे महत्वपूर्ण कार्य 1882 का स्थानीय स्वशासन का प्रस्ताव था। इस प्रस्ताव को स्थानीय स्वशासन के विकास में एक मील का पत्थर माना जाता है। यह भारत में स्थानीय शासन का आधार बना और इसी लिए लॉर्ड रिपन को भारत में स्थानीय शासन का जनक भी माना जाता है। रिपन देश के नगरपालिकाओं को विकसित करना चाहते थे। उसके अनुसार इन्हीं संस्थाओं से देश की राजनीतिक शिक्षा का आरम्भ हो सकता है। इस प्रस्ताव में यह सुझाव दिया गया कि संपूर्ण भारत में स्थानीय निकायों की जाल बिछा दी जाए; सरकारी प्रतिनिधियों की संख्या कुल प्रतिनिधियों की तिहाई कर दी जाए; वित्तीय विकेन्द्रीकरण कर दिया जाए; तथा चुनाव को स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के गठन का आधार बना दिया जाए। इनका मुख्य उद्देश्य देश के प्रशासन को ही उत्तम बनाना नहीं था, बल्कि राजनीतिक और लोगों की शिक्षा का साधन बनाना भी था। ग्रामीण प्रदेशों में स्थानीय बोर्डों की स्थापना की गई। प्रत्येक जिले में जिला उपविभाग, तालुका अथवा तहसील बोर्ड बनाने की स्वीकृति मिली। इन स्थानीय निकायों को निश्चित कार्य दिए गए और आय के साधन भी चिन्हित कर दिए गए। इन संस्थाओं में गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या अधिक रखे

जाने पर बल दिया गया। सरकार के हस्तक्षेप को कम करने के उद्देश्य से आशा की गई कि सरकार इन्हें आदेश न दें बल्कि इनका मार्गदर्शन करें। बोर्ड के अध्यक्ष इन्हीं निकायों के सदस्यों द्वारा चुने जाए। प्रस्ताव को प्रत्येक प्रांत को अपनी परिस्थितियों के अनुसार लागू करने का सुझाव दिया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु 1883-85 के बीच अनेक प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन अधिनियम पारित किए गए। प्रारम्भ में लॉर्ड रिपन के इन सुझावों ने नगरीय शासन में बड़े पैमाने पर सुधार लाया। बड़े पैमाने पर चुने हुए प्रतिनिधि व अध्यक्ष अस्तित्व में आए। परन्तु समय के साथ-साथ इन सुधारों पर प्रशासन की रूढ़िवादिता हावी हो गई। नौकरशाही भारतीयों को स्वशासन के योग्य नहीं समझती थी। लॉर्ड कर्जन ने इन सभी उदारवादी नीतियों का विरोध किया तथा स्थानीय संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण को बढ़ा दिया। लॉर्ड कर्जन की दृष्टि में यह सुधार बहुत अधिक क्रांतिकारी थे, जिनसे प्रशासनिक कुशलता प्रभावित हो रही थी इसलिए उन्होंने राजीनतिक शिक्षा के स्थान पर प्रशासनिक कुशलता को अधिक महत्व दिया। उपायुक्त इन संस्थाओं पर हावी होने लगे जिनके पास इन संस्थाओं पर नियंत्रण और पर्यवेक्षण का अधिकार था। चुनाव भी सफल न हो सके, क्यों कि यह व्यस्क मताधिकार नहीं था। चुनाव में नगर की कुल दो प्रतिशत जनसंख्या ही हिस्सा ले सकती थी। इस प्रकार लॉर्ड रिपन द्वारा किए गए सुधार आंशिक रूप से ही सफल हो सके। लॉर्ड रिपन के शिक्षित करने का सिद्धान्त अधूरा रह गया और पूरा ध्यान प्रशासनिक कार्यकुशलता पर केन्द्रित कर दिया गया। उपायुक्त ही पूरे जिले में प्रभावशाली रह गया। लोगों में इतनी नागरिक चेतना का अभाव दिखा कि वे इन स्वशासन की इकाइयों को भली-भाँति संचालित कर सके। परन्तु लॉर्ड रिपन का योगदान खाली नहीं गया। उनके द्वारा किए गए सुधारों को वर्तमान में भी स्वशासन का आधार माना जाता है।

सन् 1907 में स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में एक नया मोड़ आया जब 'विकेन्द्रीकरण पर रॉयल आयोग' की स्थापना की गई, जिसका कार्य केन्द्र, प्रान्त तथा इसके अधिनस्थ इकाइयों के मध्य वित्तीय व प्रशासनिक सम्बन्धों का अध्ययन करना था। आयोग ने स्थानीय स्वशासन के विषय का गहन अध्ययन किया तथा इनकी विफलता के लिए निम्न निष्कर्ष निकाले- अत्यधिक सरकारी नियंत्रण; मताधिकार का अधिकार का संकुचित होना; अत्यल्प संसाधन; शिक्षा और प्रशिक्षण का अभाव; योग्य और समर्पित लोगों की कमी; सेवाओं पर स्थानीय निकायों का अपर्याप्त नियंत्रण। रॉयल कमीशन ने रिपोर्ट में लिखा कि धन का अभाव ही स्थानीय संस्थाओं के प्रभावशाली ढंग से काम न करने में प्रमुख बाधा बनी हुई है। आयोग ने स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को मजबूत बनाने हेतु अनेक सुझाव दिए।

अतः शक्ति के विकेन्द्रीकरण और क्रमिक लोकतांत्रिकरण के लिए आयोग ने निम्न सिफारिशों की- अध्यक्ष गैर-सरकारी जन प्रतिनिधि हो; अधिकतम सदस्य गैर-सरकारी जन प्रतिनिधि हों; स्वशासन की इकाइयों को अधिक वित्तीय स्वायत्ता तथा बजट पर नियंत्रण प्रदान किया जाए; बड़े नगरपालिकाओं को और भी अधिक शक्ति प्रदान की जाए जिससे वे अधिशासी अधिकारियों के साथ ही साथ शिक्षित स्वास्थ्य अधिकारियों को नियुक्त कर सकें।

1915 में भारतीय सरकार के प्रस्ताव में इन सिफारिशों पर प्रतिक्रिया दी गई। प्रस्ताव में नए कर्तव्यों का सुझाव अस्वीकृत कर दिया गया और आयोग के सुझाव केवल कागजी कार्यवाही ही बने रहे। 28 अप्रैल 1915 के प्रस्ताव में भारत सरकार ने इन सुझावों के क्रमिक कार्यन्वयन का सुझाव दिया। पंजाब वह पहला प्रांत था जिसने सर्वप्रथम रॉयल आयोग की सिफारिशों के आधार पर सन् 1911 में नगरपालिका अधिनियम पारित किया। इसी प्रकार अन्य प्रान्तों ने भी अधिनियम पारित किए। इस अधिनियम के तहत नगरपालिकाओं पर सरकारी नियंत्रण को कम करने, चुनाव की प्रक्रिया को अपनाने तथा चुनाव के माध्यम से अध्यक्ष को चुनने की व्यवस्था की गई थी। परन्तु व्यवहार में नगरीय शासन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया क्यों कि यह भी प्रयास किया गया था कि इसके पूर्व के अधिनियमों के प्रावधानों को पूर्ण रूप से न खारिज किया जाए। 1908 से लेकर 1918 तक चुने गए प्रतिनिधियों की संख्या में बढ़ोत्तरी तो दूर की बात थी, बल्कि इसमें कमी आने लगी थी। भारत शासन अधिनियम 1909 में विधान परिषदों में साम्प्रदायिक मतदान की व्यवस्था की गई थी। 1910 में मुस्लिम लीग ने स्थानीय

चुनावों में भी साम्प्रदायिक आधार पर मतदान करवाने की मांग की। कई मामलों में साम्प्रदायिक मतदान को स्वीकार भी कर लिया गया परन्तु इसने स्थानीय शासन की व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला जिससे इसका विकास अवरूद्ध हो गया। मई 1918 में मॉन्टफोर्ड सुझाव में कहा गया कि स्थानीय संस्थाओं को प्रतिनिधि संस्था बना दिया जाए। उन पर नियंत्रण कम हो और उन्हें गलतियों से सीखने दिया जाए। रॉयल कमीशन के सुझावों को उन्होंने पृष्ठांकित किया तथा नगरपालिकाओं को कर लगाने के अधिक अधिकार दे दिये गये।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इस चरण में नगरीय शासन के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिसके कारण लोकतंत्र का प्रसार हुआ और स्थानीय निकायों को वित्तीय दायित्व भी सौंपे गये।

13.3.3.3 सन 1927 से 1937 तक का काल

इस काल में भारत तथा ब्रिटेन में भारत के स्वतंत्रता संग्राम का दबाव बढ़ता जा रहा था। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता के समर्थन की आवश्यकता थी इसलिए ब्रिटिश सरकार ने 20 अगस्त 1917 की ऐतिहासिक घोषणा की जिसके द्वारा भारतीयों को प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भागीदारी का अवसर प्रदान करने की बात की गई तथा स्थानीय शासन के माध्यम से भारत में उत्तरदायी सरकार के निर्माण पर बल दिया गया। सन् 1918 के मॉन्टेग-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन में स्वशासन को पूर्णतः प्रतिनिधिक और उत्तरदायी बनाए जाने की सिफारिश की गई। इसी आधार पर 16 मई 1918 के भारत सरकार के प्रस्ताव में प्रान्तों को यह सुझाव दिया गया कि नगरपालिका बोर्डों में अधिकतम सदस्य निर्वाचित हों, मतदान के अधिकार को और भी नीचले स्तर तक ले जाया जाए जिससे अधिकतम लोगों को यह अधिकार प्राप्त हो सके और साथ ही साथ इन निकायों का अध्यक्ष भी गैर-सरकारी तथा निर्वाचित हो। क्योंकि अब तक केवल नगरों के छः प्रतिशत लोगों को ही मतदान का अधिकार प्राप्त था तथा दो तिहाई अध्यक्ष सरकारी अधिकारी ही थे। बोर्डों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे संवैधानिक दायरे में रहते हुए स्थानीय करारोपण कर सकते हैं परन्तु व्यय बजट द्वारा तय सीमा तक ही की जा सकेगी। उन्हें यह भी अधिकार दे दिया गया कि वे किस मद में कितने राजस्व का व्यय करेंगे उसका निर्धारण वे स्वयं करें। बाहरी नियंत्रण को भी सीमित कर दिया गया। सरकार केवल उन्हीं मामलों में हस्तक्षेप करेगी जब उसे ऐसा प्रतीत होगा कि कोई बोर्ड अपने कार्यों का संचालन करने में अयोग्य हो गई है। अल्पसंख्यकों को पृथक मताधिकार न प्रादन कर उन्हें मनोनीत करने की व्यवस्था को अपना लिया गया। हालांकि पंजाब प्रान्त में इसे अपनाने का प्रयास किया गया परन्तु इस कार्य में असफल होने के बाद पुनः पृथक मताधिकार प्रदान करने की व्यवस्था को अपना लिया गया। इसके पश्चात कई नगरों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था अपनाई गई।

भारत शासन अधिनियम 1919 ने द्वैध-शासन व्यवस्था को स्थापित किया। स्थानीय स्वशासन को प्रांतीय विधायिका के प्रति उत्तरदायी लोकप्रिय मंत्री के अधीन रख दिया गया। इस अधिनियम के तहत करों की एक सूची तैयार की गई जिसे केवल स्थानीय निकाय ही आरोपित कर सकते थे तथा वे कर केवल स्थानीय निकायों के लिए ही लगाए जा सकते थे। इससे स्थानीय निकायों को और भी अधिक स्वायत्तता प्राप्त हो गई। कई प्रान्तों में नगरपालिका अधिनियमों में संशोधन भी किया गया जिसके द्वारा इन स्थानीय निकायों को और भी अधिक स्वायत्तता प्रदान की गई, निकायों को और भी अधिक प्रतिनिधिक बनाया गया और गैर-सरकारी अध्यक्षों की व्यवस्था भी सुनिश्चित की गई। इन प्रयासों ने निःसंदेह स्थानीय स्वशासन को और भी अधिक लोकतांत्रिक बनाया परन्तु प्रशासनिक कार्यकुशलता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ने लगा। कई नगरपालिकाओं पर भ्रष्टाचार के मामले चलने लगे। यह महसूस किया गया कि स्थानीय स्वशासन की इकाइयों में भ्रष्टाचार और कार्यकुशलता में गिरावट का मुख्य कारण यह था कि जब इन निकायों को सलाह, मार्गदर्शन और नियंत्रण की आवश्यकता सबसे अधिक थी, तब इन्हें सरकारी नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया। अतः प्रशासनिक कार्यकुशलता को बढ़ाने और भ्रष्टाचार पर आवश्यक अंकुश लगाने हेतु प्रांतीय सरकारों को नगरपालिका कार्यकारी अधिकारी का पद सृजित करने के लिए

कहा गया। 1920 में 1919 के भारत सरकार अधिनियम लागू होने पर स्थानीय शासन हस्तांतरित विषय बन गया जिसका नियंत्रण लोकप्रिय शक्तियों के अधीन हो गया। केन्द्रीय सरकार ने प्रांतीय सरकारों को इस विषय में निर्देश देने बंद कर दिए और प्रत्येक प्रांत को अपनी-अपनी आवश्यकता अनुसार स्वयत्त संस्थाओं का विकास करने की अनुमति मिल गई। स्थानीय करों व प्रांतीय कारों की सूची को अलग कर दिया गया। परन्तु वित्त अभी भी आरक्षित विषय था, अतः भारतीय मंत्री इस विषय में कुछ नहीं कर सके। स्वशासन की इस क्रियान्विति का मूल्यांकन 1930 में साइमन आयोग ने किया और इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि उत्तर प्रदेश, बंगाल व मद्रास के अतिरिक्त तथा ग्राम पंचायतों के क्षेत्र में इन संस्थाओं में कोई उन्नति देखने को नहीं मिली। स्वायत्त संस्थाओं की दशा 1919 के बाद बिगड़ गई है। अतः आयोग ने सुझाव दिया कि इन स्वायत्त संस्थाओं पर सरकार का नियंत्रण बढ़ा देना चाहिए। इस काल में प्रान्तों द्वारा जो विभिन्न अधिनियम बनाये उनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित विशेषताएं थीं- स्थानीय संस्थाओं का गठन प्रायः पूर्णरूप से निर्वाचन के आधार पर रखते हुए निर्वाचक मण्डल का भी विस्तार किया गया; स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के अध्यक्ष पद पर गैर-सरकारी व्यक्ति की नियुक्ति को स्वीकृति दी गई; स्थानीय संस्थाओं को अधिक प्रशासनिक शक्तियाँ प्रदान की गई; स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को वित्तीय क्षेत्र में पहले से अधिक शक्तियाँ दी गई थीं।

अतः यह देखा जा सकता है कि इस काल में नगरीय स्वशासन के निकायों को लोकतांत्रिक आधार पर संचालित करने के प्रयास किये गये जिससे स्थानीय प्रशासनिक कार्यकुशलता में कमी आई। इस काल में नगरीय निकायों के कार्यपद्धति को न ही पूर्ण रूप से विफल और न ही सफल माना जा सकता है। कुछ प्रान्तों में इन निकायों के द्वारा अच्छा प्रदर्शन किया गया तो कुछ प्रान्तों में यह प्रयोग विफल हो गया।

13.3.3.4 सन् 1937 से 1947 तक का काल

इस काल में स्थानीय शासन जीर्णोद्धार तथा पुनर्निर्माण की अवस्था में था। भारत शासन अधिनियम 1935 के तहत प्रांतीय स्वायत्तता ने नगरपालिकाओं को और भी प्रोत्साहन प्रदान किया। इस अधिनियम के माध्यम से प्रान्तों में द्वैद शासन को समाप्त कर दिया गया। स्थानीय सरकार को प्रांतीय विषय के रूप में मान्यता दे दी गई। परन्तु इस अधिनियम में स्थानीय सरकारों के लिए कोई कर की व्यवस्था नहीं की गई थी। इस परिवर्तन से स्थानीय सरकारों को नुकसान हुआ, क्योंकि जिन करों का रोपण पूर्व में पूर्णतयः स्थानीय माना जाता था, उन करों के रोपण का अधिकार भी प्रांतीय सरकारों को मिल गया। इसी दौरान द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारम्भ 1939 में हो गया जिसके कारण प्रांतीय स्वायत्तता प्राप्त होने के बावजूद भी स्थानीय निकायों का सशक्तिकरण सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि सभी का ध्यान स्थानीय स्वशासन से उठ कर केवल सुरक्षा तक ही सीमित रह गया जिसकी देख-रेख पूर्णरूप से जिला प्रशासन के स्तर से होनी थी। सन् 1947 में ब्रिटिश भारत को छोड़कर चले गए और स्थानीय निकायों का विकास पूर्ण रूप से कर पाने में अक्षम रह गए। 1935 के अधिनियम को 1937 में प्रांतीय भाग में लागू किए जाने से प्रान्तों में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को और भी अधिक गति मिली। लोकप्रिय सरकारें वित्त का नियंत्रण करती थीं और इसीलिए इन संस्थाओं को अधिक धन उपलब्ध करा देती थीं, प्रांतीय स्थानीय करों के बीच जो पृथक्कीकरण था वह समाप्त हो गया। लगभग सभी प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं को अधिक कार्यभार दे दिया गया। परन्तु उनकी कर लगाने की शक्तियाँ लगभग वही रहीं, अपितु कुछ कम कर दी गई अर्थात् चुंगी बढ़ाने, व्यापारों, व्यवसायों तथा सम्पत्ति पर कर लगाने की शक्तियाँ कम कर दी गईं। विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशों को अनदेखा कर दिया गया। स्वतंत्रता के समय नये करों को लगाने के लिए प्रान्तीय सरकारों से आज्ञा लेनी आवश्यक थी।

13.4 स्वतंत्र भारत में नगरीय स्वशासन का विकास

15 अगस्त सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। 26 जनवरी सन् 1950 में भारतीय संविधान लागू हुआ, जिसमें भारत को एक सम्प्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में स्थापित किया गया। स्वतंत्र होने के उपरान्त भारत के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि भारतीय लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाया जाए। इस निश्चय से स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास की नवीन आशाएं बंधीं। भारतीय संविधान में स्थानीय स्वायत्त शासन को राज्य सूची के अंतर्गत रखा गया। संविधान के चौथे अध्याय राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अंतर्गत अनुच्छेद- 40 में राज्य को निर्देशित किया गया कि वह ग्राम पंचायतों का गठन अधिक अच्छे ढंग से करे और उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में अधिक अच्छे ढंग से कार्य करने के लिए समर्थ बनाने की भावना से उन्हें आवश्यक शक्तियाँ प्रादान की जानी चाहिए, परन्तु नगर स्थानीय निकायों के बारे में कोई निर्देश नहीं था। नगर स्थानीय इकाइयों का संदर्भ केवल संविधान की राज्य तथा समवर्ती सूचियों में पाया जाता है। राज्य सूची में क्रमांक 05 पर यह अंकित है, “स्थानीय शासन अर्थात् स्थानीय स्वशासन अथवा ग्राम प्रशासन हेतु नगरमहापालिकाओं, इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों, जिला बोर्डों, खनन बंदोबस्त सत्ताओं तथा अन्य स्थानीय सत्ताओं का गठन तथा शक्तियाँ।” समवर्ती सूची के क्रमांक 20 पर “आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन” अंकित है, जिसके अंतर्गत स्वाभाविक रूप से नगर नियोजन भी आता है। इस प्रकार मूल रूप से संविधान, नगर स्थानीय शासन को राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में रखता है और केन्द्र सरकार की भूमिका न्यूनाधिक रूप में परामर्शदाता तथा उत्प्रेरक की है।

स्वतंत्र भारत में एक दशक तक नगरीय शासन के क्षेत्र में महानगरों में नगर निगम तथा छोटे नगरों में नगर परिषद् या नगरपालिकाएं जिस रूप में ब्रिटिश विरासत से प्राप्त हुई थीं, उसी रूप में निरन्तर क्रियाशील बनी रहीं। यह आशा की जा रही थी कि स्वतंत्र भारत में स्थानीय इकाइयाँ राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण में सहायक सिद्ध होंगी। परन्तु संवैधानिक दर्जा प्राप्त न होने के कारण इसकी शक्तियाँ, कार्य और इसकी भूमिका पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ दशकों तक भी नगरीय स्वशासन की स्थिति कमोबेश वही बनी रही। हालांकि इसमें सुधार के प्रयास जारी रहे। यह बड़े आश्चर्य का प्रश्न है कि नगरीय स्वशासन की इकाइयों का कोई उल्लेख राज्य के नीति-निदेशक तत्वों में भी नहीं किया गया था और न ही योजना आयोग द्वारा इस पर कोई ध्यान दिया गया। सर्वप्रथम तीसरे पंचवर्षीय योजना में इसका जिक्र किया गया। इससे पूर्व प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में केवल यह आलोचना की गई कि नगरीय स्वशासन की इकाइयाँ अपने दायित्वों का निर्वाह करने में सफल नहीं हो पा रही हैं। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत यह विश्वास जताया गया कि नगरीय शासन तथा नगरों की समस्याओं का समाधान नगरीय स्वशासन की इकाइयों के द्वारा ही सम्भव है। नगरों का विस्तार हो रहा है और नगरीय जीवन के स्तर को सुधारने का कार्य इन्हीं इकाइयों के द्वारा सम्भव हो सकता है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में नगरीय भूमि के मूल्य नियंत्रण, नगर विकास के लिए मास्टर प्लान, गृह निर्माण हेतु मापदण्ड निर्धारण व विकास कार्यक्रमों के लिए इन संस्थाओं को उत्तरदायी बनाया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ग्राम-नगर सम्बन्ध समिति तथा नगरीय स्थानीय निकायों के वित्तीय संसाधनों की वृद्धि हेतु मंत्रियों की समिति (Committee on Augmentation of Financial Resources of Urban Local Bodies) द्वारा दिए गए सुझावों पर विचार किया गया कि राज्य सरकार स्थानीय स्तर पर संसाधनों में वृद्धि करने हेतु आवश्यक कदम उठाए। सप्तम् पंचवर्षीय योजना में भी योजना आयोग केवल आलोचक की भूमिका में दिखती है। इस पंचवर्षीय योजना में भी योजना आयोग का यह कहना था कि नगरीय जीवन स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है, जिसका कारण यह है कि नगरीय स्वशासन की इकाइयाँ निष्क्रिय हो गई हैं और वित्तीय संकट के कारण वे अपना कार्य कर पाने में भी सक्षम नहीं हो पा रही हैं। परन्तु हम केन्द्र व राज्य सरकारों पर ही दोषारोपण नहीं कर सकते, क्योंकि उनके द्वारा कई प्रयास निरन्तर किये जा रहे हैं जिन्हें निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है।

13.4.1 केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा गठित समितियाँ और आयोग

नगरीय स्वशासन की कार्यशैली के अध्ययन हेतु समय-समय पर केन्द्र सरकार द्वारा विभिन्न समितियों व आयोगों का गठन किया गया जो कि निम्नवत् हैं-

1. **स्थानीय वित्तीय जाँच समिति(The Local Finance Enquiry Committee) सन् 1949-51-** इस समिति के द्वारा यह सिफारिश की गई कि स्थानीय निकायों हेतु कर व्यवस्था अलग से कर दी जाए, जिसमें राज्य अथवा केन्द्र किसी का कोई हस्तक्षेप न हो।
2. **कर जाँच आयोग(The Taxation Enquiry Commission) 1953-54-** इस समिति के द्वारा यह सिफारिश की गई कि नगरीय स्वशासन की इकाइयों का खर्च उनके आय से कहीं अधिक है, इसलिए उनके आय हेतु अलग से कर व्यवस्था सुनिश्चित की जाए जिसपर किसी का कोई हस्तक्षेप न हो।
3. **नगरपालिका कर्मचारियों की प्रशिक्षण समिति(The Committee on the Training of Municipal Employees) 1963-** इस समिति ने प्रशिक्षण पर बल देते हुए नगरपालिका कर्मचारियों के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया गया कि इसके लिए केन्द्र और राज्य के स्तर पर अलग-अलग प्रशिक्षण संस्थानों की व्यवस्था की जाए। इस सिफारिश को स्वीकार करते हुए केन्द्र सरकार ने मुनिसिपल प्रशासन में प्रशिक्षण और अनुसंधान केन्द्र की स्थापना आई0आई0पी0ए0, नई दिल्ली में कर दी। इसके तुरन्त बाद प्रांतीय प्रशिक्षण और अनुसंधान केन्द्र का निर्माण लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ; उस्मानिया विश्वविद्यालय, हायद्राबाद; इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ शोसल वेलफेयर एण्ड बिजनेस मैनेजमेन्ट, कलकत्ता; तथा ऑल इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट, बाम्बे में कर दिया।
4. **ग्रामीण-नगरीय सम्बन्ध समिति(The Rural-Urban Relationship Committee) 1963-66-** इस समिति का प्रतिवेदन तीन अंकों में आया जिसके तहत विभिन्न मुद्दों पर चर्चा की गई जैसे- नगरीय विकास तथा योजना निर्माण हेतु मशीनरी; नगरीय स्थानीय निकायों की संरचना; नगरपालिका कार्मिकों की व्यवस्था; नगरीय स्थानीय निकायों का वित्त; नगरीय सामुदायिक विकास में जन भागीदारी; राज्य सरकार और नगरीय स्थानीय निकायों के मध्य सम्बन्ध; तथा ग्रामीण-शहरी सम्बन्ध। मुख्यतः इस समिति की सिफारिश यह थी कि ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों के मध्य परस्पर सहयोग और अंतर्निर्भरता को बढ़ावा दिया जाए।
5. **नगरीय स्थानीय निकायों के वित्तीय संसाधनों की वृद्धि हेतु मंत्रियों की समिति(The Committee of Ministers on Augmentation of Financial Resources of Urban Local Bodies) 1963-** वित्तीय स्थिति को सुधारने हेतु इस समिति की यह सिफारिश थी कि नगरीय स्थानीय निकायों को करारोपण के लिए क्षेत्र निश्चित कर दिए जाएं; करारोपण के अतिरिक्त आय के श्रोतों को तैयार किया जाए तथा नगरों के विकास के लिए संवैधानिक नगरीय विकास बोर्डों की स्थापना की जाए।
6. **नगरपालिका कर्मचारियों के सेवा दशा पर समिति(The Committee on Service Conditions of Municipal Employees) 1965-68-** इस समिति के यह प्रस्ताव दिया गया कि राज्य के स्तर पर ऐसे कार्मिकों को तैयार किया जाए जो स्थानीय स्वशासन की इकाइयों में भली भाँति कार्य करने योग्य हों तथा उनकी सेवा दशा बेहतर हो जिससे वे अपने कार्य को सुचारू रूप से कर सकें।

उपरोक्त के अतिरिक्त प्रशासनिक सुधार समिति के द्वारा भी नगरीय स्वशासन की इकाइयों को मजबूती देने पर बल दिया गया है। इसी क्रम में कई राज्य सरकारों के द्वारा भी समय-समय पर नगरीय स्वशासन की इकाइयों को सशक्त करने हेतु समितियों का गठन किया गया है। जैसे- असम में सन् 1969 में द फाइनान्सेज ऑफ मुनिसिपल कमिटी;

दिल्ली में सन् 1948 में द दिल्ली मुनिसिपल ऑर्गनाइजेशन एन्क्वायरी कमिटी, कमिशन ऑन फाइनेन्सेज ऑफ मुनिसिपल कॉरपोरेशन ऑफ दिल्ली, न्यू दिल्ली मुनिसिपल कमिटी 1968; गुजरात में द मुनिसिपल रैस्नलाइजेशन कमिटी 1961; हरियाणा में रिसोर्स कमिटी (लोकल बॉडिज) 1988, मुनिसिपल ग्रान्ट्स कमिशन। इसी प्रकार केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उडिसा, पंजाब, तमिलनाडु आदि में भी कई समितियों और आयोगों का गठन किया गया जिसके माध्यम से नगरीय स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को सशक्त करने का प्रयास किया गया।

इसी क्रम में स्थानीय स्वशासन के केन्द्रीय परिषद् का भी नाम उल्लेखनीय है। 1948 में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री की अध्यक्षता में केन्द्र सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने एक संगोष्ठी का आयोजन किया जिसमें यह प्रस्ताव पारित हुआ कि प्रत्येक वर्ष सभी राज्यों के स्थानीय स्वशासन मंत्री एक साथ संगोष्ठी का आयोजन करेंगे। स्थानीय स्वशासन की केन्द्रीय परिषद् का गठन राष्ट्रपति द्वारा 1954 में किया गया जिसकी अध्यक्षता पहले केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री करते थे (वर्तमान में नगरीय विकास मंत्री करते हैं) तथा उसके अन्य सदस्य सभी राज्यों के स्थानीय स्वशासन मंत्री होते हैं।

इसका कार्य स्थानीय स्वशासन से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करना; स्थानीय स्वशासन के विधायी मामलों से जुड़े सुझाव देना; स्थानीय इकाइयों के वित्तीय संरक्षण हेतु केन्द्र को सुझाव देना; तथा विभिन्न राज्यों में नगरीय स्वशासन की इकाइयों के कार्यों की विवेचना करना है। इसके अतिरिक्त केन्द्र तथा राज्य सरकारों के द्वारा नगरीय स्वशासन की इकाइयों के सशक्तिकरण हेतु समय-समय पर विभिन्न बैठकों, संगोष्ठियों तथा सेमिनारों का आयोजन भी किया जाता रहा है जैसे- द कान्फरेंसेस ऑफ ऑल इण्डिया कॉउन्सिल ऑफ मेयर्स; द मुनिसिपल कमिस्नर्स कान्फरेंस; कान्फरेंस ऑफ स्टेट मिनिस्टर्स ऑफ लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट इत्यादि।

13.4.2 नगरीय विकास मंत्रालय

सन् 1985 में स्थापित नगरीय विकास मंत्रालय नगरीय स्वशासन के क्षेत्र में एक मील का पत्थर साबित हुआ। शुरुआत में नगरीय शासन स्वास्थ्य मंत्रालय के अधीन रखा गया था। 1958 तक स्वास्थ्य मंत्रालय ही ग्रामीण व शहरी शासन की देखरेख करता था। सन् 1958 में इसे सामुदायिक विकास मंत्रालय के अधीन रख दिया गया। सन् 1966 में नगरीय विकास को “Works and Housing” मंत्रालय के अधीन किया गया जो आगे चल कर “Ministry of Works, Housing and Urban Development” बन गया। 1967 में नगरीय शासन को पुनः स्वास्थ्य मंत्रालय के अधीन रखकर इसका नामकरण “Ministry of Health, Family Planning, Works, Housing and Urban Development” के रूप में कर दिया गया। 1973 में इसे “Ministry of Works and Housing” के अधीन कर दिया गया और अंततः इस हेतु अलग से एक मंत्रालय 1973 में गठित किया गया।

परन्तु नगरीय स्वशासन की समस्याओं का अंत तब तक सम्भव नहीं था, जब तक कि इसे संवैधानिक मान्यता न प्राप्त हो। इस क्रम में सन् 1989 में संसद में नगरपालिका बिल प्रस्तुत किया गया जो कि लोक सभा में तो पारित हो गया परन्तु राज्य सभा में पारित न हो सका। इसके उपरान्त पुनः प्रयास कर सन् 1992 में 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के रूप में यह पारित हो सका जिसने नगरीय स्वशासन को संवैधानिक मान्यता प्रदान कर दी।

अभ्यास प्रश्न-

1. ब्रिटिश शासनकाल में स्थानीय शासन का आरम्भ कब से माना जाता है?
2. भारत में नगरीय स्थानीय स्वशासन को कब संवैधानिक दर्जा प्राप्त हुआ?
3. नगरीय विकास मंत्रालय की स्थापना कब हुई?
4. किस भारत शासन अधिनियम के तहत प्रांतीय स्वायत्तता की बात की गई?

13.5 सारांश

भारत में स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के विकास का इतिहास बहुत ही लम्बा रहा है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक इसके रूप में बहुत परिवर्तन आया है। परन्तु ब्रिटिश काल में स्थानीय स्वशासन की इकाइयों का विकास जिस रूप में हुआ उसने स्वतंत्र भारत के स्थानीय स्वशासन की नींव रखी और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नगरीय स्थानीय स्वशासन अपने मूल रूप में विकसित होने से पूर्व कई उतार-चढ़ाव से गुजरा। विभिन्न समितियों के सिफारिशों, संगोष्ठियों और प्रयासों के आधार पर नगरीय स्थानीय स्वशासन की इकाइयों का विस्तार हुआ और अंततः इसे एक संवैधानिक रूप प्रदान किया जा सका।

13.6 शब्दावली

लोककल्याणकारी राज्य- जनता की भलाई करने वाली सरकार, समृद्ध- सम्पन्न, दोषारोपण- आरोप लगाना

13.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1687, 2. 1992, 3. 1985, 4. 1935

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रदीप सचदेवा, लोकल गवर्नमेन्ट इन इण्डिया, डोर्लिंग किंडरश्ली (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2011
2. जयाल, एन0जी0 और प्रताप भानू मेहता, पॉलिटिक्स इन इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2010
3. प्रदीप सचदेवा, डाइनेमिक्स ऑफ मुनिसिपल गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, किताब महल, इलाहाबाद, 1991
4. बर्थवाल, सी0पी0, स्थानीय स्वशासन, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 2010
5. जोशी, आर0पी0 और अरूणा भारद्वाज, भारत में स्थानीय प्रशासन, शील सन्स, जयपुर, 1999

13.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. खन्ना, आर0 एल0, मुनिसिपल गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया, मोहिन्द्रा कैपिटल पब्लिसर्स, चंडीगढ़, 1967
2. शर्मा, एस0के0 तथा वी0एन0 चावला, मुनिसिपल एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया: सम रिफ्लेक्शन्स, इनटर्नेशनल बुक को0, जालंधर, 1975
3. कौशिक, एस0के0, लीडरशिप इन अर्बन गवर्नमेन्ट इन इण्डिया, किताब महल, इलाहाबाद, 1986
4. मुतालिब, एम0ए0 और एन0 उमापथि, अर्बन गवर्नमेन्ट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, रिजनल सेन्टर फॉर अर्बन एण्ड इन्वार्नमेन्टल स्टडीज, हैद्राबाद, 1981
5. चतुर्वेदी, टी0वी0, सिविक कन्सेप्शन्स, आई0आई0पी0ए0, नई दिल्ली, 1979

13.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश काल में स्थानीय स्वशासन के विकास पर प्रकाश डालिए।
2. स्वतंत्र भारत में स्थानीय स्वशासन के विकास का वर्णन कीजिए।
3. नगरीय स्वशासन के महत्व का वर्णन कीजिए।

इकाई- 14 चौहतरवाँ(74वाँ) संवैधानिक संशोधन एवं नगरीय शासन का आधुनिक परिप्रेक्ष्य

इकाई की संरचना

- 14.0 प्रस्तावना
- 14.1 उद्देश्य
 - 14.2 चौहतरवें वें संविधान संशोधन के उद्देश्य
 - 14.3 चौहतरवें संविधान संशोधन की आवश्यकता
 - 14.4 चौहतरवें संविधान संशोधन की विशेषताएँ
- 14.5 नगरीय शासन की रूपरेखा
- 14.6 नगरीय शासन का आधुनिक परिप्रेक्ष्य
- 14.7 सारांश
- 14.8 शब्दावली
- 14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 14.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 14.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 14.12 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

सत्ता विकेन्द्रीकरण की दिशा में संविधान का 73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन एक महत्वपूर्ण और निर्णायक कदम है। 74वाँ संविधान संशोधन नगर निकायों में सत्ता विकेन्द्रीकरण का एक मजबूत आधार है। अतः इस अध्याय का उद्देश्य 74वें संविधान संशोधन की आवश्यकता और 74वें संविधान संशोधन में मौजूद उपबंधों और नियमों को स्पष्ट करना है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र के रूप में जाना जाता है। इस लोक तंत्र का सबसे रोचक महत्वपूर्ण पक्ष है सत्ता व शक्तियों का विकेन्द्रीकरण। अर्थात् केन्द्र स्तर से लेकर स्थानीय स्तर पर गांव इकाई तक सत्ता व शक्ति का बंटवारा ही विकेन्द्रकरण कहलाता है।

बहुत समय पहले नीति निर्माताओं, वरिष्ठ अधिकारियों एवं कार्यक्रमों को चलाने वाले अधिकारियों तथा कार्यकर्त्ताओं द्वारा जनता के लिये योजनायें बनायी जाती थीं। इसलिए योजना को बनाने की प्रक्रिया पूर्व में उपर से नीचे की ओर थी। परन्तु यह प्रक्रिया जनता की जरूरतों को पूरी नहीं कर पाती थी, विकास गतिविधियों को चलाने में लोगों की सहभागिता को प्रोत्साहित नहीं करती थी एवं लोगों को भी यह नहीं लगता था कि लागू की जा रही योजना अथवा कार्यक्रम उनका अपना है। इसलिए यह महसूस किया गया कि लोगों को कार्य योजनायें स्वयं बनानी चाहिए, क्योंकि उन्हें अपनी आवश्यकताओं का पता होता है कि किस प्रकार वे अपने जीवन स्तर में सुधार ला सकते हैं एवं वे अपने विकास में सहभागी बन सकते हैं। अतः यह महसूस किया गया कि लोगों के लिए योजना बनाने की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से नीचे से उपर की ओर होनी चाहिये क्योंकि लोगों को अपनी जरूरतों की पहचान होती है जिससे वे योजनाओं को वरीयता क्रम निर्धारित करते हुए योजना बना सकते हैं। कार्यक्रम क्रियान्वित करने वाले कार्मिक जनता/समुदाय की योजनाओं को समेकित कर सकते हैं।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- चौहतरवें संविधान संशोधन की आवश्यकता एवं उसके महत्व के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

- वर्तमान में नगरीय शासन का स्वरूप और उसके कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में जान पायेंगे।

14.2 चौहतरवें(74वें) संविधान संशोधन के उद्देश्य

चौहतरवें संविधान संशोधन के निम्नांकित उद्देश्य हैं-

1. देश में नगर संस्थाओं जैसे नगर निगम, नगर पालिका, नगर परिषद तथा नगर पंचायतों के अधिकारों में एकरूपता रहे।
2. नागरिक कार्यकलापों में जन प्रतिनिधियों का पूर्ण योगदान तथा राजनैतिक प्रक्रिया में निर्णय लेने का अधिकार रहे।
3. नियमित समयान्तराल में प्रादेशिक निर्वाचन आयोग के अधीन चुनाव हो सके व कोई भी निर्वाचित नगर प्रशासन छः माह से अधिक समयावधि तक भंग न रहे, जिससे कि विकास में जनप्रतिनिधियों का नीति निर्माण, नियोजन तथा क्रियान्वयन में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हो सके।
4. समाज की कमजोर वर्गों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिये (संविधान संशोधन अधिनियम में प्राविधानित/निर्दिष्ट) प्रतिशतता के आधार पर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व महिलाओं को तथा राज्य (प्रादेशिक) विधान मण्डल के प्राविधानों के अन्तर्गत पिछड़े वर्गों को नगर प्रशासन में आरक्षण मिलें।
5. प्रत्येक प्रदेश में स्थानीय नगर निकायों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये एक राज्य (प्रादेशिक) वित्त आयोग का गठन हो जो राज्य सरकार व स्थानीय नगर निकायों के बीच वित्त हस्तान्तरण के सिद्धान्तों को परिभाषित करें। जिससे कि स्थानीय निकायों का वित्तीय आधार मजबूत बने।
6. सभी स्तरों पर पूर्ण पारदर्शिता रहे।

14.3 चौहतरवें (74वें) संविधान संशोधन की आवश्यकता

पूर्व की नगरीय स्थानीय स्वशासन व्यवस्था लोकतन्त्र की मंशा के अनुरूप नहीं थी। सबसे पहली कमी इसमें यह थी कि इसका वित्तीय आधार कमजोर था। वित्तीय संसाधनों की कमी होने के कारण नगर निकायों के कार्य संचालन पर राज्य सरकार का ज्यादा से ज्यादा नियंत्रण था। जिसके कारण धीरे-धीरे नगर निकायों के द्वारा किये जाने वाले अपेक्षित कार्यों/या उन्हें सौंपे गये कार्यों में कमी होनी लगी। नगर निकायों के प्रतिनिधियों की बरखास्ती या नगर निकायों का कार्यकाल समाप्त होने पर भी समय पर चुनाव नहीं हो रहे थे। इन निकायों में कमजोर व उपेक्षित वर्गों (महिला, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति)का प्रतिनिधित्व न के बराबर था। अतः इन कमियों को देखते हुए संविधान के 74वें संशोधन अधिनियम में स्थानीय नगर निकायों की संरचना, गठन, शक्तियों, और कार्यों में अनेक परिवर्तन का प्रावधान किया गया।

14.4 चौहतरवें संविधान संशोधन की विशेषताएँ

74वें संविधान संशोधन विधेयक द्वारा संविधान में एक नया भाग- 9 क जोड़ा गया, जिसमें कुल 18 अनुच्छेद हैं और एक नयी अनुसूची 12वीं अनुसूची जोड़कर नगरीय क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं को संवैधानिक स्तर प्रदान किया गया।

1. 74वें संविधान संशोधन द्वारा नगर निकायों को संवैधानिक मान्यता और संवैधानिक स्तर प्रदान किया गया।
2. इस संविधान संशोधन द्वारा नगर निकायों की देश भर में त्री-स्तरीय व्यवस्था की गयी- नगर पंचायत, नगर परिषद और नगर निगम।
3. इस अधिनियम में प्रत्यक्ष चुनावों के द्वारा नगर निकायों के गठन की व्यवस्था की गयी है।

4. यह अधिनियम वार्ड समितियों के बठन की व्यवस्था करता है। जिसमें 03 लाख या उससे अधिक की जनसंख्या वाले नगर निकायों में एक या अधिक वार्डों के लिए वार्ड समितियों का गठन किया जायेगा।
5. इस अधिनियम के माध्यम से प्रत्येक नगर निकायों में अनुसूचित जाति व जनजातियों के लिए सीटों में आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक क्षेत्र में सीटों का यह आरक्षण उस नगर निकाय के क्षेत्र में इन वर्गों की जनसंख्या के अनुपात में होगा तथा आरक्षित की गयी सीटों पर बारी-बारी से आवर्तन किया जायेगा।
6. इस अधिनियम के द्वारा नगर निकायों का कार्यकाल 05 वर्ष का होगा। नगर निकायों का कार्यकाल उसकी पहली बैठक की तिथि से, यदि वह निर्धारित तिथि से पूर्व भंग नहीं कर दी जाती है, तो 05 वर्ष निर्धारित की गयी है। यदि निर्धारित तिथि से पूर्व नगर निकाय को भंग किया जाता है तो 06 माह के भीतर उसके चुनाव कराये जाने होंगे।

14.5 नगरीय शासन की रूपरेखा

नगरीकरण विश्व भर में तेजी से और तीसरी दुनिया में और भी तेजी से अपना पांव पसार रहा है। नगरीकरण ग्रामीण से नगरीय जीवन में रूपान्तरण की प्रक्रिया है, जब एक समाज कृषिपरक अर्थव्यवस्था से औद्योगिक अर्थव्यवस्था को अपनाता है तथा एक छोटे समरूप समाज से एक विशाल विविधतापूर्ण समाज में परिणत होता है। सरल शब्दों में नगरीकरण को एक सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा एक क्षेत्र की अधिकांश जनसंख्या नगरों तथा कस्बों में संकेन्द्रित हो जाती है। भारत में नगरीय क्षेत्रों की जनसंख्या, ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में दोगुनी गति से बढ़ रही है। नगरों में जनसंख्या के इस बढ़ते दबाव के कारण अधिक सेवाओं, सुविधाओं व जीवन यापन के लिए बेहतर वातावरण की आवश्यकता पड़ रही है।

शहरी क्षेत्रों में अवस्थापना तथा मूलभूत नागरिक सुविधाओं पर अपेक्षाकृत अधिक दबाव होने के कारण कालान्तर से ही शहरों के सुनियोजित विकास की आवश्यकता का अनुभव किया जाता रहा है। इसी क्रम में नगरीय क्षेत्रों को नगरीय स्थानीय निकाय के एक स्वतंत्र इकाई के रूप में अंगीकार किया गया है। विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया विगत दो दशकों में विश्व के विभिन्न हिस्सों की विशिष्टता रही है, चाहे वह केंद्रीय/पूर्वी यूरोप एवं लैटिन अमेरिकी देशों के मामले में स्थानीय स्तरों की ओर से आवाजों के परिणामस्वरूप या अफ्रीका तथा दक्षिण एशिया विशेषकर केन्या, युगांडा एवं भारत के मामलों में राष्ट्रीय सुधार तथा पुनर्निर्माण की प्रक्रिया की प्रतिक्रिया में हो; या दाता एजेंसियों की ओर से बढ़े हुए दबाव के कारण हो। एक अन्य महत्वपूर्ण कारक वैश्वीकरण है जो स्थानीय शासन के नए आयामों को उजागर कर रहा है, जिसमें अपने सम्बन्धित क्षेत्रों में शहर लोगों सामानों तथा सूचनाओं के वैश्विक प्रवाह के लिए नोडल बिंदु बन रहे हैं। इस कारकों के प्रकाश में आर्थिक तथा सामाजिक मुद्दों को सुलझाने के लिए नगर की सरकारों में महत्वपूर्ण स्तर उभर रहे हैं (या सम्भवतः उभर रहे हैं)। भारत में 'शहरी स्थानीय शासन' का अर्थ शहरी क्षेत्र के लोगों द्वारा चुने प्रतिनिधियों से बनी सरकार से है। शहरी स्थानीय शासन का अधिकार क्षेत्र उन निर्दिष्ट शहरी क्षेत्रों तक सीमित है, जिसे राज्य सरकार द्वारा इस उद्देश्य के लिए निर्धारित किया गया है। भारत में विभिन्न प्रकार के शहरी स्थानीय शासन हैं- नगरपालिका परिषद्, नगरपालिका, अधिसूचित क्षेत्र समिति, शहरी क्षेत्र समिति, छावनी बोर्ड, शहरी क्षेत्र समिति, पत्तन न्यास और विशेष उद्देश्य के लिए गठित एजेंसी। 22 दिसम्बर, 1992 को लोकसभा द्वारा तथा 23 दिसम्बर, 1992 को राज्यसभा द्वारा पारित और 20 अप्रैल, 1993 को राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत एवं 1 जून, 1993 से प्रवर्तित 74वें संविधान संशोधन द्वारा स्थानीय नगरीय शासन के सम्बन्ध में संविधान में भाग- 9- क नये अनुच्छेदों (243 त से 243 य छ तक) एवं 12वीं अनुसूची जोड़कर संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है।

भारत की तरह बड़ी आबादी एवं क्षेत्रीय विभिन्नता वाले विशाल देश में लोकतंत्र को सार्थक एवं कल्याणोन्मुख बनाने के लिए विकेन्द्रीकरण अन्तर्निहित अनिवार्यता है। नगरीय निकाय ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनकी निश्चित सेवाएं एवं नियामक कार्य हैं। नगरीय स्थानीय निकायों के क्षेत्र में निवास करने वाली जनसंख्या को मूलभूत नागरिक सुविधाएं यथा- स्वच्छ पेयजलापूर्ति, सड़कें/गलियां, जल निकासी, सफाई व्यवस्था, कूड़ा निस्तारण, सीवरेज व्यवस्था, मार्ग प्रकाश, पार्क, स्वच्छ पर्यावरण, आदि उपलब्ध कराया जाना, इन शहरी स्थानीय निकायों का कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व है। स्थानीय शासन संस्थाओं का स्वरूप एक उद्देशीय न होकर सामान्य उद्देशीय होता है। यह बहुआयामी संस्थान है जो कई प्रकार के कार्यों को करता है। जैसे- स्थास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा, सफाई, जल आपूर्ति आदि। इन जिम्मेदारियों को पूर्ण करने के लिए इन्हें विविध कार्य आबंटित किये गए हैं। नगरीय निकाय संस्थाओं को 18 विषयों पर कानून बनाने का अधिकार दिया गया है।

समाज कल्याण तथा आर्थिक विकास के उद्देश्य से गठित लोकतांत्रिक ढाँचे से लोगों की कई प्रकार की आशाएं होती हैं। बढ़ती आशाएं प्रशासन में लोगों की भागीदारी के लिए यथार्थवादी एवं प्रभावशाली नीतियों की मांग करती हैं। राजनैतिक स्वतंत्रता तथा नीतिगत उद्-घोषणाओं से उठी चुनौतियों और आकांक्षाओं के लिए अंतर्मुख से किए जाने वाले प्रयासों की आवश्यकता है।

14.6 नगरीय शासन का आधुनिक परिप्रेक्ष्य

लार्ड ब्राइस ने कहा है कि “स्थानीय स्वशासन प्रजातंत्र के लिए प्रशिक्षण की आधारशिला है जिसके अभाव में प्रजातंत्र की सफलता की आशा नहीं की जा सकती।” जनतंत्र का आधार, राजनीतिक एवं नागरिक प्रशिक्षण, उदार दृष्टिकोण एवं नागरिक गुणों का विकास, प्रशासनिक कार्यकुशलता, केन्द्र एवं राज्य शासन के कार्यभार में कमी, सरकारी व्ययों में मितव्ययिता, केन्द्रीकरण के दोषों से मुक्ति, विकास योजनाओं की सफलता में सहायक, भ्रष्टाचार की कम सम्भावना, विभिन्नताओं का पोषक आदि ऐसे महत्वपूर्ण कारण हैं जो स्थानीय स्वशासन के महत्व को इंगित करते हैं। नगर विकास जैसे मुद्दों पर सरकार, निकाय, गैर-सरकारी संगठन एवं नागरिकों के परस्पर समन्वयन व सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता है। आधुनिक युग को नागरिकों की उभरती हुई जन आकांक्षाओं का युग माना जाता है। वर्तमान समय में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के सहज परिणाम स्वरूप शासन सम्बन्धी कार्यों का अत्यधिक विस्तार हुआ है, जिसे प्रशासन सकारात्मक रूप दे सकता है।

भारत में ‘टॉप हेवी कैरेक्टर’ क्षेत्र ने असमानता तथा पर्यावरण से जुड़ी समस्याओं तथा भारतीय शहरीकरण के विकास को प्रोत्साहित किया गया है। आर्थिक दृष्टि से शहरीकरण का तृतीयक क्षेत्र से गहरा सम्बन्ध है। ‘ट्रिकल-डाउन’ पद्धति से शहरीकरण तथा सम्बन्धित अवसंरचना तथा सेवाओं के लाभों को फैलाने में सफलता नहीं मिली है। इसके कारण शहरी क्षेत्रीय असमानता अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से बढ़ी है। हाल की शहरीकरण पद्धति परिवहन-कॉरिडोर आधारित शहरीकरण को बढ़ावा देता है। इस प्रकार संतुलित क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा देने के लिए शहरी केंद्रों का चार-सतही क्रम प्रस्तावित किया गया है।

नगरीकरण विकास प्रक्रिया का ही एक अंग है। ग्रामीण क्षेत्रों जनसंख्या का नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तन आर्थिक विकास की दृढ़ कसौटी है। पिछड़े हुए स्थिर समाज में नगरीकरण की प्रक्रिया वस्तुतः धीमी होती है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के लिए रोजगार उपलब्ध कराने में नगर सक्षम नहीं होते। किन्तु फिर भी ग्रामीण जनसंख्या का शहरों की तरफ तेजी से पलायन रोजगार पाने के उद्देश्य से ही होती है और इस स्थिति में यह पलायन तब और तेज हो जाता है जब पूँजी गहन उद्योगों की बजाय श्रम गहन उद्योगों पर बल दिया जाता है। इसके विपरीत नगरीकरण की गति धीमी तब होती है जब कुल जलसंस्था के अनुपात में नगरीय जनसंख्या बहुत ही उच्च स्तर पर पहुँच जाती है। यह स्थिति अभी कुल मिलाकर 30 देशों में आई है, जो विकसित औद्योगिक देश कहलाते हैं। बढ़ते शहरीकरण का परिणाम देश के असंतुलित विकास के रूप में सामने आ रहा है। बढ़ते शहरीकरण के साथ

तीसरी समस्या ग्रामीण इलाकों में कार्यशील आबादी में आ रही कमी और खेती-बाड़ी की उपेक्षा के रूप में पैदा हुई है।

नगरीय क्षेत्रों में स्थानीय नगरीय निकायों की स्थापना से यह अपेक्षा की गयी कि स्थानीय स्वशासन के लिये स्थापित ये संवैधानिक संस्थान स्थानीय स्तर पर आर्थिक विकास को बढ़ाते हुये सामाजिक न्याय को भी लाने की जिम्मेदारी निभायेंगे। स्थानीय नगरीय निकायों की स्थापना के बाद से ही इनकी क्षमताओं के विकास का मुद्दा निरंतर एक चुनौती के रूप में सामने खड़ा है। क्षमता विकास के इस प्रश्न को मानवीय संसाधनों के साथ ही साथ संस्थागत स्तर पर भी देखने और समझने की जरूरत है। वास्तव में क्षमताओं के अभाव के कारण ही स्थानीय नगरीय निकायों में कार्य, कार्यकर्ता और कोष का सही तरीके से हस्तान्तरण नहीं किया जा सका है। स्थानीय नगरीय निकायों जैसी संवैधानिक संस्थाओं के जन्म लेने के बाद वयस्क हो जाने के बाद भी इनकी क्षमता कैसे बढ़ायी जाय, इसका चिन्तन केन्द्र या राज्य सरकारों के द्वारा ही किया जा रहा है। स्थानीय स्वशासन की ईकाइयों खुद भी अपने आप को सशक्त बनाने की बहुत इच्छुक नजर नहीं आती हैं।

देश की आबादी के दो रुझान स्पष्ट हैं। पहला यह कि शहरों की आबादी बढ़ रही है और दूसरा यह कि युवाओं की आबादी बढ़ रही है। दूसरे रुझान का सम्बन्ध भी शहरीकरण से ही है, क्योंकि युवा को अंततः शहरों की ओर ही आना है। आजादी के बाद लगातार शहरीकरण बढ़ रहा है। गांवों से आबादी का बड़े पैमाने पर पलायन हो रहा है। 1991 की जनगणना के वक्त यह 27 प्रतिशत था तो 2001 में 29 प्रतिशत हो गया था। जो भी देश अमीर हैं, विकसित हैं, वहाँ शहरी आबादी का प्रतिशत 70-90 प्रतिशत तक है। देश के आर्थिक विकास में शहरों का योगदान भी ज्यादा होता है। पश्चिम की तुलना में हमारे यहाँ आज भी शहरी आबादी 30-35 प्रतिशत ही है। हमें वह बहुत ज्यादा इसलिए दिखाई पड़ती है, क्योंकि हमारे यहाँ शहरीकरण तो हो गया, लेकिन उस अनुपात में सुविधाएं नहीं बढ़ीं, आधारभूत संरचना का विकास नहीं हुआ। बिजली-पानी, स्वच्छता, परिवहन और सड़कों की उचित व्यवस्था नहीं है। वैश्वीकरण के साथ शहरीकरण तो बढ़ना ही है, साथ ही गांवों से आबादी का पलायन भी बढ़ना ही है। यह रफ्तार और बढ़ेगी। इसलिए सबसे बड़ी समस्या यह है कि आने वाले समय में हमारी सरकार को बुनियादी संरचना खड़ी करनी होगी, जनता को मूलभूत सुविधाएं देनी होंगी। चूँकि शहरीकरण का सबसे ज्यादा लाभ निजी क्षेत्र को मिलेगा, इसलिए उसकी भूमिका भी महत्वपूर्ण होगी। यदि बुनियादी सुविधाओं के मोर्चे पर हम कामयाब हो गए तो हम सतत आबादी विकास को प्राप्त कर लेंगे। 1901 से 2001 की अवधि में यहाँ कुल शहरों की संख्या 1827 से बढ़कर 5161 (वर्ष 2001 में) हो गई। शहर तो बढ़े परन्तु यह बात भी साफ तौर पर उभरकर आती है भारत में छोटे शहरों से ज्यादा बड़े शहरों का विकास हुआ है। वर्ष 1901 में एक लाख की जनसंख्या वाले केवल 24 शहर थे जो वर्ष 2001 में बढ़कर 393 हो गये जबकि 5 से 10 हजार की जनसंख्या वाले शहरों की संख्या 744 से बढ़कर महज 888 हो पाई। यानी संसाधन और विकास बड़े नगरों के आसपास केन्द्रित हुआ। बड़े शहरों में रहने वाली जनसंख्या का प्रतिशत 26 से बढ़कर अब 68 हो गया है और छोटे शहरों में आबादी का अनुपात कम हुआ है। शहरीकरण का यह परिदृश्य बताता है कि कहीं न कहीं गांवों की बदहाली ने इसके लिये उर्वरक का काम किया है। वर्ष 1921 में भारत में 685665 गाँव थे और गांधी जी कहते थे कि हमारा देश 07 लाख गणराज्यों का देश है और वर्ष 2001 की जनगणना बताती है कि अब महज 593731 गाँव ही देश में आबाद हैं। कहां गये ये 92 हजार गाँव मतलब यह है 28 गाँवों की कीमत पर एक शहर खड़ा हुआ। मौजूदा दशक में ही 7863 गाँव शहरों की सीमा में शामिल कर दिए गए। आज भारत के शहरों में लगभग 34 करोड़ लोग रहते हैं और यह संख्या अगले 20 वर्षों में बढ़कर 59 करोड़ हो जायेगी। आज शहरी जीवन के 02 घंटे हर रोज ट्रैफिक के नाम होते हैं। वर्तमान स्थिति में भारत में एक किलोमीटर सड़क पर 170 वाहनों का घनत्व है, जो सड़कों पर जाम की स्थिति बनाता है। अगले 20 वर्षों में जाम का समय दो गुना हो जाने वाला है, क्योंकि निजी परिवहन साधनों को भारत में ज्यादा विस्तार दिया गया। जिससे सार्वजनिक परिवहन सेवायें बेहद कमजोर हो गई। आज 70

प्रतिशत शहरी परिवहन निजी साधनों से होता है जिसे आधा करने की जरूरत है। कार्बन उत्सर्जन, दुर्घटनाएँ और तनाव भी यातायात की अव्यवस्था के बड़े परिणाम हैं। इस तथ्य को महज नकारात्मक कहकर हमें नकारना नहीं चाहिए कि देश-समाज ज्वालामुखी सरीखे विस्फोट की संभावना के मुहाने पर आ बैठा है। भारत के चार राज्यों (बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल और उत्तराखंड) के 36 शहर हर रोज डेढ़ अरब लीटर अपशिष्ट मैला पानी बिना उपचार के गंगा के बेसिन में छोड़ते हैं। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण मण्डल की शहरों में पानी की स्थिति पर जारी ताजा रिपोर्ट के मुताबिक भारत के 908 शहर हर रोज 3.80 अरब लीटर मैला पानी पैदा करते हैं और इसमें से 2.80 अरब लीटर मैला अपशिष्ट बिना उपचार के शेष गंदा पानी खुले मैदानों और नदियों (जैसे गंगा, नर्मदा, शिप्रा, चंबल आदि) में मिलने के लिये छोड़ दिया जाता है। 113 शहरों द्वारा गंगा और उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र में हर रोज डेढ़ अरब लीटर अपशिष्ट गंदा पानी छोड़ा जाता है। ऐसे में बेतरतीब ढंगी शहरों का यह देश किसी भी ऐसी महामारी के चपेट में आ सकता है, जिसके लिये हम खुद जिम्मेदार होंगे। हम उस स्थिति में कभी नहीं आ सकेंगे जब शहरों द्वारा पैदा किये गये अरबों टन कचरे का उपचार करके उसे ठिकाने लगा सकें। प्रोफेसर सुरेश तेंदुलकर समिति की रिपोर्ट के मुताबिक 25.7 प्रतिशत शहरी गरीबी की रेखा के नीचे हैं। ये एक व्यक्ति पर 19 रुपये प्रतिदिन से भी कम खर्च करके जीवनयापन करते हैं। आज जबकि शहरों में अपनी छत का सुख हासिल करना बुनियादी जरूरत है, इन परिवारों के लिए आवास का आधार मिलना एक दूर का ख्वाब है। यही कमी सड़क और रेल यातायात के मामले में भी जमकर बढ़ने वाली है। आवास व्यवस्था के बारे में उभरकर आये निष्कर्ष और ज्यादा गंभीर हैं। आज जरूरत 3 करोड़ घरों की है पर केवल 50 लाख घर ही बन पायेंगे। यह अन्तर 2030 के शहरों में खूब बढ़ने वाला है। तब 5 करोड़ घर चाहिये होंगे और बन पायेंगे केवल 1.20 करोड़।

‘दक्षिण-पूर्व एशिया’ की कुल आबादी का 34 प्रतिशत भाग शहरी है। यह आबादी तेजी से बढ़ रही है और उसका बहुत गहरा दबाव सभी सेवाओं पर पड़ रहा है। इनमें परिवहन-व्यवस्था, जलापूर्ति, स्वच्छता और बिजली प्रमुख हैं। यू.एन. हैबिटैट के अनुसार, दक्षिण-एशिया में 40 प्रतिशत से अधिक आबादी मलिन बस्तियों में रहती है। अक्सर मजदूर कार्यस्थल के आस-पास या मलिन बस्ती के बीच में रहते हैं, उदाहरण के लिए सड़कों के किनारे या भवन-निर्माण स्थल के पास। सुरक्षित पेयजल तथा स्वच्छता-सेवाओं के उपलब्ध न हो पाने तथा आस-पास के परिवहन, कारखानों और औद्योगिक परिसरों से पैदा होने वाले प्रदूषण मजदूरों के स्वास्थ्य पर बुरा असर डालते हैं। इसका प्रतिकूल असर पड़ता है आधारभूत पर्यावरण-सम्बन्धी सेवाओं-जैसे स्वच्छ हवा, जल और मिट्टी पर। ठोस कचरे के खराब प्रबन्धन से रिसाव के कारण भू-जल और सतह जल विषाक्त हो रहा है और कचरे को अनियन्त्रित तरीके से जलाए जाने के कारण वायु प्रदूषण बढ़ रहा है। ठोस कचरे की प्रोसेसिंग और निपटान की अवैज्ञानिक पद्धतियों के कारण पर्यावरण के जोखिम बढ़ रहे हैं।

शहरी ढाँचे से सम्बन्धित उच्च अधिकार प्राप्त विशेषज्ञ समिति के अनुमानों के अनुसार भारत के शहरी पर्यावरण सरोकारों के प्रबन्धन में वित्त व्यवस्था अभी भी एक बड़ी बाधा है। किन्तु, उम्मीद बनी हुई है। अनेक रचनात्मक स्थितियाँ भी सामने आई हैं, जैसे ठोस कचरे और स्वच्छता सुविधाओं के बेहतर प्रबन्धन में निजी क्षेत्र की भागीदारी इसका एक उदाहरण है।

शहरीकरण विकास एक सूचक होते हुए भी कई तरह की समस्याओं का जन्मदाता है। शहरी विकास को सही रास्ते पर लाने के लिए अमीरों और गरीबों के बीच जो टकराव की स्थिति है, उसकी जगह सहयोग को प्रतिस्थापित करना होगा। संपन्न वर्ग अनेक स्थानों पर झुग्गी-झोंपड़ियों और गंदी बस्तियों में रहने वाले लोगों के प्रति सहानुभूति और संवेदना से हीन हो जाते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि नगरों का अधिकांश निर्माण कार्य इन्हीं वर्गों के परिश्रम एवं त्याग से हुआ है। निर्धन वर्ग के इस आन्दोलन को संपन्न वर्ग के लोगों को स्वीकार करना चाहिए। परिणामतः परस्पर सहयोग की जो भावना उत्पन्न होगी, उससे नगरों का जो विकास होगा वह संतुलित तथा उचित होगा। शहरीकरण को लेकर सरकार का नजरिया यह है कि इस पर राजनीति करने के बजाय इसे मौके के रूप में

देखा जाना चाहिए। उसके मुताबिक शहरों में गरीबी दूर करने की ताकत होती है और हमें इस ताकत को और आगे बढ़ाना चाहिए ताकि आर्थिक समृद्धि का स्वतः प्रसार हो। सुख-सुविधाओं की मौजूदगी के चलते शहर सदा से मनुष्य के आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। आज की तारीख में तो ये विकास के इंजन बन चुके हैं। दरअसल, ग्रामीण क्षेत्रों के मुकाबले शहरों में लोगों की ज्यादा आमदनी और वस्तुओं का अधिक उपभोग जहाँ 'पुल फैक्टर' का काम करता है वहीं गांवों की गरीबी-बेरोजगारी 'पुश फैक्टर' का। ये दोनों मिल कर शहरों में भीड़ बढ़ा रहे हैं। चूंकि शहरों में लोगों की आमदनी ज्यादा होती है इसलिए वस्तुओं और सेवाओं की खपत बढ़ती है जिसका नतीजा अंततः कम्पनियों की अधिक कमाई और देश के जीडीपी की तेज रफ्तार के रूप में सामने आता है। आंकड़ों के मुताबिक भारत के सौ सबसे बड़े शहरों में देश की महज सोलह फीसद आबादी निवास करती है, लेकिन राष्ट्रीय आय में इन शहरों का हिस्सा 43 प्रतिशत है। इसीलिए कई विशेषज्ञ देश में शहरीकरण को रफ्तार देने की वकालत करते रहते हैं। वे चीन का हवाला देते हैं जहाँ की आधी आबादी शहरों में रहती है, जबकि भारत में यह अनुपात महज एक-तिहाई है। उनका तर्क है कि यदि भारत को मांग आधारित विकास दर को बढ़ावा देना है तो उसे तेज शहरीकरण की नीति अपनानी चाहिए। भले ही शहरों को विकास का 'ड्राइवर' माना जाता हो लेकिन शहरीकरण के स्तर की दृष्टि से भारतीय शहर नकारात्मक तस्वीर पेश करते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में नगरीय शासन की अवसंरचना का विकास अत्यावश्यक है, साथ ही कर्मचारियों की संख्या में बढ़ोत्तरी समय की मांग है। विशेषज्ञ सुविधाओं की आवश्यकता, कुशल प्रबन्धन, नवीन तकनीक के साथ सुविधाओं का विकास, कुशल कर्मचारियों की व्यवस्था एवं कारगर वित्तीय प्रबन्धन आदि ऐसे आवश्यक तथ्य हैं जो नगरीय शासन को बदलते परिदृश्य में कारगर सिद्ध कर सकते हैं। नगरों में जनसंख्या के इस बढ़ते दबाव के कारण अधिक सेवाओं, सुविधाओं व जीवन यापन के लिए बेहतर वातावरण की आवश्यकता पड़ रही है।

अभ्यास प्रश्न-

1. नगर निकायों का कार्यकाल कितने वर्षों का होता है?
2. नगर निकायों के आय के स्रोत नहीं हैं?
3. किस संविधान संशोधन के तहत नगर प्रशासन को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है?
4. कितनी जनसंख्या पर नगर निगम का गठन होता है?
5. कितनी जनसंख्या पर नगर पंचायतों का गठन होता है?

14.7 सारांश

विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही भारत में विद्यमान थी। राजा/महाराजाओं के समय भी सभा, परिषद, समितियाँ सूबे आदि के माध्यम से शासन चलाया जाता था। लोगों को उनकी जरूरतें पूरी करने के लिए निर्णयों में हमेशा महत्वपूर्ण सहभागी माना जाता था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया लोगों की शासन व लोक विकास में भागेदारी से अलग कर दिया गया तथा उनके अपने हित व विकास के लिए बनाई जाने वाले कार्यक्रम, नीतियों पर केन्द्र सरकार या राज्य सरकार का नियंत्रण बनता गया। 1992 में सरकार के 74वें संविधान संशोधन के माध्यम से पुनः नगरीय क्षेत्रों में स्थानीय लोगों को निर्णय लेने के स्तर पर सक्रिय व प्रभावशाली सहभागिता बनाने का प्रयास किया गया है। संविधान का 74वां संशोधन में नगर निकायों- नगर पालिका, नगर निगम और नगर पंचायतों में शहरी लोगों की भागीदारी बढ़ाने में मदद की है। इस संशोधन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अब शहरों, नगरों, मोहल्लों की भलाई उनके हित व विकास सम्बन्धी मुद्दों पर निर्णय लेने का अधिकार केवल सरकार के हाथ में नहीं है। अब नगरों व शहर के ऐसे लोग जो शहरी मुद्दों की स्पष्ट सोच रखते हैं व नगरों, कस्बों व उनमें निवास करने वाले लोगों की नागरिक सुविधाओं के प्रति संवेदनशील हैं, निर्णय लेने की स्थिति में आगे आ गये हैं। महिलाओं व पिछड़े वर्गों के लिए विशेष आरक्षण व्यवस्था ने हमेशा से पीछे रहे व

हाशिये पर खड़े लोगों को भी बराबरी पर खड़े होने व निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने का अवसर दिया है। 74वें संशोधन ने सरकार (लोगों का शासन) के माध्यम से आम लोगों की सहभागिता स्थानीय स्वशासन में सुनिश्चित की है। हर प्रकार के महत्वपूर्ण निर्णयों में स्थानीय लोगों को सम्मिलित करने से निर्णय प्रक्रिया प्रभावी, पारदर्शी व समुदाय के प्रति संवेदनशील हो जाती है।

नगरीय शासन, आधुनिक समय भी अब विकेन्द्रीकरण की स्थिति को और अधिक मजबूत बना रहा है। नगरीय शासन के लिए वर्तमान समय में नगरों में बढ़ते जनसंख्या के दबाव को व्यवस्थित करना और नगरीय लोगों की आम जरूरतों का सुचारू संचालन एक चुनौती है। बिजली, पीने का साफ पानी, कुड़ा निस्तारण, बरसात के पानी का निस्तारण, सड़कें ये सभी व्यवस्थित रखना है। वर्तमान सरकार के 'स्मार्ट सीटी' प्रोजेक्ट भी नगरों की दशा व दिशा बदल सकते हैं।

14.8 शब्दावली

महत्ता- महत्व/उपयोगी, अपव्यय- फिजुल खर्ची, पारदर्शिता- इमानदारी/ जिसके आर-पार देखा जा सके

14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. पांच साल, 2. चंदे की धनराशि, 3. 74वां संविधान संशोधन, 4. एक लाख, 5. 50 हजार

14.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हार्क नगरीय स्वशासन प्रशिक्षण मार्गदर्शिका।
2. गिरवर सिंह, 2004, भारत में पंचायती राज, पंचशील प्रकाशन, जयपुर।
3. आश नारायण राय, जनवरी, 2010, पंचायतों का गणतंत्र, आजकल, नयी दिल्ली।
4. चन्द्रा पटनी, 2006, ग्रामीण स्थानीय प्रशासन, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर।

14.11 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारत में पंचायती राज, के०के० शर्मा।
2. बर्थवाल, सी०पी०, स्थानीय स्वशासन, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 2010
3. जोशी, आर०पी० और अरूणा भारद्वाज, भारत में स्थानीय प्रशासन, शील सन्स, जयपुर, 1999

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्थानीय स्वशासन और नगरीय संस्थाओं के विकास में 74वें संविधान संशोधन का क्या योगदान है? स्पष्ट करें।
2. आधुनिक समय में नगरीय प्रशासन की जिम्मेदारियों पर एक लेख लिखें।

इकाई- 15 नगर निगम

इकाई की संरचना

- 15.0 प्रस्तावना
- 15.1 उद्देश्य
- 15.2 नगर निगम का ऐतिहासिक विकास
- 15.3 विभिन्न राज्यों में नगर निगम
- 15.4 नगर निगम की स्थापना
- 15.5 नगर निगमों का संगठन
- 15.6 नगर निगम के कार्य
 - 15.6.1 अनिवार्य कार्य
 - 15.6.2 ऐच्छिक कार्य
- 15.7 नगर निगम के आय के साधन
- 15.8 नगर निगम पर नियन्त्रण
- 15.9 सारांश
- 15.10 शब्दावली
- 15.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 15.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 15.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 15.14 निबंधात्मक प्रश्न

15.0 प्रस्तावना

भारत में ग्रामीण स्वशासन की भाँति ही नगरीय स्वशासन भी अत्यन्त प्राचीन काल से देखने को मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में विद्यमान यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की नगरीय व्यवस्था का उल्लेख किया है। मुगलकाल में भी नगरीय प्रशासन का उल्लेख मिलता है। किन्तु नगरीय शासन की आवश्यकता ब्रिटिश काल में प्रबल रूप से महसूस की गयी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में ही उद्योगों एवं व्यापार के कारण नगरो का तेजी के साथ विकास हुआ। जिसका स्वाभाविक परिणाम नगरीय समस्याओं के रूप में प्रकट हुआ। इन समस्याओं का तात्कालिक समाधान करने की धारणा ने स्थानीय नगरीय शासन के विचार को जन्म दिया।

इसलिए ब्रिटिश शासन काल में ही नगरीय शासन की स्थापना को मूर्तता प्रदान की गई। जिसकी सर्वप्रथम अभिव्यक्ति 1687 ई0 में मद्रास कार्पोरेशन के रूप में देखने को मिलती है। जिससे प्रेरित होकर 1720 में कलकत्ता तथा 1793 ई0 में बम्बई में भी ऐसे ही कार्पोरेशनों की स्थापना की गयी। इन कार्पोरेशनों में भारतीयों के सदस्य होने की भी व्यवस्था थी। यद्यपि इन कार्पोरेशनों की शक्तियाँ अत्यन्त सीमित थी। ये कुछ कर भी लगा सकते थे जिससे एकत्र कोष को इनके कार्यक्षेत्र के विकास पर खर्च किया जाता था। ब्रिटिश शासन काल में नगरीय संस्थाओं के विकास पर ग्रामीण संस्थाओं के विकास की अपेक्षा ज्यादा ध्यान दिया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात नगरीय प्रशासन के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण देखने को मिलता है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त जहाँ ग्रामीण प्रशासन को सुदृढ़ करने के लिए व्यापक प्रयास किये गये वहीं नगरीय प्रशासन वहीं का वहीं रह गया जहाँ यह स्वतन्त्रता के पूर्व था। 1992 स्वातन्त्रोत्त भारत में नगरीय प्रशासन को मजबूत करने के लिए इसे 74वें संविधान संसोधन 1992 के द्वारा संवैधानिक दर्जा दे दिया गया है। अतः अब इससे विमुख होना भारतीय जनमानस व सरकारों के लिए प्रतिगामी कदम सिद्ध होगा।

इस इकाई का सम्बन्ध नगर निगम (नगर महापालिका) से है। यह नगरीय प्रशासन की सर्वोच्च संस्था है। इसमें नगर निगम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ स्वतन्त्रता पश्चात नगर निगम के स्थिति का विवेचन किया गया है। 74वें संविधान संसोधन के उपरान्त नगर निगमों की संरचना, अधिकार व शक्तियां, वित्तीय स्थिति, सरकार के साथ सम्बन्ध तथा महानगरों के विकास में इनकी भूमिका का विस्तृत अवलोकन करने का प्रयास किया गया है।

15.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नगर निगम की उत्पत्ति व विकास को समझ सकेंगे।
- नगर निगम के स्थापना के उद्देश्य व सिद्धान्त को जान सकेंगे।
- नगर निगम के वित्तीय स्थिति व कार्य प्रणाली को समझ सकेंगे।
- महानगरों के विकास में नगर निगम की भूमिका का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

15.2 नगर निगम का ऐतिहासिक विकास

भारत में नगर प्रशासन का अस्तित्व तथा विकास अत्यन्त प्राचीन समय से है। हड़प्पा एवं मोहन-जोदड़ों की खुदाई में सुव्यवस्थित शहरों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में पाटलिपुत्र नगर तथा वहाँ के प्रशासन का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि नगर का प्रधान उस समय नगराध्यक्ष अथवा 'नागरिक' कहलाता था। नगराध्यक्ष के अधीन गोप तथा स्थानीय हुआ करते थे। मेगस्थनीज ने भी अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में लिखा है कि मौर्य शासकों के द्वारा अपनी राजधानी पाटलिपुत्र के लिए सुव्यवस्थित नगर प्रशासन की व्यवस्था की गयी थी। जिसका कार्यक्षेत्र नगर में कानून व्यवस्था, बाजारों का नियन्त्रण, अपराधों तथा बुराईयों का उन्मूलन, वार्डों के अनुसार, लोगों का पंजीकरण तथा गुप्तचर की व्यवस्था आदि तक विस्तृत था। इस प्रकार प्राचीन काल में नगर संस्थाएँ सुनिश्चित कार्यों के साथ कार्यरत थी। मुगल शासनकाल में शासकों के द्वारा स्थानीय स्वायत्त शासन प्रणाली में अपने हितों के संरक्षण और लाभ को ध्यान में रखकर अनेक परिवर्तन किये। इस परिवर्तित स्थानीय स्वायत्त शासन के प्रारूप का वर्णन एक लेखक के शब्दों में इस प्रकार किया जा सकता है कि "उस काल में भी देश में स्थानीय शासन विद्यमान था। नगर का प्रशासन एक अधिकारी के सुपुर्द होता था, जो कोतवाल कहलाता था, दण्ड व्यवस्था, पुलिस तथा वित्तीय मामलों में उसकी सत्ता सर्वोपरि होती थी। इसके अतिरिक्त वह अनेक परिसंघ विषयक कार्यों का भी सम्पादन करता था।"

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन के पश्चात कई कारणों से शहरी क्षेत्रों के लिए नगरीय शासन के बारे में सोचा गया। इसके लिए सर्वप्रथम 1687ई0 में मद्रास में नगर निगम (कार्पोरेशन) की स्थापना की गयी। इसमें भारतीयों के सदस्य होने की भी व्यवस्था थी। नगर निगम में एक निगमाध्यक्ष (महापौर, निगमपति) एक नगर वृद्ध (एल्लडमैन) तथा एक नगर प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। उन्हें कुछ कर लगाने का अधिकार दे दिया गया था। जिन्हें वे एक नगर भवन (टाउन हाल), एक कारागार व एक स्कूल का भवन बनाने में तथा ऐसी अन्य सजावट की वस्तुओं व भवनों के निर्माण में जो निगम व उसके निवासियों की प्रतिष्ठा, हित, शोभा, सुरक्षा व प्रतिरक्षा के अनुरूप हो तथा नगर निगम के अधिकारियों व स्कूल अध्यापक के वेतन के लिए खर्च कर सकते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का विश्वास था कि "यदि लोगों को स्वयं अपने ऊपर कर लगाने दिया जाय तो वे सार्वजनिक कल्याण के लिए पांच शिलिंग स्वेच्छा से दे देंगे, किन्तु यदि हम अपनी निरंकुश शक्ति के द्वारा कर वसूल करें तो वे छः पैसे भी नहीं देना चाहेंगे।" किन्तु लोगों ने करारोपण का यथा सामर्थ्य प्रतिरोध किया।

1793 ई0 के अधिकार पत्र अधिनियम (चार्टर एक्ट) के द्वारा मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता के तीन महाप्रान्तीय नगरों में नगर महापालिकाओं अर्थात् कार्पोरेशन की स्थापना की गयी। इन महापालिकाओं को सफाई इत्यादि का प्रबन्ध करने, पुलिस व्यवस्था तथा सड़कों के रखरखाव, शराब इत्यादि के बिक्री लाइसेन्सों को देने तथा नाम मात्र के टैक्स लगाने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। 1842 ई0 में बंगाल अधिनियम पारित हुआ जिसके अनुसार बंगाल के जनपदीय नगरों (जिला नगरों) में भी नगर प्रशासन का विस्तार कर दिया गया। उक्त अधिनियम द्वारा व्यवस्था की गयी कि यदि किसी नगर के दो तिहाई मकान मालिक प्रार्थना करें तो सफाई के लिए एक नगर समिति की स्थापना कर दी जायेगी। यह अधिनियम निरर्थक साबित हुआ, क्योंकि इसकी व्यवस्था ऐच्छिक थी। इसके साथ ही साथ प्रत्यक्ष करारोपण के कारण इसका सर्वत्र प्रतिरोध किया गया। नगरीय शासन के विस्तार के दृष्टि से 1850 ई0 में सम्पूर्ण देश के लिए एक अधिनियम पारित किया गया। जिसके द्वारा पूर्व की संविधियों के विपरीत अप्रत्यक्ष करारोपण का प्रावधान किया गया, जिसके लिए लोग स्मरणातीत काल से अभ्यस्त हो चुके थे। इस अधिनियम के अनुसार ही उत्तर प्रदेश के प्रमुख नगरों, बम्बई तथा अन्य प्रमुख नगरों में नगरपालिकाओं की स्थापना की गई। इस अधिनियम के लागू होने पर सरकार को नगरपालिकाओं के लिए आवश्यकतानुसार न्यायधीशों तथा कमिश्नरों की नियुक्ति करने का भी अधिकार दे दिया गया।

1863 ई0 में राजकीय सैनिक स्वास्थ्य आयोग ने अन्य चीजों के साथ-साथ भारतीय नगरों की गन्दी स्थिति के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त किया। फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में नगर प्रशासन का विस्तार करने के लिए अनेक अधिनियम पारित किये गये। अब तक नगरीय स्थानीय शासन की स्थापना के लिए ऐच्छिकता के सिद्धान्त का अनुसरण किया गया था। जिसका परित्याग करते हुए प्रान्तीय सरकारों को नगर समितियां बनाने का अधिकार दे दिया गया। इन समितियों का प्रमुख कार्य सफाई, प्रकाश तथा पानी की व्यवस्था करना था। 1870 ई0 में लार्ड मेयो का सुप्रसिद्ध विकेन्द्रीकरण प्रस्ताव पारित हुआ। जिसमें स्थानीय स्वायत्त शासन को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया था। इस प्रस्ताव की भाषा थी कि “यदि इस प्रस्ताव को पूर्ण अर्थ में और पूरी निष्ठा के साथ कार्यान्वित किया जाय तो इससे स्वशासन का विकास करने, म्यूनिसिपल संस्थाओं को सशक्त बनाने और भारतीय तथा यूरोपीय लोगों को प्रशासनिक मामलों के साथ पहले से कहीं अधिक सीमा तक सम्बद्ध करने का अवसर मिलेगा।” आगे चलकर इसी सिद्धान्त के आधार पर “जनप्रतिनिधि स्थानीय कार्यों की जिम्मेदारी को स्वयं ग्रहण करें” की धारणा का उदय हुआ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नगरीय प्रशासन के क्षेत्र को सर्वाधिक उपयुक्त माना गया।

1882 ई0 में लार्ड रिपन के द्वारा स्थानीय स्वायत्त शासन को दृढ़ता प्रदान करने के लिए एक प्रस्ताव पारित किया गया। जिसका प्रमुख उद्देश्य इन संस्थाओं में निर्वाचित या गैर-सरकारी प्रतिनिधियों को महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान करते हुए इन पर सरकारी नियन्त्रण को सीमित करना था। इस प्रस्ताव को स्वायत्त शासन के मैग्नाकर्टा की संज्ञा प्रदान की जाती है। 1909 ई0 में स्थापित राजकीय विकेन्द्रीकरण आयोग भी नगरीय संस्थाओं के विकास की दिशा में एक मजबूत पहल थी। किन्तु स्वतन्त्रता पूर्व नगर निगमों के स्थापना की दिशा में किये गये प्रयास नगण्य प्रतीत होते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भी ऐसा प्रतीत होता है कि नगरीय प्रशासन की अपेक्षा ग्रामीण प्रशासन को सुदृढ़ करने पर ही ज्यादा ध्यान दिया गया। यही कारण है कि ग्रामीण स्थानीय शासन के क्षेत्र में हुए नाटकीय परिवर्तनों की तुलना में नगरीय प्रशासन के विकास की गति इतनी धीमी रही कि वह नगण्य प्रतीत होती है। नगरीय स्थानीय शासन की ओर ध्यान तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दिया गया। नगरीय शासन के महत्व को स्वीकार करते हुए इसमें कहा गया कि “आयोजन के अगले दौर में यथासम्भव अधिकाधिक नगरों एवं कस्बों को आयोजन की व्यवस्था में अवयवी ढंग से सम्मिलित किया जाय, प्रत्येक राज्य अपने साधनों को जुटाये और नगरों के निवासियों के लिए पहले से अच्छे जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करें।” इस योजना में यह स्वीकार किया गया कि

नगरीय क्षेत्र तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। ऐसे में इन क्षेत्रों की समस्याएं विकराल रूप ले रही हैं जिसका समाधान केवल राज्य की सरकारों के लिए सम्भव नहीं रहा बल्कि इसके लिए नगर प्रशासन और सामान्य जनता में आपसी सहयोग आवश्यक है। योजना में भविष्य के लिए उचित दिशा प्राप्त करने के लिए निम्न कार्य योजना बनायी गयी-

1. सार्वजनिक अभिग्रहण और उचित वित्तीय नीतियों के द्वारा नगरीय भूमि के मूल्य का नियन्त्रण।
2. भूमि के प्रयोग के लिए सरकार आयोजन और महायोजना का निर्माण।
3. नगरों में उनकी आवश्यकताओं के अनुसार निवास तथा अन्य सुविधाओं के लिए मानक तैयार करना।
4. नगरीय प्रशासन को सशक्त बनाना ताकि वह विकास सम्बन्धी अन्य दायित्वों को पूरा कर सके।

केन्द्रीय सरकार ने समय-समय पर नगरीय स्थानीय शासन के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए निम्नलिखित समितियों का गठन किया गया है- स्थानीय वित्त जांच समिति 1951, नगर प्रशासन के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में समिति 1963, नगरीय स्थानीय निकायों के वित्तीय साधनों के वृद्धि के सम्बन्ध में मन्त्रियों की समिति 1963, ग्रामीण-नगरीय सम्बन्धों के विषय में समिति और नगर-प्रशासन समितियों की सेवा की शर्तों से सम्बन्धित समिति।

इसी प्रकार महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, पंजाब और गुजरात की सरकारों ने नगरीय स्वायत्त शासन के कार्य प्रणाली की जाँच और उनके सुधार के लिए समय-समय पर भिन्न-भिन्न समितियों का गठन किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नगर निगमों की संख्या अप्रत्याशित रूप से बढ़ी। यह इसी से स्पष्ट है कि 1947 ई० में इनकी संख्या जहाँ मात्र तीन थी, वहीं 1969 ई० में इनकी संख्या बढ़कर तीस हो गयी। नगरीय शासन के पुनर्गठन के लिए प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के शासन काल में 65वां संविधान संसोधन विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि नगर निकायों को स्थानीय शासन के इकाई के रूप में प्रभावशाली ढंग से कार्य करने हेतु शक्तियाँ प्रदान की जानी चाहिए। इस अधिनियम द्वारा नगरीय संस्थाओं के तीन वर्ग बनाये गये। प्रथम एक हजार से बीस हजार शहरी आबादी वाली नगर पंचायतें, द्वितीय बीस हजार से तीस हजार शहरी आबादी वाली नगरपालिका और तृतीय तीस हजार से कम शहरी आबादी वाले नगर निगम। इनके निर्माण की घोषणा करने का अधिकार राज्यपाल को प्रदान किया गया था। इसमें अनुसूचित जाति, जनजाति तथा महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण का भी प्रावधान किया गया था। नगर निकायों का कार्यकाल पाँच वर्ष निश्चित किया गया तथा इससे पूर्व विघटन स्थिति में छः माह के भीतर चुनाव बाध्यकारी था। निर्वाचनों का अधीक्षण निर्देशन और नियन्त्रण भारतीय निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाना था। वित्त आयोग का कार्यक्षेत्र बढ़ाकर नगर निकायों की वित्तीय समीक्षा करने तक कर दिया गया। इन निकायों के वित्तीय स्थिति को सुधारने पर भी प्रबल जोर दिया गया था। यद्यपि इस विधेयक को लोकसभा के द्वारा तो पारित कर दिया गया लेकिन राज्य सभा में कांग्रेस का बहुमत न होने के कारण यह विधेयक पारित नहीं हो सका। नगरीय स्थानीय स्वशासन की दिशा में सबसे ठोस पहल 1991 ई० में पी०बी० नरसिंह राव के प्रधानमंत्री बनने के बाद हुई। इन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान करने के उद्देश्य से 73वां संविधान संसोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया गया। जिसे दिसम्बर 1992 में लोकसभा और राज्य सभा दोनों के द्वारा पारित कर दिया गया। 20 अप्रैल 1993 ई० को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर यह विधेयक 74वें संविधान संसोधन 1993 ई० के रूप में जाना गया। इस संसोधन द्वारा संविधान में अध्याय 09 (क) नाम से एक नया अध्याय जोड़ दिया गया। जिसका सम्बन्ध शहरी प्रशासन से है। इस अधिनियम द्वारा शहरी प्रशासन के सर्वोच्च संस्था के रूप में नगर निगम की स्थापना की गई है।

15.3 विभिन्न राज्यों में नगर निगम

स्थापना के आधार पर भारतीय नगर महापालिकाओं को दो श्रेणियों विभाजित किया जा सकता है- स्वतन्त्रता पूर्व स्थापित नगर महापालिकाएं और स्वतन्त्र भारत में स्थापित नगर महापालिकाएं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा सर्वप्रथम 1687ई0 में मद्रास में कार्पोरेशन की स्थापना की गयी। जिसमें भारतीयों को भी सदस्य बनाने की व्यवस्था की गयी थी। यद्यपि इनको अधिकार बहुत कम दिया गया था। ये सीमित मात्रा में कर भी लगा सकते थे। बाद में चलकर 1720 ई0 में कलकत्ता और 1793ई0 में बम्बई में भी इसी तरह के कार्पोरेशन की स्थापना की गयी। चूंकि स्वतन्त्रता से पूर्व स्थापित इन नगर निगमों की स्थापना एक विशेष विधान के अन्तर्गत की गयी थी। इसलिए इनको भंग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उस विधान में इनको भंग करने का कोई प्रावधान नहीं है। स्वतन्त्रता से पूर्व स्थापित इन नगर-निगमों के स्वरूप में भी बदलती हुई परिस्थितियों का अनुरूप संसोधन व परिवर्तन होता रहा है। 1938ई0 में नियुक्त स्थानीय शासन समिति का सुझाव था कि जिन नगर पालिकाओं की जनसंख्या एक लाख पचास हजार अथवा उससे अधिक हो तथा वार्षिक आय 15 लाख से कम न हो उन्हें नगर निगमों में परिवर्तित कर दिया जाय। यद्यपि वर्तमान समय में ये कसौटियां अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होती हैं। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि पन्द्रह अगस्त 1947 ई0 में स्वतन्त्रता प्राप्त होने तक भारत में केवल तीन नगर निगम संस्थाएं (मद्रास, कलकत्ता और बम्बई) ही स्थापित हो सकी थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नगर निगम की स्थापना राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित विशेष संविधि के अन्तर्गत की जाती है। इस प्रकार की विधि किसी एक निगम विशेष या राज्य के सभी निगमों के लिए बनायी जा सकती है। इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद क्रमशः विभिन्न राज्यों के द्वारा अधिनियम बनाकर नगर निगमों की स्थापना का प्रयास किया गया। मध्य प्रदेश में मध्यप्रदेश नगर निगम अधिनियम 1956, केरल में 1956 ई0 में, उत्तर प्रदेश में उत्तर प्रदेश नगर निगम अधिनियम 1959, आसाम में 1960 ई0 में, कर्नाटक में 1964 ई0 में, महाराष्ट्र में महापालिका अधिनियम 1965, उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश में 1965 ई0 में अधिनियम बनाकर नगर निगमों की स्थापना की गयी। जिसके कारण नगर निगमों की संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है। 1947 ई0 में यह तीन, 1975 ई0 में 34, 1986 ई0 में 68 तथा 1992 ई0 तक यह संख्या 73 तक पहुँच गयी थी। 74वें संविधान संसोधन के उपरान्त प्रायः सभी राज्यों में नगर निगम की अर्हताएँ पूरे करने वाले नगरों में इनकी स्थापना की जा चुकी है। दिल्ली में नगर निगम की स्थापना संघीय संसद के द्वारा की गयी है। इसलिए नगर निगम संस्था के रूप में वह अधिक सम्माननीय और अन्य नगर निकायों की तुलना में अधिक स्वायत्ता का उपयोग करता है।

15.4 नगर निगम की स्थापना

नगर निगम सर्वोच्च नगरीय निकाय है। नगरीय शासन की इस पद्धति की उत्पत्ति उन बड़े नगरों के लिए हुई है जहाँ कि नागरिक समस्याएं अधिक जटिल हो जाती हैं। नगरीय समस्याओं का समाधान करने के लिए ही राज्य संविधि बनाकर नगर निगमों की स्थापना करते हैं। डॉ० एस०आर० माहेश्वरी ने लिखा है कि भारत में नगरीय स्थानीय शासन का संगठन ग्रामीण स्थानीय शासन की भाँति सोपानात्मक नहीं है नगर निगम अन्य नगरीय संस्थाओं की तुलना में अधिक स्वायत्तता का उपयोग करने के कारण निश्चित रूप से अधिक सम्माननीय हैं। राज्य विधानमण्डल के विधि द्वारा स्थापित होने के कारण ही इनके निर्माण के लिए कठोर कसौटियों का निर्धारण किया जाता है। 1966ई0 में ग्रामीण-नगरीय सम्बन्ध समिति ने सुझाव दिया कि स्थानीय शासन की निगम पद्धति को उन्हीं नगरों में स्थापित किया जाना चाहिए, जिनकी जनसंख्या 05 लाख तथा वार्षिक आय एक करोड़ से कम न हो। यद्यपि जनसंख्या और आय आधारित यह कसौटी अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। इसलिए नगर निगमों की स्थापना की एक मात्र कसौटी इसको नहीं माना जा सकता है। मोटे तौर पर यह माना जाता है कि किसी नगर में नगर निगम स्थापित करने के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है-

1. क्षेत्र घना बसा हो।
2. नगरपालिका के वर्तमान विकास के साथ-साथ भावी विकास की गुंजाइश हो।
3. वर्तमान वित्तीय विकास के साथ-साथ भविष्य में भी विकास सम्भावित हो।

4. जनता में बढ़े हुए कर को वहन करने की इच्छा और क्षमता हो।

5. लोकमत निगम निर्माण के पक्ष में हो।

वस्तुतः ये सार्वभौमिक सिद्धान्त नहीं हैं बल्कि यह तो पूर्णरूपेण राज्य की इच्छा पर निर्भर होता है कि वह किस नगर में नगर की स्थापना करे। प्रायः राज्य सरकार उसी नगर को नगर निगम का दर्जा प्रदान करती है जो अत्यन्त बड़ा हो और साथ ही साथ वहाँ जनमत भी नगर निगम की निरन्तर मांग कर रहा हो। जनसंख्या और राजस्व की कसौटी तो वास्तव में समय सापेक्ष होती है। इसलिए समय के साथ-साथ उसकी सार्थकता जाती रहती है। जैसे 1938ई0 में स्थानीय शासन समिति ने सुझाव दिया था कि जिस नगरपालिका की जनसंख्या 01 लाख 50 हजार या उससे अधिक तथा वार्षिक आय 15 लाख से अधिक हो उन्हें नगर निगम बना दिया जाना चाहिए। वर्तमान समय में यह कसौटी हास्यास्पद होने के साथ-साथ अस्वीकार्य भी है। राज्यों में नगर निगमों की स्थापना राज्य विधानमण्डल द्वारा कानून बनाकर किया जाता है तो केन्द्र शासित प्रदेशों में इनकी स्थापना संसदीय अधिनियमों के आधार पर होता है। इसलिए इनका अस्तित्व एवं अधिकार भी राज्य एवं केन्द्र की इच्छा पर निर्भर होता है।

15.5 नगर निगमों का संगठन

भारतीय महानगरों में स्थापित नगर निगमों के चार प्रमुख घटक होते हैं। जिनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है- 1. परिषद, 2. निगमाध्यक्ष या महापौर, 3. समितियाँ, 4. नगरपाल या नगर आयुक्त।

1. **परिषद-** परिषद नगर निगम का विधायी अंग होता है। इसलिए इसे स्थानीय विधान सभा की संज्ञा दी जाती है। परिषद के सदस्य दो तरह के होते हैं। प्रथम कुछ सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है, जिन्हें सभासद या पार्षद के नाम से सम्बोधित किया जाता है। द्वितीय कुछ सदस्यों का चुनाव सभासदों के द्वारा किया जाता है। इस चुनाव का उद्देश्य परिषद में बयोवृद्ध या अनुभवी व्यक्तियों, महिलाओं या अन्य तबके लोगों को लाना होता है, इसलिए इनको 'एल्डरमैन' कहा जाता है। इस प्रकार परिषद के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा ही किया जाता है। इसलिए यह जनता के इच्छा को मुखरित करती है, जो अन्ततः नगर विधि का रूप धारण कर लेती है। परिषद के आकार के सम्बन्ध में कोई सार्वभौमिक सिद्धान्त नहीं बनाया गया है, जिसका परिणाम है कि पश्चिम बंगाल के चन्द्रनगर नगर निगम में मात्र 22 सदस्य होते हैं तो बम्बई नगर निगम के सदस्यों की संख्या 131 होती है।

2. **निगमाध्यक्ष या महापौर-** नगर निगम के अध्यक्ष को निगमाध्यक्ष, महापौर, निगमपाल, निगमपति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। नगर निगम अध्यक्ष नगर का प्रथम नागरिक कहलाता है। इस दृष्टि से उसका पद अत्यन्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा से परिपूर्ण होता है। महापौर के चुनाव के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्तर पर एकरूपता का अभाव है, इसलिए जहाँ कई राज्यों में आज भी नगर निगम के अध्यक्ष का चुनाव सभासदों के द्वारा किया जाता है तो वहीं उत्तर प्रदेश में इनका चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा पांच वर्ष के लिए किया जाता है। अध्यक्ष के रूप में वह नगर निगम के परिषद के द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए नगर आयुक्त को प्रेषित करता है। नगर के नेता के रूप में वह नगरीय प्रशासन तथा राज्य सरकार के बीच कड़ी के रूप में भी कार्य करता है। नगरीय समस्याओं से राज्य सरकार को अवगत कराने तथा राज्य सरकार के द्वारा नगर के विकास के लिए दिये जाने वाले आदेश व निर्देश को वह क्रियान्वित कराता है। निगमाध्यक्ष अध्यक्ष के रूप में परिषद के कार्यालय पर प्रशासनिक नियन्त्रण रखता है। इस दृष्टि से उसे कई प्रदेशों में नगर निगम के सभी अभिलेखों की जांच करने का अधिकार दिया गया है। वह नगर के नागरिक प्रशासन के सम्बन्ध में नगरपाल से जानकारी मांग सकता है।

3. **समितियां-** परिषद, नगर निगम का सबसे शक्तिशाली घटक है। जिसके समस्त कार्य समितियों द्वारा किये जाते हैं। नगर के परिषद की बैठके प्रायः महीने में एक या दो बार होती है। अतः उसके लिए अपने सभी कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न करना दुष्कर है। इसलिए लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के अनुरूप परिषद द्वारा अपने सदस्यों की समितियां बना दी जाती है जो उनके कार्यों को सुचारु रूप में संचालित करने में प्रभावी भूमिका का निर्वहन करती है। परिषद द्वारा नियुक्त समितियों को दो श्रेणियों में रखा जाता है- सांविधिक और गैर- सांविधिक। सांविधिक समितियों का आशय उन समितियों से लगाया जाता है, जिनका निर्माण उसी संविधि के द्वारा की गयी हो जिसके द्वारा नगर निगम की स्थापना की गयी है। जबकि गैर-सांविधिक समितियां उन समितियों को कहा जाता है जिनका निर्माण समय-समय पर परिषद के द्वारा बनाये गये उपनियमों के अधीन किया जाता है। इन समितियों में सबसे महत्वपूर्ण कार्यकारिणी समिति होती है, जो नगर निगम के कार्यों को सम्पन्न करने हेतु आदेश देती है। इसके अलावा शहर की व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए विकास, शिक्षा, जन स्वास्थ्य, प्रकाश व्यवस्था, जल, साफ-सफाई, लेखा-जोखा, नगर नियोजन आदि से सम्बन्धित समितियां भी गठित की जाती हैं। इन समितियों की सदस्य संख्या सीमित होने के कारण आवश्यकतानुसार इनकी बैठक किसी भी समय आसानी से बुलायी जा सकती है।
4. **नगरपाल या नगर आयुक्त-** प्रत्येक नगर निगम में निगम की स्वीकृति से राज्य सरकार द्वारा एक मुख्य अधिकारी की नियुक्ति की जाती है जो नगर निगम का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। वह भारतीय प्रशासनिक सेवा का वरिष्ठ सदस्य होता है जिसके वेतन का भुगतान नगर निगम के कोष से किया जाता है। नगर आयुक्त के द्वारा ही निगम के समस्त प्रशासनिक कृत्यों का सम्पादन किया जाता है तथा वह नगर निगम का आवश्यक मार्गदर्शन व नियन्त्रण भी करता है। निगम आयुक्त का कार्य विविधतापूर्ण होता है। वह अधिनियम द्वारा निश्चित कर्तव्यों का पालन करता है। वह सभी नगरीय विवरणों का अभिरक्षक होता है। वही नगर निगम बजट को तैयार कर परिषद के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए रखता है। प्रशासनिक-तन्त्र का प्रमुख होने के नाते वह सभी सरकारी कार्यों के सरल सम्पादन के लिए उनको विभिन्न विभागों में बांटता है। इस प्रकार वह नगर निगम का सबसे महत्वपूर्ण और अत्यन्त शक्तिशाली पदाधिकारी होता है। नगर आयुक्त की सहायता के लिए नगर निगम में सहायक नगर अधिकारी, उपनगर अधिकारी, नगर अभियन्ता तथा स्वास्थ्य अधिकारी आदि प्रमुख हैं। नगर आयुक्त को परिषद तथा उसकी समितियों की बैठकों में भाग लेने, परिषद में किसी मुद्दे पर विचार-विमर्श करने का भी अधिकार होता है लेकिन परिषद या उसकी समितियों के निर्णय के लिए मतदान में भाग लेने का अधिकार उसे नहीं होता है।

15.6 नगर निगम के कार्य

नगर निगम के कार्यों के सम्बन्ध में भी राष्ट्रीय स्तर पर एकरूपता का अभाव देखने को मिलता है। यह इसी से स्पष्ट है कि जहाँ कुछ राज्यों के नगर निगम स्थापित करने वाली संविधियों में उनके कार्यों का विवरण संक्षिप्त रूप में दिया गया है तो वही कुछ राज्यों में नगर निगम को स्थापित करने वाली संविधियों में इनका उल्लेख अत्यन्त विस्तार पूर्वक किया गया है। इसके अतिरिक्त नगर निगम के कार्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है- अनिवार्य कार्य और ऐच्छिक कार्य। इनकी सूची में इस हद तक असमानता है कि किसी राज्य में जो कार्य अनिवार्य कार्य की श्रेणी में है तो दूसरे राज्य में वही कार्य ऐच्छिक कार्य की श्रेणी में हैं। उदाहरण स्वरूप पशु चिकित्सालयों की स्थापना और अनुरक्षण मध्य प्रदेश में अनिवार्य कार्यों की सूची में है तो दिल्ली में यह ऐच्छिक कार्यों की सूची के अन्तर्गत है। सामान्यतः सभी राज्यों में नगर निगमों के द्वारा निम्नलिखित प्रमुख कार्यों को सम्पन्न किया जाता है-

15.6.1 अनिवार्य कार्य

अनिवार्य कार्य वे कार्य हैं जिनको करना नगर निगम के लिए आवश्यक माना जाता है। अनिवार्य कार्यों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्यों को सम्मिलित किया जाता है-

1. शुद्ध जल की व्यवस्था तथा जल संदाय का निर्माण व अनुरक्षण।
2. बिजली और सड़कों पर प्रकाश का प्रबन्ध करना।
3. यातायात सेवाओं के विकास में योगदान करना।
4. सार्वजनिक स्थलों गलियों में सफाई एवं प्रकाश की व्यवस्था करना।
5. गन्दगी तथा कूड़ा-करकट की सफाई व उसको हटाना।
6. जल निकास के लिए नालियों, नालों, सार्वजनिक शौचालयों, मूत्रालयों, आदि का निर्माण, उसकी देखरेख तथा उनकी सफाई।
7. खतरनाक इमारतों तथा स्थानों का अधिग्रहण व उनको गिराने का प्रबन्ध करना।
8. सार्वजनिक मार्गों, गलियों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में उत्पन्न रूकावटों तथा उन पर बने निर्माणों को हटाना।
9. अस्पतालों तथा प्रसूति एवं शिशु कल्याण केन्द्रों का निर्माण तथा अनुरक्षण।
10. खतरनाक बीमारियों की रोकथाम व नियन्त्रण के उपाय।
11. टीकाकरण तथा सुइयों आदि की व्यवस्था।
12. जन्म तथा मृत्यु का पंजीकरण कर उसका लेखा-जोखा रखना।
13. श्मशान घाटों का प्रबन्ध एवं उसका नियमन।
14. प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था।
15. अग्निशमन हेतु दमकल की व्यवस्था।
16. निगम प्रशासन से सम्बन्धित वार्षिक विवरण, आय-व्यय व नक्षों का प्रकाशन।
17. भोजन सामग्री, भोजनालयों का नियन्त्रण तथा उसका प्रबन्ध।
18. बूचड़खानों, कब्रिस्तानों व हाट बाजार हेतु स्थान सुरक्षित करना।

15.6.2 ऐच्छिक कार्य

ऐच्छिक कार्य वे कार्य हैं जिनको करना या न करना नगर निगमों की वित्तीय स्थिति और उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। नगर निगम के प्रमुख ऐच्छिक कार्य निम्नांकित हैं-

1. सार्वजनिक पार्कों, उद्यानों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, नाट्यशालाओं, अखाड़ों तथा क्रीड़ा स्थलों का निर्माण।
2. नागरिकों के सांस्कृतिक विकास हेतु कला-केन्द्र, पिकचर गैलरी आदि की स्थापना करना।
3. सड़कों के किनारे तथा अन्य स्थानों पर वृक्षारोपण व उनकी देखभाल।
4. वृद्ध अपाहिज तथा असहायों की सहायता करना।
5. अवारा कुत्तों, सूअरों तथा अन्य खतरनाक जानवरों को समाप्त करना अथवा बन्दीकरण।
6. भवनों तथा भूमि का सर्वेक्षण।
7. शहर क्षेत्र में मेलों तथा प्रदर्शनियों का संगठन एवं व्यवस्था।
8. विशिष्ट अतिथियों का स्वागत तथा अभिनन्दन करना।
9. विवाहों का पंजीकरण।
10. सार्वजनिक भवनों का निर्माण।

15.7 नगर निगम के आय के साधन

नगर निगम अपने दायित्वों का निर्वहन उचित तरीके से कर सके इसके लिए उसके पास पर्याप्त वित्तीय संसाधनों का होना अनिवार्य है। इस लिए निगमों के निर्माण हेतु बनायी गयी संविधि में इनके आय के स्रोतों का भी जिक्र कर दिया जाता है। वर्तमान में नगर निगम के आय के प्रमुख स्रोतों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- कर, अनुदान तथा अन्य स्रोत।

1. **कर-** नगर निगमों के आय का सबसे प्रमुख स्रोत उसके द्वारा लगाया जाने वाला कर ही होता है। अनुमानतः नगर निगमों के कुल आय का 2/5 से 3/4 भाग करों से प्राप्त होता है। नगर निगम द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित कर लगाये जा सकते हैं- भवन कर, जल कर(वाटर टैक्स), समाचार पत्रों के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनों पर कर, सम्पत्ति कर, वाहनों तथा पशुओं पर कर, थियेटर पर कर, व्यवसाय कर, मनोरंजन कर, बिजली के उपभोग तथा बिक्री पर कर, शिक्षा कर तथा नगरीय क्षेत्र के अधिक विकास और सुधार के कारण जमीन की बढ़ी हुई कीमतों पर उन्नति कर। नगर निगम द्वारा आरोपित करों के विरुद्ध अपील की जा सकती है। जिसकी सुनवायी स्वयं नगर निगम द्वारा की जाती है। किसी विधिक त्रुटि की स्थिति में यह अपील सिविल कोर्ट या हाइकोर्ट में भी की जा सकती है।
2. **अनुदान-** भारत में नगर निगम को वित्तीय सुदृढ़ता प्रदान करने के उद्देश्य से समय-समय पर केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा अनुदान दिये जाते रहते हैं। नगर निगमों के आय का एक प्रमुख स्रोत सरकारों से प्राप्त होने वाला ये अनुदान भी है।
3. **अन्य स्रोत-** उपर्युक्त स्रोतों के अतिरिक्त अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने के लिए नगर निगम एक तरफ नगरीय क्षेत्र में किये जाने वाले विभिन्न कार्यों का लाइसेंस देने हेतु शुल्क वसूल करता है तो दूसरी तरफ वह अपने वित्तीय साधनों से लाभकारी उद्यमों को भी संचालित करता है। इस दृष्टि से वह मूर्गीपालन, सिनेमा, थियेटर व अन्य दूसरे कार्यों को करता है।

15.8 नगर निगम पर नियन्त्रण

नगरीय शासन (नगर निगम) की स्थापना राज्य संविधि के अधीन की जाती है। इसलिए राज्य सरकार नगर निगमों पर यथेष्ट नियन्त्रण भी रखती है। राज्य सरकार समय-समय पर नगर निगमों को आवश्यक कार्य करने हेतु आदेश व निर्देश देती है। जिन कार्यों को करने में अतिरिक्त व्यय की सम्भावना होती है उसके लिए राज्य सरकार की पुष्टि आवश्यक होती है। नगर निगम अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट भी शासन को भेजता रहता है जिसका मूल्यांकन सरकार के द्वारा किया जाता है। नगर निगम द्वारा अपने नियत कर्तव्यों का संपादन न करने या लापरवाही की स्थिति में राज्य सरकार को निगमाध्यक्ष, समितियों, परिषद या नगरपाल को विघटित या पदच्युत करने का अधिकार भी होता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर राज्य सरकार इनके निर्धारित कर्तव्यों का पालन निर्धारित व्यक्ति या कर्मचारी के माध्यम से पूरा करा सकती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में सर्वप्रथम कार्पोरेशन(निगम) की स्थापना किस नगर में और कब की गयी थी?
2. क्या लार्ड मेयो के प्रस्ताव के आधार पर ही “जनप्रतिनिधि स्थानीय कार्यों की जिम्मेदारी को स्वयं ग्रहण करें” की धारणा का विकास हुआ?
3. नगरीय स्वायत्त शासन के लिए 65वां संविधान संसोधन विधेयक किस प्रधानमंत्री के शासन काल में लाया गया था?

4. 74वां संविधान संसोधन विधेयक कब लागू हुआ?
5. क्या नगर निगम सर्वोच्च नगरीय निकाय है?
6. नगर निगम के चार प्रमुख घटक कौन-कौन हैं?
7. नगर निगम के प्रमुख को कहा जाता है?
8. नगर निगम के आय का सबसे प्रमुख स्रोत क्या है?

15.9 सारांश

भारत में नगरीय शासन का प्रचलन भी अत्यन्त प्राचीन काल से देखने को मिलता है। नगर निगमों के विकास की दृष्टि से सबसे ठोस पहल 1687ई0 में मद्रास में कार्पोरेशन की स्थापना कर की गयी। नगरों को सुव्यवस्थित रखने के उद्देश्य से समय-समय पर नगर निगमों की स्थिति को सुधारने के लिए प्रयास किये जाते रहे। इसलिए 1793 में अधिकार पत्र अधिनियम (चार्टर एक्ट) पारित कर तीन महत्वपूर्ण नगरों मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में नगर निगम (कार्पोरेशन) की स्थापना की गई। जिनको साफ-सफाई के साथ-साथ पुलिस प्रशासन, सड़कों का रखरखाव तथा शराब आदि के लाइसेंस देने का अधिकार दिया गया था। 1863 में राजकीय सैनिक स्वास्थ्य आयोग ने नगरों की गन्दगी स्थिति पर चिन्ता व्यक्त किया, जिसे दृष्टिगत रखकर देश के विभिन्न भागों में अधिनियम बनाकर प्रान्तीय सरकारों को नगर समितियों की स्थापना का अधिकार दिया गया। जिनका प्रमुख कार्य नगरों की सफाई, प्रकाश व पानी की व्यवस्था करना था। 1882ई0 का लार्ड रिपन का प्रस्ताव तथा 1909 में स्थापित राजकीय विकेन्द्रीकरण आयोग भी नगरीय संस्थाओं के विकास का महत्वपूर्ण प्रयास था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नगरीय प्रशासन की अपेक्षा ग्रामीण प्रशासन को सुदृढ़ करने पर ही विशेष बल दिया गया। नगरीय प्रशासन की ओर सर्वप्रथम तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ध्यान दिया गया। इस सम्बन्ध में कहा गया कि प्रत्येक राज्य अपने साधनों की व्यवस्था कर नगरों के निवासियों के जीवन की दशाओं को बेहतर बनाये। सबसे ठोस पहल राजीव गाँधी के प्रधानमन्त्रित्व काल में 65वें संविधान के रूप में की गयी लेकिन यह लोक सभा द्वारा पारित होने के बाद कुछ असहमतियों के कारण राज्य सभा में अस्वीकृत हो गया। इसलिए पुनः पी0बी0 नरसिंह राव के प्रधानमन्त्रित्व काल में 65वें संविधान संसोधन के विवादास्पद मुद्दों को परिवर्तित कर 74वां संविधान संसोधन विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया और 20 अप्रैल 1993 को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर यह विधेयक नगरीय प्रशासन का आधार बना।

15.10 शब्दावली

नगर- जहाँ शिक्षित व सभ्य लोग निवास करें, कार्पोरेशन(निगम)- शासकीय अधिनियम से अध्यासित समिति, भग्नावशेष- किसी प्राचीन व्यवस्था के समापन के बाद बचा उसका शेष रूप, पंजीकरण- रजिस्टर में दर्ज करना, परिसंघ- किसी खास उद्देश्य के लिए बनाया गया संगठन, पंचवर्षीय योजना- केन्द्र सरकार द्वारा विकास के लिए पांच वर्ष के निमित्त सुनियोजित योजना, संविधि- राज्य के कानून द्वारा, निकाय- स्थानीय स्वशासन का संगठन

15.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मद्रास में सन् 1687 ई0 में, 2. हाँ, 3. राजीव गाँधी, 4. 1993ई0, 5. हाँ, 6. परिषद, महापौर, समितियाँ व नगर आयुक्त, 7. महापौर, 8. कर

15.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 ए0पी0 अवस्थी, भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक, आगरा।
2. डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, भारत में लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

-
3. एम0पी0 त्यागी एवं आर0के0 रस्तोगी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन मेरठ।
 4. एस0आर0 माहेश्वरी, भारत में स्थानीय स्वशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
-

15.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डॉ0 ए0पी0 अवस्थी, भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक, आगरा।
 2. डॉ0 बी0एल0 फाड़िया, भारत में लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
 3. एम0पी0 त्यागी एवं आर0के0 रस्तोगी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन मेरठ।
 4. एस0आर0 माहेश्वरी, भारत में स्थानीय स्वशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
-

15.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. नगर निगम के विकास पर एक लेख लिखें।
2. नगर निगम की संरचना एवं कार्यों का उल्लेख करें।
3. नगरीय प्रशासन में नगर निगम की भूमिका को स्पष्ट करें।

इकाई- 16 नगरपालिका

इकाई की संरचना

- 16.0 प्रस्तावना
- 16.1 उद्देश्य
- 16.2 नगर पालिका का ऐतिहासिक विकास
- 16.3 नगरपालिकाओं की स्थापना का आधार
- 16.4 नगरपालिका का संगठन
- 16.5 नगरपालिका के अधिकार एवं कार्य
 - 16.5.1 अनिवार्य कार्य
 - 16.5.2 ऐच्छिक कार्य
- 16.6 नगरपालिका के आय के साधन
- 16.7 नगरपालिका पर नियन्त्रण
- 16.8 सारांश
- 16.9 शब्दावली
- 16.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 16.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 16.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 16.13 निबंधात्मक प्रश्न

16.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में आपने देखा कि नगरों की सबसे बड़ी इकाई नगर निगम है जिसकी स्थापना कुछ बड़े आकार व जनसंख्या वाले नगरों में ही की जाती है। यद्यपि भारत एक कृषि प्रधान देश है, जिसकी 75 से 80 प्रतिशत जनसंख्या आज भी मूल रूप से गांवों में निवास करती है। सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलताएं व आर्थिक आवश्यकताओं ने व्यक्ति के कार्य प्रणाली को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया है। जिसके परिणामस्वरूप लोग शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य आदि आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख गांवों से कस्बों या शहरों की तरफ पलायन कर रहे हैं। परिणामस्वरूप जहाँ नगर, महानगरों में तब्दील हो रहे हैं, वहीं कस्बे नगर का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं।

गांवों से कस्बों या नगरों की तरफ पलायन निश्चित रूप से इन क्षेत्रों की समस्याओं को बढ़ा रहा है। इसलिए स्वतन्त्रता पूर्व ही अपेक्षाकृत छोटे नगरों में नगरपालिकाओं की स्थापना की जाने लगी थी। विभिन्न प्रान्तों के द्वारा अपने नगरीय नागरिकों की समस्याओं को दृष्टिगत रखकर नगरों में नगरपालिकाओं की स्थापना करने के साथ-साथ वहाँ के साफ-सफाई, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली, पानी आदि समस्याओं के समाधान का दायित्व उन्हें सौंप दिया है। जिसके कारण निश्चित रूप से नगरीय जीवन की परिस्थितियों में सुधार हुआ है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बढ़ते हुए औद्योगीकरण एवं भौतिक आवश्यकताओं ने मानव जीवन को प्रभावित किया। लोगों ने रोजी व रोजगार के लिए ऐसे क्षेत्रों में जाना प्रारम्भ किया, जहाँ विभिन्न किस्म के कल-कारखाने स्थापित थे। जिससे ऐसे क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व तेजी के साथ बढ़ा। परिणामस्वरूप आवश्यक संसाधनों की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता घटने के साथ-साथ इन क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, सफाई, बिजली, शुद्ध पानी आदि जैसी

समस्याएं बढ़ने लगी। स्थानीय स्तर पर ही इन समस्याओं को सुलझाने के उद्देश्य से राज्यों ने अधिनियम बनाकर नगरपालिकाओं की स्थापना को व्यवहारिकता प्रदान किया।

इस इकाई में नगरीय प्रशासन के नगरपालिका निकाय का विस्तृत उल्लेख करने का प्रयास किया गया। यह जनसंख्या, आकार और अन्य मानकों के दृष्टि से द्वितीय श्रेणी के नगरों में स्थापित की जाती है। इसमें नगरपालिका के प्राचीन स्वरूप के साथ-साथ उसकी संरचना, अधिकार एवं कार्य, आय के साधन तथा नागरिकों के प्रति उसका दृष्टिकोण एवं सरकारों के नियन्त्रण का व्यापक उल्लेख किया गया है।

16.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- नगर पालिका के ऐतिहासिक विकास को जान सकेंगे।
- नगरीय प्रशासन में उसकी स्थिति को समझ सकेंगे।
- नगरीय समस्याओं के समाधान में इसकी भूमिका को समझ सकेंगे।
- नगर पालिकाओं की संरचना व कार्यप्रणाली को जान सकेंगे।

16.2 नगर पालिका का ऐतिहासिक विकास

भारत में नगर प्रशासन का स्वरूप अत्यन्त प्राचीनतम है। मौर्यकाल में ग्रामीण शासन व्यवस्था के साथ-साथ नगरीय प्रशासन की व्यवस्था भी सन्तोषजनक थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार नगर का सबसे बड़ा पदाधिकारी नागरिक कहलाता था, जो नगर का प्रशासन करता था। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर (आधुनिक पटना) के विस्तृत अध्ययन के पश्चात जो विवरण दिया है, उससे विदित होता है कि वह एक प्रकार की म्यूनिसिपल व्यवस्था ही थी। जिसकी तुलना वर्तमान म्यूनिसिपल की कार्य प्रणाली से की जा सकती है। मध्यकाल में मुस्लिम शासन की स्थापना के साथ ही स्थानीय शासन के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया गया है। जिसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने लिखा है कि इस काल में भी देश में स्थानीय शासन विद्यमान था। नगर का प्रशासन एक अधिकारी को सुपुर्द होता था, जो कोतवाल कहलाता था। दण्ड व्यवस्था, पुलिस तथा वित्तीय मामलों में उसकी सत्ता सर्वोपरि थी।

सन् 1842 में पहला नगरपालिका अधिनियम केवल बंगाल के लिए पारित किया गया। जिसके अनुसार बंगाल के जनपदीय नगरों (जिला नगरों) में भी नगर प्रशासन का विस्तार कर दिया गया लेकिन इसका तीव्र विरोध प्रारम्भ हो गया। जिसे देखते हुए इसे समाप्त कर सन् 1850 में दूसरा नगरपालिका अधिनियम पारित किया गया। जिसे ऐच्छिक रूप से किसी भी नगर में लागू किया जा सकता था। इस अधिनियम द्वारा नगरपालिकाओं को चुंगी-कर वसूलने का अधिकार दे दिया गया। इसी अधिनियम के अनुसार उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा अन्य प्रमुख नगरों में नगरपालिकाओं की स्थापना की गयी। इसमें नगरपालिकाओं द्वारा नागरिकों को अधिक सुविधाएं और सुरक्षा प्रदान करते हेतु आवश्यकतानुसार न्यायधीशों और कमिश्नरों की नियुक्ति का प्रावधान था। यह अधिनियम सम्पूर्ण ब्रिटिश इण्डिया में लागू किया गया था। 1857 ई० के जन विप्लव के कारण भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश सम्राट के हाथों में आ गया। इसी बीच रेल तथा सड़कों का निर्माण एवं विस्तार ग्रामीण उद्योगों के बजाय शहरों में निर्मित होने वाली वस्तुओं के उपयोग एवं सुरक्षा तथा व्यापार हेतु शहरों एवं कस्बों का विकास तेजी से होने लगा। जिसके कारण लोग इन विकासोन्मुख स्थानों पर बसने के लिए बरबस ही आकृष्ट हुए। इसलिए नगरीय शासन को सुव्यवस्थित करने की दिशा में प्रयास तेज हो गया। इसलिए 1861 ई० में 'टाऊन इम्प्रूवमेंट एक्ट' पारित किया गया। इसके साथ-साथ 1861 ई० में उत्तर पश्चिमी प्रान्तों 1864 ई० में

बंगाल प्रान्त, 1865 ई० में मद्रास तथा 1867 ई० में पंजाब में नगर पालिका अधिनियम पारित किये गये। इन एक्टों द्वारा लगभग सभी प्रान्तों के प्रमुख नगरों में स्वायत्त शासन संस्थाओं की स्थापना करके नगरीय स्थानीय शासन का विकास किया गया।

1870 में लार्ड मेयो ने अपने विकेन्द्रीकरण प्रस्ताव में इस बात पर बल दिया कि भारतीयों को प्रशासनिक कार्यों में अधिकतम सहभागिता देने के दृष्टि से नगरीय स्थानीय प्रशासन की इकाईयों का विकास किया जाय। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि “यदि इस प्रस्ताव को पूर्ण अर्थ में और पूरी निष्ठा के साथ कार्यान्वित किया जाय तो इससे स्वशासन का विकास करने, म्यूनिसिपल संस्थाओं को सशक्त बनाने और भारतीय तथा यूरोपीय लोगों को प्रशासनिक मामलों के साथ पहले से कहीं अधिक सीमा तक सम्बद्ध करने का अवसर मिलेगा।” सन् 1881 ई० के अन्त तक ब्रिटिश इण्डिया के विभिन्न प्रान्तों में नगरपालिकाओं की स्थिति निम्न प्रकार थी-

प्रान्त का नाम	कुल नगरपालिका सदस्य	पूर्ण अथवा अर्द्ध निर्वाचित सदस्य	नियुक्त सदस्य
अवध प्रदेश(उत्तर प्रदेश)	107	75	32
पंजाब	197	05	192
मध्य प्रदेश	61	61	135
बंगाल	138	03	- -
मद्रास	47	12	35
बम्बई	162	19	143

उपर्युक्त आकड़ों से स्पष्ट है कि लार्ड मेयो के प्रस्ताव के अनुरूप सत्ता का विकेन्द्रिकर कर नगरपालिकाओं में कुछ हद तक निर्वाचित सदस्यों को प्रवेश दिया गया। लार्ड मेयो के प्रस्ताव को सुदृढ़ता प्रदान करने का कार्य 1882 ई० में लार्ड रिपन के द्वारा किया गया। लार्ड रिपन के प्रस्ताव की प्रमुख संस्तुतियां निम्नलिखित थी-

1. ब्रिटिश इण्डिया के समस्त समृद्ध नगरों में स्थानीय संस्थाओं की स्थापना की जाये। इनका अधिकार क्षेत्र सीमित रखा जाय ताकि इन स्वायत्त संस्थाओं में भाग लेने वाले सदस्य स्थानीय समस्याओं का गहन अध्ययन कर सकें।
2. इन संस्थाओं में गैर सरकारी सदस्यों की संख्या 2/3 तथा सरकारी सदस्यों की संख्या 1/3 कर दी जाये। गैर- सरकारी सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की जाय।
3. इन निकायों के गैर सरकारी सदस्यों को प्रान्तीय सरकार द्वारा स्वीकृत किया जाना आवश्यक कर दिया गया।

लार्ड रिपन का प्रस्ताव नगरीय स्वशासन के इकाईयों के गठन का आधार बना। इसलिए कुछ विद्वानों ने लार्ड रिपन के प्रस्ताव को नगरीय स्थानीय स्वशासन के मैनाकार्टा की संज्ञा दी है।

भारत में नगरीय शासन (नगरपालिका) की स्थापना के दृष्टि से ‘राजकीय विकेन्द्रीकरण आयोग’ एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। जिसकी स्थापना सन् 1907 ई० में की गयी और जिसने अपनी रिपोर्ट 1909 ई० में प्रस्तुत की। इसकी प्रमुख संस्तुतियों का संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है-

- नगरीय क्षेत्रों में नगरपालिकाओं का निर्माण किया जाय जिसका अध्यक्ष गैर-सरकारी और निर्वाचित व्यक्ति हो उसके अधिकारों में भी वृद्धि कर दी जाय।
- नगरपालिका के सदस्यों का निर्वाचन नगर पालिका के कर दाताओं के द्वारा किया जाना चाहिए।
- नगरपालिकाओं को इतनी शक्ति अवश्य प्रदान की जाय जिससे वे कर निर्धारित कर न्यूनतम धनराशि अपने कोष में इकट्ठा कर अपने बजट का निर्धारण कर सकें।

- बड़े नगरों में नगरपालिका को एक पूर्णकालिक नामित अधिकारी की सेवाएँ उपलब्ध करायी जाय, जिससे वह स्थानीय कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखते हुए उनसे अपने दायित्वों का निर्वहन करा सके।
- नगरपालिकाओं के ऋण लेने पर सरकार का नियन्त्रण बना रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त नगरपालिका की सम्पत्ति पट्टे पर देने या बेचने के पूर्व उस पर सरकार की स्वीकृति अवश्य ली जानी चाहिए।
- प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व नगरपालिका का हो और यदि वह चाहे और उसके पास संसाधन हो तो वह उच्च प्राथमिक व माध्यमिक विद्यालयों पर भी खर्च कर सके।

इस काल में नगरपालिकाओं के आय के साधन लगभग दो गुने हो गये फिर भी उनकी स्थिति में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। 1918 ई० में भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रावधान किये गये थे-

- समस्त स्वायत्तशासी संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों की संख्या 3/4 होनी चाहिए तथा अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए इस वर्ग के सदस्यों को नामित किया जाना चाहिए।
- निर्वाचन तथा मताधिकार को व्यापक बनाया जाना चाहिए। नगरपालिका का अध्यक्ष सामान्यतः गैर-सरकारी तथा निर्वाचित व्यक्ति को ही बनाया जाय और यदि ऐसा न हो तो बहुमत गैर-सरकारी सदस्यों का ही होना चाहिए।
- बड़े नगरों में नगरपालिकाओं के प्रशासन का संचालन हेतु प्रशासनिक अधिकारी बोर्ड गठित किया जाय, जिसकी स्वीकृति राज्य सरकार द्वारा की जाय।
- नगरपालिकाओं को अपने कार्य क्षेत्र के भीतर कर लगाने तथा अपने वेतनभोगी कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने का व्यापक अधिकार दिया जाय।

सन् 1921 ई० में सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में मताधिकार को व्यापक बनाने का प्रयास किया गया। अब नगरपालिकाओं के मतदान में उन सभी लोगों का भाग लेने का अधिकार दिया गया जो नगरपालिका को कर देते थे या विधान परिषद के चुनाव में मतदाता थे या नगरपालिका सीमा या उससे दो मील के अन्दर निवास करते थे। 1924 में एक अधिनियम बनाकर भारतीय महिलाओं को भी नगरपालिका का सदस्य चुने जाने का अधिकार दिया गया।

भारत के अधिकांश प्रान्तों के नगरों में स्वतन्त्रता पूर्व ही अधिनियम बनाकर नगरपालिकाओं की स्थापना कर दी गयी थी। जैसे- बम्बई जिला नगरपालिका अधिनियम 1901, पंजाब नगरपालिका अधिनियम 1911, संयुक्त प्रान्त नगरपालिका अधिनियम 1916, मद्रास जिला नगरपालिका अधिनियम 1920, बिहार एवं उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम 1922, बम्बई म्यूनिसिपल बोर्ड अधिनियम 1925, बंगाल नगरपालिका अधिनियम 1932 आदि।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी नगरीय शासन के प्रति उपेक्षात्मक रवैया ही देखने को मिलता है। यद्यपि 1956 ई० में राज्यों के पुनर्गठन के तत्काल बाद कई राज्यों में नगरपालिका अधिनियम बनाये गये, क्योंकि राज्यों के पुनर्गठन के बाद एक ही अधिनियम द्वारा कई राज्यों या एक ही राज्य कई अधिनियमों के आधार पर नगरपालिकाओं का संचालन कर रहे थे, जबकि अलग-अलग राज्यों की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न थी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में नगरीय प्रशासन को महत्वपूर्ण मानते हुए नगरों और कस्बों के नागरिकों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए साधन जुटाने पर बल दिया गया। बढ़ते हुए औद्योगीकरण व व्यवसायीकरण ने नगरों की जनसंख्या को अप्रत्याशित रूप से बढ़ा दिया है। जिसके कारण इन क्षेत्रों की समस्याएं विकराल रूप धारण कर रही है। जिनका उन्मूलन जनता और स्थानीय संस्थाओं के सहयोग से ही सम्भव है। 1971 ई० तक भारत में नगरपालिकाओं की संख्या बढ़कर लगभग 1493 हो गयी थी। नगरीय स्वशासन की दिशा में एक ठोस पहल प्रधानमन्त्री राजीव गांधी

के शासन काल में 65वें संविधान संसोधन अधिनियम के रूप में की गयी थी लेकिन विपक्षी दलों के विरोध के कारण यह राज्य सभा में पारित नहीं हो सका जबकि लोक सभा ने इसे बहुमत से पारित कर दिया था। 65वें संविधान संसोधन की विसंगतियों को दूर करते हुए प्रधानमंत्री नरसिंह राव के शासन काल में 74वां संविधान संसोधन विधेयक संसद में पेश किया गया जो संसद के दोनों सदनों के बहुमत से पारित हो गया और राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर इस अधिनियम ने नगरीय संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया। अतः अब इनकी उपेक्षा करना सरकारों के लिए सम्भव नहीं रह गया है। बढ़ते हुए औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का ही परिणाम है कि नगरपालिकाओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि सन् 1971 में इनकी संख्या 1493 थी जो बढ़कर सन् 1990 में 1770 हो गयी।

16.3 नगरपालिकाओं की स्थापना का आधार

वर्तमान नगरों एवं शहरों में नगरपालिका स्थानीय स्वशासन की अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली संस्था है। जिसकी स्थापना विभिन्न नगरों में नगरवासियों की बढ़ती हुई समस्याओं का निदान कर उनको जीवन के अनुकूल परिस्थितियां उपलब्ध करना होता है। किसी क्षेत्र विशेष में व्यवसाय तथा अन्य सुविधाओं के कारण जब लोग वहाँ बसने लगते हैं तो स्वाभाविक रूप से नागरिक समस्याओं की उत्पत्ति होती है। नगरपालिकाओं की स्थापना के लिए किसी शहर में कुछ न्यूनतम जनसंख्या का होना आवश्यक है, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि वह न्यूनतम जनसंख्या क्या हो? इस सम्बन्ध में अलग-अलग राज्यों में उनकी स्थितियों व परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग मानक निर्धारित किया गया है। कुछ राज्यों में नगरपालिकाओं की स्थापना के लिए आवश्यक न्यूनतम जनसंख्या निम्न प्रकार है-

राज्य	जनसंख्या
उत्तर प्रदेश	20000
बिहार	5000
बंगाल	20000
मद्रास	20000
गुजरात	30000
आन्ध्र प्रदेश	25000
पंजाब व हरियाण	10000
महाराष्ट्र	10000
उड़ीसा	5000

किसी भी नगरीय क्षेत्र में नगरपालिका की स्थापना के लिए एक आवश्यक शर्त यह भी है कि वहाँ की जनता इसके लिए साधन जुटाने के योग्य तथा इच्छुक हो। वस्तुतः कुछ राज्यों में नगरपालिकाओं की स्थापना के लिए जनसंख्या और वार्षिक आय दोनों ही मानक निर्धारित किये गये हैं। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश में नगरपालिका की स्थापना के लिए जनसंख्या कम से कम 20 हजार तथा वार्षिक आय 40 हजार आवश्यक मानी गयी है। आय सम्बन्धी मानक उस स्थिति में ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाता है, जबकि किसी कम जनसंख्या वाले क्षेत्र में नगरपालिका स्थापित करने की अनुज्ञा दे दी जाती है। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि किसी नगर को नगरपालिका का दर्जा प्रदान करने लिए आय सम्बन्धी मानक का प्राथमिक महत्व नहीं होता है, लेकिन वह उस शहर की श्रेणी या दर्जा निर्धारित करने में निर्णायक मानी जाती है।

16.4 नगरपालिका का संगठन

नगर निगमों की भाँति नगर पालिका के भी चार प्रमुख घटक होते हैं- नगर परिषद, अध्यक्ष, नगरपालिका आयुक्त और समितियाँ।

1. **नगर परिषद-** नगर पालिका में 'नगर परिषद' जनता की सभा मानी जाती है। जिसमें प्रमुख रूप से तीन प्रकार के सदस्य होते हैं- निर्वाचित सदस्य, नामित सदस्य और नगर वृद्ध(एल्डरमैन)। निर्वाचित सदस्यों का चुनाव नगर की जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है। इसके लिए नगर क्षेत्र को उतने ही क्षेत्रों (वार्डों) में बाँट दिया जाता है, जितना जनसंख्या के आधार पर नगर परिषद के सदस्यों की संख्या निश्चित होती है। प्रत्येक वार्ड से एक प्रतिनिधि चुने जाने की व्यवस्था होती है। इन चुने हुए सदस्यों को पार्षद के नाम से सम्बोधित करते हैं। नगर परिषद में अनुसूचित जाति, जनजाति तथा स्त्रियों के लिए यथासम्भव स्थान आरक्षित होता है, लेकिन अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित स्थान का अनुपात वही होगा जो उस नगर के सम्पूर्ण जनसंख्या में अनुसूचित जाति व जनजाति के जनसंख्या का है। लोकसभा व विधान सभा के वे सदस्य भी नगरपालिका के नामित (पदेन) सदस्य होते हैं, जिनके निर्वाचन क्षेत्र का पूर्ण या आंशिक भाग नगरपालिका क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता हो। इसी प्रकार राज्य सभा या विधान परिषद के वे सदस्य भी जो नगरपालिका क्षेत्र में मतदाता के रूप में पंजीकृत है नगरपालिका के सदस्य होते हैं। कुछ सदस्यों को नगरपालिका में राज्य सरकार के द्वारा मनोनीत किया जाता है। इस हेतु राज्य सरकार किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने या किसी ऐसे व्यक्ति को जिसकी उपस्थिति नगर परिषद के लिए लाभदायक हो, नगरपालिका परिषद के सदस्य के रूप में नामित करती है। इन सदस्यों को नगर परिषद की बैठकों व चर्चा परिचर्चा में भाग लेने का अधिकार तो होता है, लेकिन परिषद में किसी विषय पर मतदान की स्थिति में इनको मत देने का अधिकार नहीं होता है। नगर परिषद को विभिन्न राज्यों में अलग-अलग नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। जैसे- म्यूनिसिपल कमेटी, म्यूनिसिपल काउन्सिल, म्यूनिसिपल बोर्ड आदि।

नगर परिषद के सदस्यों का चुनाव जनसंख्या के आधार पर होता है। इसलिए अलग-अलग नगरपालिकाओं के परिषदों का आकार भी छोटा-बड़ा होता है। उत्तर प्रदेश में जिन नगरपालिकाओं की जनसंख्या पचास हजार से कम है, वहाँ 12 सदस्य, पचास हजार से अधिक तथा एक लाख से कम है तो 16 सदस्य, एक लाख से डेढ़ लाख तक 20 सदस्य, तथा डेढ़ लाख से दो लाख तक 28 सदस्य होते हैं। परिषद का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है, किन्तु राज्य सरकार नगर परिषद की अवधि समाप्त होने के पूर्व भी उसको विघटित कर उसके कार्यों को अपने हाथ में ले सकती है। नगर परिषद नगरपालिका का विधायी अंग होता है, जो नगरपालिका अधिनियम द्वारा निश्चित सीमाओं के भीतर नगर क्षेत्र के लिए उप-विधियों का निर्माण करती है।

2. **अध्यक्ष-** नगरपालिका का एक अध्यक्ष होता है जो नगरपालिका का प्रमुख होता है। अध्यक्ष का पद प्रतिष्ठा एवं सम्मान से परिपूर्ण होता है, इसलिए उसे नगर का प्रथम नागरिक भी कहा जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व नगरपालिका के अध्यक्ष पद पर प्रायः सरकारी अधिकारी पदासीन होते थे, लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह प्रथा समाप्त कर इस पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित व्यक्ति के आसीन होने की व्यवस्था कर दी गयी है। नगरपालिका अध्यक्षों के चुनाव में भी अलग-अलग राज्यों में असमानता पायी जाती है। उत्तर प्रदेश में अध्यक्ष का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा किया जाता है तो कई राज्यों में अध्यक्ष का चुनाव पार्षदों (परिषद के निर्वाचित सदस्यों) द्वारा अपने में से ही किया जाता है। नगरपालिका अध्यक्ष परिषद के बैठकों का सभापतित्व करता है। वह परिषद के विचार-विमर्श में व्यवस्था बनाये रखते

हुए उसका मार्गदर्शन भी करता है, क्योंकि वह सदन (परिषद) का नेता भी होता है। वह नगरपालिका के वित्तीय तथा प्रशासनिक कृत्यों पर निगरानी रखता है। जब कभी परिषद में किसी मुद्दे पर मतदान कि स्थिति में पक्ष व विपक्ष में समान मत में पड़े तो उसे निर्णायक मत देने का भी अधिकार होता है। उसे नगरपालिका के सभी अभिलेखों का निरीक्षण करने का अधिकार है और वह नगर प्रशासन से सम्बन्धित किसी भी विषय की जानकारी मांग सकता है। परिषद तथा सरकार के बीच बातचीत भी उसी के माध्यम से होती है।

नगरपालिका के अध्यक्ष को पार्षदों द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसके पद से मुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त निम्न कारणों से राज्य सरकार भी उसको पदमुक्त कर सकती है-

- यदि वह मतदाता की अर्हताएं पूरी न करता हो।
- यदि वह सदस्य के रूप में अपने दायित्वों का सतत निर्वहन न कर रहा हो।
- यदि वह अपना सामान्य निवास स्थान त्याग कर अन्यत्र कहीं जाकर बस जाता है।
- यदि वह अपने आर्थिक हित हेतु नगरपालिका के किसी कार्य को प्रभावित करता है।

3. नगरपालिका आयुक्त- नगरपालिका के कार्यकारी विभाग का प्रमुख आयुक्त होता है, जिसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों में से की जाती है। राज्य सरकार ही उसकी सेवा शर्तें तथा वेतन भी निश्चित करती है। इसका वेतन नगरपालिका कोष से दिया जाता है। आयुक्त को अनेक कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। वह समितियों तथा परिषद का सचिव होता है। वह परिषद तथा समितियों की बैठकों में भाग लेता है, भाषण देता है लेकिन उसे कोई प्रस्ताव रखने या मत देने का अधिकार नहीं होता है। वह नगरपालिका के विभिन्न प्रशासनिक विभागों को संगठित करता है तथा उनमें कार्यों का बंटवारा करता है। वह नगरपालिका कार्यालय का प्रमुख होता है, इसलिए समस्त अभिलेख उसके अधीन होते हैं। नगरपालिका के आय-व्यय का ब्यौरा तथा वार्षिक रिपोर्ट भी उसी के द्वारा तैयार की जाती है। उसके कार्यों में सहयोग देने के लिए राज्य सरकार अभियन्ता, सेनेटरी, इन्स्पेक्टर, चिकित्साधिकारी आदि की नियुक्ति करती है। जबकि कुछ कर्मचारियों की नियुक्ति अध्यक्ष या आयुक्त के द्वारा भी चयन समिति के माध्यम से की जा सकती है।

4. समितियां- नगरपालिका अधिनियमों में उसके कार्यों को कुशलतापूर्वक करने में सहयोग देने के लिए समितियों के निर्माण का प्रावधान होता है। ये समितियां प्रायः दो प्रकार की होती हैं- स्थायी समिति और अन्य समितियां। स्थायी समितियों का निर्माण नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत किया जाता है, जबकि अस्थायी या अन्य समितियों का निर्माण समय-समय पर परिषद द्वारा बनाये गये नियमों के आधार पर किया जाता है। नगरपालिका के कार्यों के सम्पादन में इन समितियों की प्रबल भूमिका होती है। समिति के सदस्य तथा अध्यक्ष प्रायः परिषद के सदस्य ही होते हैं, लेकिन किसी विशेष प्रकृति के कार्य को सम्पन्न करने के लिए राज्य सरकार दक्षता प्राप्त व ऐसे अनुभवी लोगों को भी समिति में रख सकती है, जो आवश्यक हों।

16.5 नगरपालिका के अधिकार एवं कार्य

नगरपालिका नगरीय स्थानीय स्वशासन की एक महत्वपूर्ण इकाई है। जिसके स्थापना का उद्देश्य उसके क्षेत्र विशेष में निवास करने वाले लोगों को मूलभूत सुविधाएं मुहैया कराना है। जिससे वे अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकें, इसलिए राज्य सरकार अधिनियम बनाकर नगरपालिकाओं की स्थापना करती है और उन्हें कुछ अधिकार व कार्य सौंपती है। यद्यपि ऐसे कार्यों की सूची अत्यन्त लम्बी होती है,

इसलिए नगरपालिका के कार्यों को अनिवार्य व ऐच्छिक दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। इसमें अनिवार्य कार्यों को करना, जहाँ उसके लिए आवश्यक एवं बाध्यकारी होता है, वहीं ऐच्छिक कार्यों को करना उसकी इच्छा और संसाधनों पर निर्भर करता है।

16.5.1 अनिवार्य कार्य

नगरपालिका के प्रमुख अनिवार्य कार्यों का विवेचन संक्षेप में निम्न प्रकार किया जा सकता है-

1. शुद्ध व स्वास्थ्यवर्द्धक जल की आपूर्ति सुनिश्चित करना।
2. सार्वजनिक चिकित्सालयों की स्थापना तथा अनुरक्षण।
3. प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना व देख रेख।
4. जन्म और मृत्यु का पंजीकरण।
5. गलियों का नाम करण तथा मकानों का नम्बर लगाना।
6. सार्वजनिक रास्तों, पुलों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों से अवरोधकों को हटाना।
7. सार्वजनिक स्वास्थ्य हेतु अस्पतालों की व्यवस्था करना।
8. प्रकाश व बिजली की व्यवस्था करना।
9. सार्वजनिक स्थानों, मार्गों व नालियों की साफ-सफाई की व्यवस्था।
10. शमशान गृहों, बूचड़खानों व कब्रिस्तानों की व्यवस्था।
11. सार्वजनिक शौचालयों का प्रबन्ध।
12. घृणित, क्षोभकर तथा आपत्तिजनक व्यापार व व्यवसाय पर प्रतिबन्ध लगाना।
13. आग बुझाने की व्यवस्था।
14. गरीबों व निसहायों के लिए आश्रय स्थल का निर्माण।
15. नगर के विकास को गति प्रदान करने हेतु कारगर व प्रभावी योजनाएं निर्मित करना।

16.5.2 ऐच्छिक कार्य

नगरपालिका के प्रमुख ऐच्छिक कार्य निम्नांकित हैं-

1. खतरनाक स्थानों या इमारतों को नियन्त्रण में लेना या ध्वस्त करना।
2. सड़कों के किनारे वृक्षारोपण करना।
3. सार्वजनिक पार्कों, बागों, पुस्तकालयों, संग्राहलयों, अनाथालयों व स्त्रियों हेतु उद्धार-गृहों का निर्माण व परिरक्षण।
4. सर्वेक्षण करना तथा विभिन्न क्षेत्रों का खाका तैयार करना।
5. सार्वजनिक स्वागत समारोहों, सार्वजनिक प्रदर्शनियों तथा सार्वजनिक मनोरंजन का प्रबन्ध करना।
6. नगरपालिका कर्मचारियों के कल्याण वृद्धि की व्यवस्था करना।
7. अवारा पशुओं के बन्दीकरण या समापन का प्रबन्ध करना।
8. हाटों व बाजारों के लगाने की व्यवस्था करना।
9. प्राथमिक शिक्षा के अतिरिक्त भी अन्य प्रकार के शिक्षा की व्यवस्था करना।
10. सार्वजनिक व सांस्कृतिक हित के दृष्टि से अन्य कार्य करना।

16.6 नगरपालिका के आय के साधन

नगरपालिका अपने कर्तव्यों का पालन ठीक तरीके से कर सके इसके लिए उसके पास वित्तीय साधनों का होना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए नगरपालिका अधिनियमों में ही इनके वित्तीय प्रबन्ध का उल्लेख स्पष्ट रूप से कर

दिया जाता है। इसके आय के प्रमुख स्रोतों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है- अनुदान, कर, गैर-कर स्रोत और लाभकारी व्यवसाय।

1. **अनुदान-** स्थानीय समस्याओं का समाधान भी स्थानीय स्तर पर कर दिया जाय। इस मान्यता ने निश्चित रूप से नगरपालिका जैसी स्थानीय स्वशासन की इकाई के दायित्व को बढ़ा दिया लेकिन दायित्व के अनुरूप नगरपालिका की आय नहीं बढ़ पायी है। इसलिए राज्य व केन्द्र सरकारों के द्वारा नगरपालिकाओं के वित्तीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अनुदान दिया जाता है। यह अनुदान इनकी आय का एक प्रमुख स्रोत होता है।
2. **कर-** नगरपालिका अपनी वित्तीय स्थिति सुदृढ़ करने के लिए अपने कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाले लोगों से अनेक तरह के कर वसूल करती है। ये कर नगरपालिका के आय के सबसे प्रमुख साधन होते हैं। नगरपालिका प्रमुख रूप से निम्नलिखित कर आरोपित करती है- सम्पत्ति कर, व्यवसाय पर कर, चुंगी कर, पशु व वाहन कर, जल कर, मनोरंजन कर, प्रकाश कर और शौचालय एवं जल निकासी कर।
3. **गैर-कर स्रोत-** गैर-कर स्रोतों में उन स्रोतों को शामिल किया जाता है जो कर से इतर नगरपालिका के आय के साधन होते हैं। इन स्रोतों में प्रमुख रूप से भवनों सम्बन्धित फीस, संचार साधनों से आय तथा घृणित व खतरनाक व्यवसाय के लिए लाइसेंस शुल्क आदि को शामिल किया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी के द्वारा नगरपालिका के प्रावधानों का उल्लंघन किया जाय तो वह उस पर जुर्माना लगा सकती है। नगरपालिका राज्य सरकार की अनुमति से अपने किसी कार्य को पूरा करने हेतु सरकार या सार्वजनिक क्षेत्र में ऋण भी ले सकती है।
4. **लाभकारी व्यवसाय-** नगरपालिका अतिरिक्त आय प्राप्त करने के उद्देश्य से लाभकारी व्यवसाय भी संचालित कर सकती है। व्यवसाय या उद्यम जो नगरपालिका द्वारा संचालित किये जाते हैं, उनमें- मूर्गीपालन, थियेटर, चलचित्र आदि व्यवसायिक संस्थान प्रमुख हैं।

16.7 नगरपालिका पर नियन्त्रण

संघीय क्षेत्र की नगरपालिकाओं का निर्माण संसद द्वारा निर्मित विशेष विधि तथा राज्यों में नगरपालिकाओं की स्थापना विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम से होता है, इसलिए संघ क्षेत्र के नगरपालिका पर केन्द्र सरकार तथा राज्यों के नगरपालिकाओं पर राज्य सरकार का नियन्त्रण होता है। जिस विधि द्वारा नगरपालिका की स्थापना की जाती है, उसी के द्वारा उस पर नियन्त्रण का भी प्रावधान कर दिया जाता है। सरकार नगरपालिका द्वारा किये जाने वाले कार्यों का निरीक्षण कर सकती है। आवश्यक होने पर नगरपालिका के क्रियाकलापों के जांच का आदेश दे सकती है। यदि नगरपालिका के द्वारा अपने कर्तव्यों का पालन सुचारु रूप से न किया जाय या अपने कार्यों के माध्यम से किसी को व्यक्तिगत लाभ पहुँचाने का प्रयास किया जाय तो सरकार नगरपालिका से उसका पक्ष पूछती है। यदि उसके बाद सरकार को यह आभास हो जाय कि नगरपालिका को विघटित करना आवश्यक है तो वह उसे भंग कर उसके दायित्वों का निर्वहन करने हेतु किसी को नियुक्त कर सकती है। सरकारें जो अनुदान नगरपालिकाओं को प्रदान करती हैं, उसके लिए कार्य भी उन्हीं के द्वारा निश्चित होता है। अर्थात् सरकार जिस कार्य के लिए अनुदान देती है नगरपालिका उसका उपयोग उसी कार्य हेतु कर सकती है। कुछ कार्यों को करने से पहले नगरपालिकाओं को राज्य सरकार से अनुमति भी लेनी पड़ती है। राज्य सरकार का अंकेक्षक (Auditor) नगरपालिका के हिसाब-किताब की जांच भी समय-समय पर करता रहता है। इसके अतिरिक्त नगरपालिका आयुक्त तथा अन्य महत्वपूर्ण प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति और पदच्युति का अधिकार भी सरकारों के पास होता है। ये अधिकारी तथा कर्मचारी अन्तिम रूप से अपने कार्यों के लिए सरकार के प्रति ही जबाबदेह होते हैं। नगरपालिकाओं पर सरकार के

नियन्त्रण को इंगित करते हुए श्री राजेश्वर ने कहा है कि “स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाएं स्वतन्त्र सम्प्रभु संस्थाएं नहीं हैं, बल्कि वे तो सरकार तथा न्यायिक संस्थाओं द्वारा नियन्त्रित होने वाली संस्थाएं हैं।”

अभ्यास प्रश्न-

1. प्राचीन पाटलिपुत्र नगर को वर्तमान में किस नाम से जाना जाता है?
2. मध्यकाल (मुस्लिमकाल) में नगर प्रशासन के अधिकारी को कहा जाता था?
3. सबसे पहले नगरपालिका अधिनियम 1842ई0 में किस राज्य के लिए पारित किया गया?
4. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सर्वप्रथम कब राज्यों का पुनर्गठन कब किया गया था?
5. उत्तर प्रदेश में नगरपालिका की स्थापना के लिए न्यूनतम जनसंख्या कितनी होनी चाहिए?
6. नगरपालिका का विधायी अंग किसे कहा जाता है?
7. नगरपालिका का कार्यकारी अधिकारी होता है।
8. नगरपालिका के कार्यों को कितने भागों में बांटा जा सकता है?

16.8 सारांश

नगरीय प्रशासन के क्षेत्र में नगरपालिकाओं का अस्तित्व भी प्राचीनतम है। मौर्यकाल में मेगस्थनीज की पुस्तक ‘इण्डिका’ में पाटलिपुत्र (पटना) का जो विस्तृत उल्लेख मिलता है, वह आधुनिक म्यूनिसिपल व्यवस्था से मिलता-जुलता है। मुस्लिम काल में भी नगर के अधिकारी के रूप में कोतवाल को दण्ड व्यवस्था, पुलिस व वित्तीय क्षेत्र में सर्वोच्चता प्रदान की गयी थी। लेकिन नगरपालिका के विकास की दिशा में ठोस पहल 1842 ई0 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में की गयी जबकि बंगाल के जनपदीय नगरों में नगरपालिकाओं की स्थापना के लिए नगरपालिका अधिनियम पारित किया गया। किन्तु जनता के व्यापक विरोध के कारण यह अधिनियम वापस ले लिया गया। 1850 ई0 में सम्पूर्ण ब्रिटिश इण्डिया के लिए नगरपालिका अधिनियम बनाया गया। जिसको ऐच्छिक रूप से किसी भी नगर में लागू किया जा सकता था। इसके अनुरूप उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा अन्य प्रदेशों के प्रमुख नगरों में नगरपालिकाओं की स्थापना की गयी। नगरीय शासन को सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से 1861ई0 में ‘टाउन इम्प्रूवमेंट एक्ट’ पारित किया गया। जिसके आलोक में 1861 ई0 में उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों, 1864 ई0 में बंगाल, 1865 ई0 में मद्रास तथा 1867 ई0 में पंजाब प्रान्त में नगरपालिका अधिनियम बनाये गये। 1870 ई0 में लार्ड मेयो ने अपने विकेन्द्रीकरण प्रस्ताव में भारतीयों की प्रशासनिक सहभागिता को बढ़ाने के लिए नगरीय शासन के इकाईयों के विकास पर जोर दिया। नगरीय शासन में नगरपालिकाओं को मजबूत स्थिति 1909 ई0 के राजकीय विकेन्द्रीकरण आयोग के संस्तुतियों द्वारा प्रदान करने का प्रयास किया गया।

1947ई0 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यद्यपि नगरीय शासन के प्रति उपेक्षात्मक रवैया देखने को मिलता है। 1956 ई0 में राज्यों के पुनर्गठन के बाद कई राज्यों ने नगरपालिका अधिनियमों का निर्माण किया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में नगरों की समस्याओं के समाधान के लिए साधन जुटाने पर बल दिया गया। नगरीय प्रशासन के दिशा में संवैधानिक प्रयास राजीव गांधी के प्रधानमन्त्रित्व काल में 65वें संविधान संसोधन के रूप में किया गया जो असफल सिद्ध हुआ। इससे सीख लेते हुए प्रधानमन्त्री पी0बी0 नरसिंह राव के शासन काल में 74वां संविधान संसोधन पारित किया गया। इस संसोधन विधेयक द्वारा नगरीय स्थानीय स्वशासन को संवैधानिकता प्रदान कर दी गयी है।

नगरपालिका नगरीय क्षेत्रों के लोगों को मूलभूत सुविधाएं मुहैया कराने वाली एक महत्वपूर्ण संस्था का रूप धारण कर चुकी है। वर्तमान में नगरीय जीवन को सरल व सुविधापूर्ण बनाने में इसकी भूमिका इस हद तक बढ़ गयी है कि यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि नगरपालिका के बिना उस क्षेत्र के लोगों का जीवन दुष्कर हो जायेगा, विकास अवरूद्ध हो जायेगा और व्यक्तित्व कुंठित हो जायेगा। नगरपालिका वर्तमान मूलभूत आवश्यकताओं

शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, बिजली, पानी आदि को सुलभ बनाती है। जिससे नगरीय क्षेत्र के निवासी तनावमुक्त होकर अपने विकास के लिए सतत प्रयास करते हुए प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं।

16.9 शब्दावली

प्रशासन- विधिक आधार पर जनता को शासित करने वाला तन्त्र, नागरिक- ऐसे लोग जिन्हें संविधान द्वारा राजनीतिक अधिकार प्रदान जाता है, जनपदीय- जनपद से सम्बन्धित, एक्ट- अधिनियम, म्यूनिसिपल- नगरपालिका, मैग्नाकार्टा- जनता के हित में लिया गया बड़ा प्रशासनिक निर्णय, संसाधन- जीवन को सुलभ बनाने के साधन, निर्वाचन- चुनाव, मताधिकार- मत देने का अधिकार

16.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. पटना, 2. कोतवाल, 3. केवल बंगाल के लिए, 4. 1956ई0 में, 5. 20 हजार, 6. नगर परिषद, 7. नगर पालिका आयुक्त, 8. दो भागों में, अनिवार्य कार्य व ऐच्छिक कार्य

16.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 बी0एल0 फाडिया, भारत में लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 1996
2. राधाकृष्ण चौधरी व अन्य, भारत में स्थानीय शासन, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिकेशन्स पटना, 1982
3. एम0पी0 त्यागी एवं आर0के0 रस्तोगी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन, मेरठ।
4. डॉ0 मीनाक्षी पवार, स्थानीय स्वायत्त शासन, निकुंज प्रकाशन बड़वानी, मध्य प्रदेश।
5. डॉ0 ए0पी0 अवस्थी, भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
6. प्रो0 एस0आर0 माहेश्वरी, भारत में स्थानीय स्वशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक, आगरा।

16.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राधाकृष्ण चौधरी व अन्य, भारत में स्थानीय शासन, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिकेशन्स पटना, 1982
2. एम0पी0 त्यागी एवं आर0के0 रस्तोगी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन, मेरठ।
3. डॉ0 मीनाक्षी पवार, स्थानीय स्वायत्त शासन, निकुंज प्रकाशन बड़वानी, मध्य प्रदेश।
4. डॉ0 ए0पी0 अवस्थी, भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
5. प्रो0 एस0आर0 माहेश्वरी, भारत में स्थानीय स्वशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक, आगरा, 1999

16.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वतन्त्रता पूर्व नगरपालिका के विकास पर एक लेख लिखें।
2. भारत में नगरपालिकाओं के गठन उनकी शक्तियों एवं उसके कार्यों का वर्णन करें।
3. नगरपालिका के आय के साधनों पर प्रकाश डालते हुए इस पर सरकारी नियन्त्रण का भी उल्लेख करें।

इकाई- 17 छावनी परिषद और औद्योगिक नगरियां

इकाई की संरचना

- 17.0 प्रस्तावना
- 17.1 उद्देश्य
- 17.2 छावनी परिषद
- 17.3 छावनी परिषद का संगठन
- 17.4 छावनी परिषद के कार्य एवं शक्तियां
 - 17.4.1 अनिवार्य कार्य
 - 17.4.2 ऐच्छिक कार्य
- 17.5 छावनी परिषद के आय के स्रोत
- 17.6 छावनी परिषद पर नियन्त्रण
- 17.7 छावनी परिषद की वर्तमान प्रासंगिकता
- 17.8 औद्योगिक नगरियां
- 17.9 औद्योगिक नगरियों की विशेषताएं
- 17.10 औद्योगिक नगरियों का संगठन
- 17.11 औद्योगिक नगरियों की वर्तमान स्थिति
- 17.12 सारांश
- 17.13 शब्दावली
- 17.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 17.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 17.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 17.17 निबंधात्मक प्रश्न

17.0 प्रस्तावना

छावनी शब्द का प्रयोग भारत की लोक भाषा में अस्थायी निवास स्थान के लिए किया जाता था। इसी परिप्रेक्ष्य में सैनिकों के सामरिक चालों हेतु प्रयुक्त अस्थायी आवास को छावनी शब्द से सम्बोधित किया जाता था, लेकिन विगत लगभग 150 वर्षों से इस शब्द का प्रयोग सैनिकों के स्थायी आवासीय क्षेत्र के लिए किया जाता है। छावनी क्षेत्र भारत में प्रायः महत्वपूर्ण शहरों के समीप बसे हैं। जब किसी क्षेत्र में सैनिक निवास करने लगते हैं, तो वहाँ बड़ी संख्या में असैनिक लोग भी बस जाते हैं। छावनी का जन्म सैनिकों के कारण ही हुआ, किन्तु उनकी असैनिक संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, इसलिए वहाँ के लोगो को नागरिक सुविधाएँ देने के उद्देश्य से नगरीय निकाय के रूप में छावनी परिषद की स्थापना की गयी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के अनेक भागों में सार्वजनिक उद्योग संस्थानों की स्थापना की गयी। इनकी लागत का लगभग ग्यारह प्रतिशत इस क्षेत्र में लोगों के निवास व सुविधाओं की स्थापना पर खर्च कर दिया जाता है। उद्योगों की स्थापना के कारण उस क्षेत्र विशेष में रोजगार व व्यापार के बढ़े अवसर ने लोगों को चुम्बक की तरह इस क्षेत्र में बसने के लिए आकृष्ट किया, जिसका स्वभाविक परिणाम आबादी बढ़ने के रूप में सामने आया। इससे नगरी के आसपास गन्दे मुहल्ले तथा अनियन्त्रित व अव्यवस्थित मकान बनने लगे, जिनको नियन्त्रित व व्यवस्थित करने के लिए औद्योगिक नगरियों नामक निकाय की स्थापना की गयी।

छावनी क्षेत्र तथा औद्योगिक एरिया के नागरिकों की मूलभूत सुविधाओं को विकसित करने के लिए छावनी क्षेत्र में छावनी परिषद तथा औद्योगिक क्षेत्र में औद्योगिक नगरियों नामक नगरीय निकाय की स्थापना की जाती है जो नगरपालिका की भाँति उस छोटे से क्षेत्र के विकास के दायित्व का निर्वहन करती है। ये संस्थाएं भी नगरीय स्वायत्त शासन के इकाईयों की ही लघु रूप होती हैं, जो अपने दायित्वों का लगभग स्वतन्त्र होकर निर्वहन करने का प्रयास करती हैं।

17.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- छावनी परिषद और औद्योगिक नगरियां क्या हैं, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- इनकी स्थापना का उद्देश्य के बारे में जान पायेंगे।
- इनका संगठन कैसे होता है, इस सम्बन्ध में जान पायेंगे।
- इनके आय के मुख्य स्रोतों के बारे में जान पायेंगे।
- इनका प्रमुख कार्य क्या हैं, इस बारे में जान पाओगे।

17.2 छावनी परिषद

भारत में शहरों के नजदीक जिस क्षेत्र में सैनिकों के निवास की व्यवस्था होती है वहाँ उनके साथ-साथ उनके दैनिक आवश्यकताओं में सहयोग करने वाले शिविर अनुचर, नौकर या जन-सामान्य भी बस जाते हैं। ऐसे क्षेत्र को सामान्य रूप से छावनी कहते हैं। इस क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों को कल्याणकारी और नागरिक सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए एक स्वतन्त्र निकाय की आवश्यकता महसूस की गयी, जिसे दृष्टिगत रखकर 1924 में छावनी अधिनियम पारित कर नगरीय निकाय के रूप में छावनी परिषद (Cantoment Board) की स्थापना की गयी, जो अन्य नगरीय निकायों की भाँति ही एक निगम निकाय है जिसे सम्पत्ति अर्जित करने, उसे धारण करने और संविदा में शामिल होने का अधिकार है। वह खुद 'वाद' ला सकती (मुकदमा चला सकती) है और उसके विरुद्ध भी 'वाद' लाया जा सकता है। छावनी परिषद अपने कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाले लोगों के स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने में सहयोग करती है। छावनियां वास्तव में वे केन्द्र शासित क्षेत्र हैं जो प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक नियन्त्रण में होती हैं। इस प्रकार यह स्थानीय शासन के उन निकायों से सर्वथा भिन्न होती हैं जो राज्य सरकार के अधीन हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद स्थानीय स्वशासन मन्त्रियों का एक सम्मेलन 1948 ई0 में नई दिल्ली में आयोजित किया गया। जिसमें केन्द्रीय सरकार से छावनी परिषद की सीमाओं का निर्धारण तथा छावनी अधिनियम 1924 में संशोधन हेतु सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त करने की प्रार्थना की गयी। इसलिए एस0के0 पाटिल की अध्यक्षता में केन्द्रीय छावनी समिति नियुक्त की गयी। समिति ने अन्य बातों के साथ-साथ इस प्रश्न पर भी विचार किया कि परिषद में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होने के साथ-साथ इसके अध्यक्ष का निर्वाचन भी प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचकों द्वारा किया जाय। समिति का मानना था कि "सैनिकों में सुरक्षा, अनुशासन और स्वास्थ्य का सन्तोषजनक होना सेना की कार्यकुशलता को बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। अतः छावनियों के प्रशासन को असैनिक बहुमत के हाथों में देने का जोखिम नहीं उठाया जा सकता है।" समिति की प्रमुख संस्तुतियों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

1. छावनियों के नगरीय प्रशासन का पहले से अधिक लोकतन्त्रीकरण करने के लिए वयस्क मताधिकार की व्यवस्था लागू की जाय।

2. छावनी परिषद नैमी तथा तत्कालिक प्रकार के कार्यों के सम्बन्ध में अपने अधिकारियों को शक्ति प्रदान करें।
3. छावनी परिषद की कार्यकुशलता में वृद्धि तथा संदिग्धता को दूर करने के लिए छावनी अधिनियम को संशोधित किया जाय।
4. छावनी परिषद के क्षेत्राधिकार से उस असैनिक क्षेत्र को निकाल दिया जाय जो सेना के आवश्यकता के दृष्टि से निरर्थक हो।

छावनी परिषद की व्यवस्थाओं के विरुद्ध बढ़ते जनमत को दृष्टिगत रखकर सन् 1953 में छावनी परिषद अधिनियम में संशोधन कर दिया गया। इस संशोधन के बाद भी छावनी प्रशासन का बुनियादी स्वरूप सैनिक प्रकार का ही बना रहा, लेकिन निर्वाचित तत्व को शक्तिशाली बनाने के लिए निम्नलिखित परिवर्तन कर दिये गये-

1. प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के छावनी परिषदों के निर्वाचित तथा नामित सदस्यों की संख्या बराबर कर दी गयी। इसके लिए यह निश्चित किया गया कि एक सरकारी सदस्य का स्थान रिक्त रहेगा, जबकि तृतीय श्रेणी के छावनी परिषदों में केवल एक सदस्य नामित तथा अन्य निर्वाचित होते हैं।
2. सीमा दीवारों एवं इमारतों पर नियन्त्रण रखने तथा लाइसेंस देने हेतु असैनिक क्षेत्र समिति की शक्ति को बढ़ा दिया गया। इस समिति में सभी निर्वाचित सदस्य शामिल होते हैं, जिसकी अध्यक्षता परिषद का उपाध्यक्ष करता है और उसे पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।
3. निर्धारण समिति में भी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत तथा परिषद के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता स्थापित होती है। भवन कर इसी द्वारा निर्धारित होता है।
4. परिषद का उपाध्यक्ष ही केन्द्र के समादेश क अधिकारी की अनुपस्थिति में छावनी परिषद के बैठकों की अध्यक्षता करता है।

17.3 छावनी परिषद का संगठन

सेना का मुख्य अधिकारी ही छावनी परिषद का प्रमुख होता है। इस रूप में छावनी क्षेत्र के स्थानीय विषयों के प्रबन्ध का दारोमदार उसी के ऊपर होता है। छावनी परिषद में दो तरह के सदस्य होते हैं, पहला- आधे सदस्यों का चुनाव उस क्षेत्र में निवास करने वाले नागरिकों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाता है और दूसरा- आधे सदस्य रक्षा मन्त्रालय या सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं।

इनमें निर्वाचित सदस्यों का कार्यकाल तो प्रायः तीन वर्ष होता है, जबकि पदेन या मनोनीत सदस्य तब तक सदस्य बने रहते हैं जब तक कि वे उस पद पर आसीन है, जिसके कारण उनको सदस्य नामित किया गया है। छावनी बोर्ड के संगठन की तीन श्रेणियां निश्चित की गयी हैं। जिनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

- प्रथम श्रेणी छावनी परिषद जिसकी असैनिक जनसंख्या एक हजार से अधिक है।
- द्वितीय श्रेणी जिनकी असैनिक जनसंख्या 25 सौ से अधिक और 10 हजार से कम है।
- तृतीय श्रेणी की छावनियां जिनकी असैनिक जनसंख्या 25 सौ से कम है।

नामित सदस्यों में प्रमुख रूप के निम्नांकित अधिकारी सम्मिलित होते हैं-

- केन्द्र का समादेशक अधिकारी (कमान्डिंग आफिसर) अध्यक्ष होता है, इसलिए परिषद में मतदान की स्थिति में पक्ष व विपक्ष में समान मत पड़ने पर उसे निर्णायक मत देने का अधिकार होता है।
- जिलाधीश द्वारा नामित एक प्रथम श्रेणी का दण्डाधीश(मजिस्ट्रेट)।
- छावनी का स्वास्थ्य अधिकारी।

- छावनी का कार्यकारी अभियन्ता।
- केन्द्र के समादेशक अधिकारी द्वारा नामित चार अन्य सैनिक अधिकारी।
- जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य।

17.4 छावनी परिषद के कार्य एवं शक्तियाँ

यद्यपि छावनी परिषद कार्यों की दृष्टि से नगरपालिका की सहराही प्रतीत होती है, किन्तु उसको नगरपालिका से इतर कुछ अतिरिक्त कार्य भी करने पड़ते हैं। छावनी क्षेत्र की सफाई एवं यौन दुराचार का कड़ाई से दमन करना इसका एक प्रमुख उत्तरदायित्व माना जाता है। अन्य नगरीय स्थानीय निकायों की भाँति छावनी परिषद के कार्य एवं शक्तियों को भी दो वर्गों में विभक्त किया गया है- अनिवार्य कार्य और ऐच्छिक कार्य।

17.4.1 अनिवार्य कार्य

छावनी परिषद के प्रमुख अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं-

1. शुद्ध एवं स्वच्छ जल की व्यवस्था।
2. धृणित एवं क्षोभकर व्यवसायों, उद्यमों एवं परिपाटियों का नियमन।
3. सार्वजनिक स्थानों, मार्गों तथा नालियों की सफाई का प्रबन्ध।
4. सार्वजनिक स्थानों व सड़कों पर प्रकाश की व्यवस्था।
5. जन स्वास्थ्य, सुरक्षा व सुविधा के लिए रास्तों एवं अन्य स्थानों से अवरोधकों एवं प्रक्षेपों का शमन करना।
6. प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करना।
7. चिकित्सालयों की स्थापना व टीकाकरण का प्रबन्ध करना।
8. सड़कों के किनारे व सार्वजनिक स्थानों पर वृक्षारोपण व उनकी देखरेख।
9. जन्म एवं मृत्यु का पंजीकरण।
10. खतरनाक भवनों एवं स्थानों को हटाना व सुरक्षित करना।
11. अग्निशमन का प्रबन्ध करना।
12. शमशान घाटों का अनुरक्षण एवं नियमन।
13. पुलों, पुलियों, मार्गों, काजी हाउसों, हाटों की व्यवस्था, निर्माण व अनुरक्षण।

17.4.2 ऐच्छिक कार्य

छावनी परिषद के प्रमुख ऐच्छिक कार्य निम्नलिखित हैं-

1. स्वास्थ्य के लिए अनुपयुक्त स्थानों को निवास योग्य बनाना।
2. सार्वजनिक स्थानों, तालाबों एवं कुओं का निर्माण।
3. सर्वेक्षण करना।
4. संक्रामक महामारियों के फैलने पर स्थानीय स्तर पर राहत कार्य करना।
5. बिजली का प्रबन्ध।
6. सार्वजनिक परिवहन की व्यवस्था करना।

17.5 छावनी परिषद के आय के स्रोत

छावनी परिषद के आय के प्रमुख स्रोतों को दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है- करों से आय और अन्य स्रोतों से आय।

1. **करों से आय-** छावनी परिषद भी सामान्य रूप से उन्हीं करों को लगाती है जो नगरपालिका द्वारा लगाये जाते हैं। जैसा कि छावनी परिषद अधिनियम 1924 में कहा गया है कि छावनी परिषद को केन्द्रीय सरकार के पूर्व अनुमति से ऐसा कोई भी कर लगाने का अधिकार होता है जो उस समय उस नगरपालिका के द्वारा लगाया जा रहा हो जिसमें छावनी परिषद अवस्थित है। इस प्रकार छावनी परिषद अपने क्षेत्रान्तर्गत भूमि कर, भवन कर, जलकर आदि वसूल करती है।
2. **अन्य स्रोतों से आय-** उपर्युक्त करों के अतिरिक्त छावनी परिषद के आय का एक प्रमुख स्रोत केन्द्रीय सरकार के रक्षा मन्त्रालय द्वारा उसे दिया जाने वाला अनुदान है। इसके अलावा वह व्यापार आदि तथा रक्षा पर लाइसेंस शुल्क भी वसूल करती है।

17.6 छावनी परिषद पर नियन्त्रण

छावनी परिषद का अध्यक्ष सेना का उच्च अधिकारी होता है तथा इसके आधा से ज्यादा सदस्य रक्षा मन्त्रालय द्वारा मनोनीत होते हैं। इसलिए छावनी बोर्डों पर भारत सरकार के रक्षा मन्त्रालय का सीधा नियन्त्रण होता है। जबकि राज्य सरकार से इनका किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं होता है। मनोनीत सदस्यों का बहुमत होने के कारण निर्वाचित सदस्यों का कोई महत्व नहीं रह जाता है, क्योंकि सैनिक अधिकारी जो इस बोर्ड के सदस्य होते हैं वे अपने बहुमत से किसी भी प्रस्ताव को मंजूर या नामंजूर कर सकते हैं। सैनिक अधिकारी पूर्ण रूप से रक्षा मन्त्रालय के अधीन या नियन्त्रण में होते हैं। इसलिए इनके द्वारा कार्य भी उसी रूप में किया जाता है जिस रूप में केन्द्रीय सरकार का रक्षा मन्त्रालय चाहता है। छावनी परिषद के आय का बड़ा भाग भी रक्षा मन्त्रालय से अनुदान के रूप में ही प्राप्त होता है, इसलिए उसको खर्च भी उसी के निर्देशों के अनुरूप किया जाता है। जिससे रक्षा मन्त्रालय का कठोर वित्तीय नियन्त्रण भी स्थापित हो जाता है।

17.7 छावनी परिषद की वर्तमान प्रासंगिकता

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छावनी परिषद न तो नगरीय शासन के स्वायत्त इकाई के रूप में कार्य कर पा रही है और न ही स्थानीय शासन के प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के प्रतिरूप रूप में। छावनी परिषद को स्वायत्तता प्राप्त हो इसके लिए इस पर रक्षा मन्त्रालय और सेना के प्रभुत्व को कम किया जाना चाहिए। वर्तमान युग प्रजातन्त्र का युग माना जाता है, क्योंकि दुनिया का हर देश आज या तो प्रजातन्त्र को अपना लिया है या इस दिशा में तेजी के साथ बढ़ रहा है। ऐसे में भारत जैसा देश, जिसके रंग-रंग में प्रजातन्त्र व प्रजातान्त्रिक भावना प्राचीन काल से रची-बसी है, ऐसे में एक गैर-प्रजातान्त्रिक निकाय के रूप में छावनी बोर्ड का अस्तित्व उचित नहीं कहा जा सकता, इसलिए इसको अस्वीकार कर देना चाहिए। इसीलिए सन् 1933 में स्थापित एस0के0 पाटिल समिति ने भी इसके स्वरूप में परिवर्तन की अनुशंसा करते हुए इसमें निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाने तथा सैनिक अधिकारियों के नियन्त्रण को कम करने की बात की थी। कभी-कभी यह कहते हुए इसके अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाया जाता है कि छावनी क्षेत्र प्रायः बड़े नगरों के समीप है। ऐसे में नगरों में नगर निगम या नगरपालिका और छावनी क्षेत्र में छावनी बोर्ड जैसी संस्था का होना अनावश्यक है। इस दृष्टि से यह प्रासंगिक होगा कि छावनी बोर्डों का विलय नगर निगम या नगरपालिका में कर दिया जाए। इस बात की सिफारिश करते हुए ग्रामीण नगरीय सम्बन्ध समिति ने भी कहा था कि “कैन्टोमेन्ट बोर्डों का एक पृथक संस्था के रूप में निरन्तर अस्तित्व एक असंगति है और वे आगे चलकर साथी नगरपालिका के ही अंग बना दिये जायेंगे।”

17.8 औद्योगिक नगरियां

सन् 1947 ई0 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति को अपनाया गया। इसलिए निजी उद्योगों के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्योगों की भी स्थापना की गयी। जिस क्षेत्र में सार्वजनिक

उद्योग संस्थान स्थापित किये गये वहाँ उनमें कार्य (नौकरी) करने वाले लोगों के लिए आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं यातायात आदि मूलभूत आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए नागरिक सुविधाओं का स्थापित किया जाना भी आवश्यक हो गया। परिणामस्वरूप देश के जिन हिस्सों में सार्वजनिक उद्योग संस्थान स्थापित किये गये, वहाँ नागरिक सुविधाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए औद्योगिक नगरियों की स्थापना की गयी। ये नगरियां प्रायः ग्रामीण क्षेत्र या विद्यमान नगरों के पड़ोस में स्थापित की जाती हैं। सार्वजनिक क्षेत्र उद्योगों के सम्पूर्ण लागत का लगभग ग्यारह प्रतिशत इन औद्योगिक नगरियों की स्थापना पर व्यय किया जाता है, क्योंकि उद्योगों की स्थापना ऐसे क्षेत्र में की जाती है जहाँ सस्ती भूमि, सस्ता कच्चा माल, सस्ते श्रमिक तथा नजदीक ही उत्पादित माल को बेचने के लिए बाजार उपलब्ध हो। ऐसे क्षेत्र प्रायः नागरिक सुविधा के दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े होते हैं। उद्योगों के स्थापना के साथ ही उस क्षेत्र में रोजगार के बढ़ते अवसर निश्चित रूप से चुम्बक की तरह लोगों को स्थायी या अस्थायी रूप से बसने के लिए आकृष्ट करते हैं फलस्वरूप उस क्षेत्र की आबादी तेजी से बढ़ती है। जिससे अनेक समस्याएं स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। इन समस्याओं में प्रमुख रूप से अनियोजित भवन निर्माण, सड़क, नाली, गन्दगी, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात होती है। इन समस्याओं को दृष्टिगत रखकर उद्योग प्रबन्धन के अन्तर्गत ही एक समिति का निर्माण किया जाता है। जिसमें उद्योग संस्थान के प्रमुख अधिकारी व कर्मचारी शामिल होते हैं। उद्योग संस्थान द्वारा उपलब्ध कराये गये धनराशि का उपयोग कर यह समिति उस क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों को सुनियोजित जीवन जीने की सुविधाएँ उपलब्ध कराती है।

17.9 औद्योगिक नगरियों की विशेषताएँ

औद्योगिक नगरियां अन्य नगरीय निकायों से अत्यधिक भिन्न होती हैं जिससे उनकी समस्याएं भी नगर निकायों से भिन्न होती हैं। इन विभिन्नताओं को ही औद्योगिक नगरियों की विशेषताओं के रूप में सम्बोधित किया जाता है। इनमें से प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. औद्योगिक नगरियां पूर्ण रूप से नियोजित एवं व्यवस्थित होती हैं, क्योंकि इनकी स्थापना औद्योगिक संस्थान की योजना के अनुरूप ही की जाती है।
2. इन नगरियों पर किया जाने वाला खर्च सार्वजनिक उद्योग संस्थानों के बजट का एक बड़ा हिस्सा होता है, इसलिए इनमें उपलब्ध नागरिक सुविधाएँ अन्य नगरीय निकायों से गुणात्मक दृष्टि से काफी ऊँचे स्तर की होती हैं। इनमें प्रमुख रूप से पानी, बिजली, सड़क, जल निकासी, चिकित्सा, शिक्षा, बाजार, क्लब, सामुदायिक केन्द्र, क्रीड़ा स्थल, पार्क, सभा-भवन आदि हैं।
3. औद्योगिक नगरियों के कार्यक्षेत्र में निवास करने वाले लोगों को उपलब्ध करायी जाने वाली सुविधाओं और सेवाओं का समस्त व्यय उद्योग संस्थान द्वारा वहन किया जाता है।
4. इन क्षेत्रों में उपलब्ध रोजगार व अन्य सेवाएं लोगों को तेजी के साथ आकृष्ट करती हैं, जिससे समीप के क्षेत्रों में अव्यवस्थित विकास को प्रोत्साहन मिलता है, इसलिए नागरिक सेवाओं और सुविधाओं के दृष्टि से उस सम्पूर्ण क्षेत्र को दृष्टिगत रखकर विकास योजनाएं निर्मित की जानी चाहिए।
5. सार्वजनिक उद्योग संस्थानों द्वारा स्थापित नगरियां निकटवर्ती क्षेत्रों के साथ अपने विलय का अनेक कारणों से विरोध करती हैं, क्योंकि उनको भय है कि इस प्रकार के विलय से उद्योग का वित्तीय और प्रशासनिक भार अत्यधिक बढ़ जायेगा। परियोजना से सम्बन्ध न रखने वाली जनता की भीड़ बढ़ जायेगी, जिससे औद्योगिक हित प्रभावित होगा और नगरपालिकाओं की राजनीति नगरियों के नागरिक प्रशासन पर भी छा जायेगी।

17.10 औद्योगिक नगरियों का संगठन

औद्योगिक नगरियों की स्थापना ग्रामीण क्षेत्रों में की जाती है या विद्यमान नगरों के समीपवर्ती क्षेत्रों में। ग्रामीण-नगरीय सम्बन्ध समिति ने औद्योगिक नगरियों को प्रमुख तौर पर तीन वर्गों में विभक्त किया है। जिनका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है-

- एकल औद्योगिक नगरियां। जैसे- राउरकेला, भिलाई और जमशेदपुर।
- ऐसी औद्योगिक नगरियां जहाँ एक साथ कई उद्योग स्थापित हो। जैसे- दुर्गापुर।
- छोटी औद्योगिक नगरियां। जैसे- भोपाल के निकट हैवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड(HEL), बंगलौर के निकट इण्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज तथा हिन्दुस्तान एरोनोटिक्स लिमिटेड (HAL)।

औद्योगिक नगरियों का शासन सार्वजनिक उद्योग संस्थान का ही सामान्य प्रशासनिक दायित्व समझा जाता है। इसके लिए इन संस्थानों द्वारा विस्तृत संगठन स्थापित किये जाते हैं। जिसमें नगर प्रशासक (कम्पनी द्वारा नियुक्त अधिकारी) और विभागीय अध्यक्ष आंक्टन, अनुरक्षण, उद्यान कार्य, प्रशासनिक अधिकारी, सम्पदा अधिकारी, इंजीनियर तथा अन्य कर्मचारी प्रमुख रूप से सम्मिलित होते हैं। इन औद्योगिक नगरियों में निर्वाचित तत्वों को प्रायः जानबूझकर शामिल नहीं किया जाता है। इस प्रकार इनका शासन पूर्णरूपेण अधिकारीतन्त्रात्मक (नौकरशाही किस्म का) होता है। औद्योगिक नगरियों के प्रशासनिक ढाँचे में लोकतन्त्र के अभाव को उचित ठहराने के लिए दो तरह के तर्क दिये जाते हैं- प्रथम, यदि इन नगरियों का नागरिक प्रशासन चुने हुए लोकतान्त्रिक निकायों को सौंप दिया जाय तो नागरिक सेवाओं और सुविधाओं के स्तर में गिरावट आ जायेगी साथ ही साथ इन पर राजनीतिक हस्तक्षेप भी बढ़ जायेगा। द्वितीय वर्तमान में ये नगरियां जो सेवाएं व सुविधाएं उपलब्ध करा रही हैं, वे अत्यन्त उच्चकोटि की है और इनसे सम्बन्धित जनता उससे पूर्णतः सन्तुष्ट है।

17.11 औद्योगिक नगरियों की वर्तमान स्थिति

वर्तमान लोकतान्त्रिक युग में भी औद्योगिक नगरियों का शासन अधिकारीतन्त्रीय बना हुआ है। जिसके कारण इसके औचित्य को लेकर ही प्रश्न-चिन्ह लगाया जाता है। इस सन्दर्भ में कहा जाता है कि भले ही औद्योगिक नगरियों द्वारा जुटायी गयी नागरिक सेवाएं और सुविधाएं उच्च कोटि की हैं और स्थानीय जनता उससे भलीभाँति सन्तुष्ट है, लेकिन सुशासन को कभी भी स्वशासन का विकल्प नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शासन में सहभागिता का होना ही जन सामान्य को मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। इस तर्क को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि औद्योगिक नगरियों के शासन में निर्वाचन की व्यवस्था राजनीतिक गुटबन्दी व विवाद को बढ़ावा देगी और इससे सार्वजनिक उद्योग संस्थान को क्षति या आघात पहुँचेगा, क्योंकि आज भी जिन बड़े नगरों व कस्बों में निर्वाचित स्थानीय शासन स्थापित है, वहाँ भी अनेक सार्वजनिक उद्योग स्थापित हो रहे हैं, किन्तु इन स्थानीय निकायों से उन्हें कोई नुकसान नहीं हो रहा है। औद्योगिक नगरियों के शासन में लोकतन्त्र नहीं होने के कारण जनता के प्रति उत्तरदायित्व के तत्व का अभाव दिखायी देता है। जबकि जनता के प्रति जवाबदेही का अभाव शासन व प्रशासन में निरंकुशता को बढ़ावा देता है, जिसके कारण शासन प्रशासन अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन समुचित व प्रासंगिक तरीके से नहीं कर पाता है।

सन् 1963ई० में स्थापित ग्रामीण नगरीय सम्बन्ध समिति औद्योगिक नगरियों के शासन व प्रशासन की व्यापक जांच करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँची कि अन्ततोगत्वा सार्वजनिक उद्योग संस्थानों की औद्योगिक नगरियों को जो वर्तमान में जागीरों के रूप में काम रही है, लोकतान्त्रिक व्यवस्था का अंग बनना पड़ेगा। इसलिए समिति ने सुझाव दिया कि इन नगरियों को विशेष नगरीय समितियों के रूप में संगठित कर दिया जाय। जिसमें उद्योग प्रमुखों के अलावा निर्वाचित लोगो को शामिल कर नागरिकों के लोक प्रतिनिधित्व की आकांक्षा को सन्तुष्ट किया जा

सके। इसमें आधे सदस्यों को जिनमें अध्यक्ष भी शामिल हो को उद्योग की सिफारिश पर राज्य सरकार नामित करे तो शेष आधे सदस्यों को औद्योगिक नगरी क्षेत्र में निवास करने वाली जनता प्रत्यक्ष रूप से चुने। समिति ने यह भी सिफारिश की कि जो औद्योगिक नगरियां बड़े नगरों और कस्बों के समीप स्थापित हैं, उनके आन्तरिक मामलों का प्रबन्ध जैसा कि प्रचलन में है कम्पनियों के हाथों में ही बना रहे। लेकिन नगर में उपलब्ध सुविधाओं जैसे- सड़कों, परिवहन, बाजारों, चिकित्सालयों, शिक्षा आदि जिनका लाभ कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा लिया जाता है, उनके रख-रखाव के लिए कम्पनी द्वारा समुचित अंशदान दिया जाना चाहिए। समिति के सुझावों को भी लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के अनुरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी सिफारिश में अध्यक्ष को सरकार द्वारा नामित करने की अनुशंसा की गयी थी। जबकि अध्यक्ष या सभापति का चुनाव किसी भी संस्था में लोकतान्त्रिक मूल्यों का प्रतीक तथा संरक्षक होता है। इसलिए जो भी निकाय लोकतान्त्रिक होने का दम्भ भरता है उसका अध्यक्ष या सभापति निश्चित रूप से जनता का प्रतिनिधि होना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न-

1. छावनी अधिनियम कब पारित किया गया था?
2. स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद स्थानीय स्वशासन मन्त्रियों का प्रथम सम्मेलन कब और कहाँ आयोजित किया गया था?
3. केन्द्रीय छावनी समिति का गठन किसकी अध्यक्षता में किया गया था?
4. छावनी परिषद अधिनियम में संशोधन कब किया गया था?
5. सार्वजनिक उद्योग संस्थान के कुल लागत का लगभग कितना प्रतिशत औद्योगिक नगरियों की स्थापना पर व्यय किया जाता है?
6. औद्योगिक नगरियां पूर्ण रूप सेहोती हैं।
7. औद्योगिक नगरियों को कितने वर्गों (श्रेणियों) में विभक्त किया जाता है?
8. ग्रामीण-नगरीय सम्बन्ध समिति की स्थापना कब की गयी थी?

17.12 सारांश

भारत में सैनिकों के सामरिक चालों हेतु प्रयुक्त स्थायी आवास को छावनी परिक्षेत्र कहा जाता है। ये प्रायः महत्वपूर्ण शहरों के समीप बसा होता है। जहाँ सैनिकों के साथ-साथ बड़ी संख्या में असैनिक लोग भी बसे होते हैं। इस क्षेत्र में निवास करने वाले सैनिक तथा असैनिक लोगों को नागरिक सुविधाएं उपलब्ध कराने वाले नगरीय निकाय के रूप में छावनी परिषद की स्थापना की गयी होती है। ये छावनियां पूर्णरूपेण केन्द्र शासित क्षेत्र होती हैं और इस पर भारत सरकार के रक्षा मन्त्रालय का प्रशासनिक नियन्त्रण होता है, इसलिए राज्य सरकार से इनका कोई सम्पर्क नहीं होता है। इसमें प्रतिनिधित्व के तत्व को समाहित करने के लिए एस0के0 पाटिल की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी। जिसने इसे लोकतान्त्रिक बनाने के लिए आधे सदस्यों के निर्वाचन की अनुशंसा की। यह परिषद ही छावनी क्षेत्र में निवास करने वाले समस्त सैनिक तथा असैनिक समुदाय के समस्त नागरिक सुविधाएं उपलब्ध कराती है जो नगरपालिका क्षेत्र में नगरपालिका के द्वारा उपलब्ध करायी जाती है। इसका अध्यक्ष सेना का उच्च अधिकारी होता है तथा इसके आधे से ज्यादा सदस्य रक्षा मन्त्रालय द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। इनको आय भी केन्द्र सरकार व रक्षा मन्त्रालय द्वारा दिये जाने वाले अनुदान के रूप में प्राप्त होती है। जिन क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्योग संस्थान स्थापित किये जाते हैं, वे प्रायः ग्रामीण या नगरों के समीपवर्ती होते हैं। इसमें उद्योग संस्थान के कर्मचारी तथा अनेक गैर-कर्मचारी भी निवास करते हैं। इन क्षेत्रों में मूलभूत नागरिक सुविधाओं की स्थापना के लिए औद्योगिक नगरियों की स्थापना के साथ-साथ कुल औद्योगिक बजट का लगभग ग्यारह प्रतिशत खर्च भी किया जाता है। औद्योगिक नगरियों का शासन सार्वजनिक उद्योग संस्थान का ही सामान्य प्रशासनिक दायित्व

माना जाता है। औद्योगिक नगरियों के प्रशासन के लिए सार्वजनिक उद्योग संस्थान के द्वारा नगर प्रशासक नियुक्त किया जाता है तथा उसका सहयोग करने के लिए संस्थान के विभिन्न विभागों के प्रमुखों, अभियन्ताओं व कुछ महत्वपूर्ण कर्मचारियों की एक समिति गठित कर दी जाती है। इसलिए इसका प्रशासन अधिकारीतन्त्रीय स्वरूप का अर्थात् लोकतन्त्र के प्रतिकूल माना जाता है।

17.13 शब्दावली

छावनी- सैनिकों के रहने का स्थायी स्थल, परिषद- उद्देश्य विशेष के लिए गठित विशेषज्ञों की समिति, उद्योग- मानव जीवन को सरल बनाने के लिए यन्त्रों अथवा संसाधनों की उत्पादक इकाईयां, संस्थान- राजनैतिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए गठित संस्थान, लोकतन्त्रीकरण- शक्ति का विकेन्द्रीकरण, संशोधन- समयानुकूल परिवर्तन, नामित सदस्य- ऐसे सदस्य जो अपनी विशेषज्ञता या किसी पद विशेष पर आसीन होने के कारण सरकारों या उच्च संवैधानिक संस्थाओं द्वारा नियुक्त किये जाय, दुराचार- आचार संहिता के विपरीत आचरण, ऐच्छिक कार्य- ऐसे कार्य जिनको करना इच्छा पर निर्भर हो, अनिवार्य कार्य- ऐसे कार्य जिनको करना अति आवश्यक हो, संक्रामक- शीघ्रता पूर्वक प्रभावित करने वाली व्यवस्था या परिस्थिति, महामारी- ऐसी बीमारी जो मानवीय समुदाय का बड़े पैमाने पर विनाश करें

17.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1924 ई० में, 2. सन् 1948 ई० में नयी दिल्ली में, 3. एस०के पाटिल, 4. 1953 ई०, 5. लगभग ग्यारह प्रतिशत, 6. नियोजित व व्यवस्थित, 7. तीन, 8. सन् 1963 ई० में

17.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. एस० आर० माहेश्वरी, भारत में स्थानीय स्वशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. एम०पी० त्यागी एवं आर०के० त्यागी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन, मेरठ।
3. अमरेश्वर अवस्थी एवं आनन्द प्रकाश अवस्थी (अवस्थी एवं अवस्थी) भारत में लोक प्रशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

17.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. एस० आर० माहेश्वरी, भारत में स्थानीय स्वशासन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
2. एम०पी० त्यागी एवं आर०के० त्यागी, स्थानीय स्वशासन, संजीव प्रकाशन, मेरठ।

17.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. छावनी परिषद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
2. छावनी परिषद के संगठन, कार्य एवं शक्तियों का संक्षिप्त उल्लेख करें।
3. 'छावनी परिषद व औद्योगिक नगरियां अप्रजातान्त्रिक संस्थाएं हैं' इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।
4. औद्योगिक नगरियों पर एक निबन्ध लिखिए।